ग्यारह सपनों का देश

सहयोगी लेखक

धर्मवीर भारती
उदयशंकर भट्ट
रांगेय राघव
अमृतलाल नागर
इलाचन्द्र जोशी
राजेन्द्र यादव
मुद्राराक्षस
लक्ष्मीचन्द्र जैन
प्रभाकर माचवे
कृष्णा सोबती



सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्यारह सपनोंका देश

सहयोगी उपन्यास
और
सृजनकी समस्याएँ

●

लेखक

धर्मवीर भारती
उदयशंकर भट्ट
रांगेय राघव
अमृतलाल नागर
इलाचन्द्र जोशी
राजेन्द्र यादव
मुद्राराक्षस
लक्ष्मीचन्द्र जैन
प्रभाकर माचवे
कृष्णा सोबती

●

सम्पादक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण
१९६० ई०
मूल्य चार रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

विषय-क्रम

खण्ड २ सृजनकी समस्याएँ

सपनोंकी सृष्टि

'ग्यारह सपनोंका देश' ऐसा उपन्यास है जो कथानककी दृष्टिसे भी रोचक है, और प्रयोगकी दृष्टिसे भी। दस लेखकोंने ज्ञानोदयमें धारावाहिक रूपसे ग्यारह अध्याय लिखकर हिन्दीके इस पहले सफल सहयो गी उपन्यास का सृजन किया, यह तथ्य तो महत्त्वपूर्ण है ही ; विशेष महत्ता इस बातकी है कि इनमेंसे अधिकांश लेखकोंने उपन्यासके अपने-अपने अध्यायकी सृजन-प्रक्रिया और उपन्यासके सृजनकी समस्याओंपर प्रकाश डाला है। उनके वक्तव्य इस उपन्यासके साथ जा रहे हैं।

सहयोगी उपन्यासके लिए अध्याय लिखना एक प्रकारकी समस्याओंसे जूझना है, उपन्यासके लिए लेखक-बन्धुओंसे अध्याय लिखवाना दूसरे प्रकार की। मेरा वास्ता दोनों प्रकारकी समस्याओंसे पड़ा है, इसलिए मुझे इस सम्बन्धमें कुछ विशेष कहना है।

हिन्दीके लिए सहयोगी उपन्यासकी कल्पना नयी नहीं थी, क्योंकि 'प्रतीक'में प्रकाशित 'बारह खम्भा'का प्रयोग सामने था। वह प्रयोग इस दृष्टिसे असफल रहा कि उपन्यास पूरा नहीं हो पाया था। यह बात भी सामने थी। तो क्या 'ज्ञानोदय' प्रारम्भमें ही हताश हो जाये? संयोगकी बात, जिन दिनों इस योजनाके अनेक पहलुओंपर विचार चल रहा था, हिन्दीके एक प्रसिद्ध और सफल लेखक कार्यालयमें पधारे। बात तय हो गयी कि 'ज्ञानोदय' सहयोगी उपन्यास, 'ग्यारह सपनोंका देश'की घोषणा कर दे; निश्चिन्त रहे; पहला अध्याय वह स्वयं लिखेंगे और ऐसी भूमिका देंगे कि अन्य सहयोगी लेखक लिखनेके लिए विवश हो जायें। घोषणा कर दी गयी। प्रेसमें मैटर देनेका समय जब निकट आ पहुँचा तो चिट्ठी गयी, तार गया, तार गये, आया कुछ नहीं—न अध्याय, न उत्तर। जरूर उन बन्धुकी

कुछ ऐसी ही मजबूरी रही होगी। किन्तु, 'ज्ञानोदय' अपने पाठकोंके आगे क्या कैफ़ियत पेश करे ? इस तरह सहयोगी उपन्यासकी पहली समस्या—लेखकके अनिश्चयकी घाटियाँ—सम्पादकका सरदर्द बन गयी। वह तो धर्मवीर भारती आड़े वक़्तपर काम आ गये। जिस संकटपूर्ण स्थितिमें, जितनी शीघ्रता और सफलताके साथ अपना अध्याय उन्होंने भेजा, वह अपने आपमें एक मार्मिक संस्मरण है—नहीं तो हमें उपन्यासका आरम्भ स्थगित करना पड़ता या शायद संकल्प ही छोड़ देना पड़ता।

उपन्यासके नियोजनमें इस तरहकी और भी कठिनाइयाँ सामने आयीं। एक स्थितिमें प्रभाकर माचवेने सहारा दिया, दूसरीमें कृष्णा सोबतीने और तीसरी स्थितिमें जब और कुछ सम्भव न हुआ, तो अध्याय मुझे लिखना पड़ा था। मूल योजनामें मेरा नाम नहीं था। प्रत्येक स्थितिने, प्रत्येक लेखकने उपन्यासको नया मोड़ दिया और बहुत कुछ अकल्पित सामने आया। भारतीने कब सोचा था कि मीनल गर्भवती होकर इस प्रकारके त्रास सहेगी और यह एक स्थिति सारे उपन्यासको नये आयामोंमें, नये परिप्रेक्ष्यमें, ला पटकेगी (भले-बुरेकी बात मैं नहीं कहता)! माचवेका अध्याय हाथमें आया तो हमलोगोंमें—ज्ञानोदयके सहयोगियोंमें—एक सनसनी-सी फैल गयी क्योंकि प्रारम्भका ही वाक्य था—"और मीनल गर्भवती हो गयी"। आगे पढ़नेकी हिम्मत न हुई। यह कल्पना लगभग उसी श्रेणीकी लगी जिसमें 'बारह खम्भा'के पात्रोंको ट्रकमें बैठाकर नदीमें डुबा देनेकी बात सोची गयी थी। आज तटस्थ दृष्टिसे सोचनेपर लगता है कि यदि 'बारह खम्भा'के पात्र सचमुच उस तरह नेस्तनाबूद हो जाते तो इसे मात्र मनोरंजक शरारत मानकर बातको आयी-गयी कर दिया गया होता। पर, 'ग्यारह सपनोंका देश'की मीनल कुछ इस तरह अवतरित हुई थी, उसका चरित्र कुछ इस तरह विकसित हुआ था और उसकी संवेदनाओंके चित्रणमें प्रत्येक लेखकका कुछ अपना इतना आत्मीय आ गया था कि इस भावुक और हठीली युवतीके आत्म-सम्मानको इस स्तरके आत्म-दाहकी परिणतिमें लाना बहुसंख्यक पाठकोंको और उपन्यासके

अनेक सहयोगियोंको नहीं रुचा, इससे उन्हें धक्का लगा। हममें ऐसे भी थे जिन्हें यद्यपि माचवेके प्रारम्भिक वाक्यने क्षुब्ध किया किन्तु बादमें सारा अध्याय पढ़नेपर वे उस प्रकारकी कल्पनाके प्रति विद्रोही न रह पाये। वास्तवमें स्वतन्त्र वैयक्तिक ढंगसे लिखे गये और सहयोगी आधारपर लिखे गये उपन्यासमें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि जहाँ एकाकी लेखक समूची कथावस्तु और सारे पात्रोंके क्रिया-कलापोंमें ऐसी संगतियोंका सायास निर्वाह करता है जो कथाके उद्देश्य, कथ्यके प्रभाव और रचनाके धरातलके अनुकूल रहें, वहाँ सहयोगी उपन्यासके लेखक अपनेसे पहलेकी भूमिकाके प्रति तो सचेष्ट रहते हैं, कथाके भविष्यके प्रति उनकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं रहती। चूँकि कथाका वर्तमान उनके हाथमें है और जो कुछ उन्हें कहना है उसके लिए मात्र वही अवसर उनके पास है, इसलिए वे पात्रके नैसर्गिक और सहज विकासको प्रमुखता न देकर, समग्रताके प्रति उदासीन होकर, केवल अपने विचारोंको, अपने कथ्यको, और समस्याओंके तारतम्यके प्रति अपने दृष्टि-कोणको उपस्थित कर देते हैं। सृजनकी समस्याओंके सम्बन्धमें सहयोगियोंके जो वक्तव्य यहाँ प्रकाशित हो रहे हैं उनसे एक बात स्पष्ट है कि जहाँ एक लेखक दूसरे लेखकके अमुक अध्यायको, या अमुक स्थितिको ग़लत या असफल समझता है वहाँ वह लेखक स्वयं अपने अध्यायको अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण, युक्तियुक्त और सफल समझता है। उनके इस आग्रहमें सचाई नहीं है, ऐसा मानना उनकी ईमानदारीमें सन्देह करना होगा। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि अपनी-अपनी दृष्टिसे सभी ठीक हैं—आलोचक भी और लेखक भी, जब कि सहयोगियोंमें सभी कोई आलोचक भी हैं और लेखक भी।

सबसे पहले माचवेजीकी बात लें। उपन्यासके नाज़ुक और "शौकिंग" मर्म-स्थलके सर्जक या 'सर्जन' वही हैं। वह लिखते हैं :

"'पहले ही वाक्यमें मैंने पाठकोंका स्वप्न भंग किया और कहा कि समस्याको सीधे मुँह पकड़ो।—वह यह कि एक स्त्री है, निराधार है,

गर्भवती है। उसके दु:खकी कारण-सरणिका अन्वेषण व्यर्थ है; मुख्य प्रश्न उसके दु:खको दूर करनेका है। लोग चाहते थे हलके-हलके रंगोंमें कुहरिल रोमैंटिक वातावरण बना ही रहता तो क्या बिगड़ता''''कोई ऐसा क्षण ही न आता जिसे अस्तित्ववादी परिभाषामें 'एंगाजे' कहते हैं। मैं वह क्षण लाना चाहता था, स्थानाभाव था; मैंने उसे पोस्टर शैलीमें, बहुत शौकिंग ढङ्गसे प्रस्तुत किया।"

राजेन्द्र यादवका दावा है कि सबसे सही और परिमाणत: 'सबसे सफल सपना' उन्हींका था, यद्यपि, उनके विचारसे सबने मिल-मिलाकर उपन्यास को लक्ष्य-च्युत कर दिया। "मीनलको मैंने (राजेन्द्र यादव) मध्यवर्गीय, शिक्षित, अविवाहिता, कुण्ठाग्रस्त नारीके रूपमें लिया।''''कुण्ठिता नारी क्या है—इसे मैंने दिखाया 'खुले पंख, टूटे डैने' में।"

रांगेय राघवका कहना है कि भारतीकी दी हुई मूल वृत्तिको, उन्होंने न केवल युगके साथ उभारा बल्कि सामाजिक पहलूमें उसका विभिन्न व्यक्तित्वोंमें प्रकटीकरण करके "हिन्दी-साहित्यको नयी चीज़ दी"—वह था रोहित !

मुद्राराक्षसकी मान्यता है कि उपन्यासको ठीक राहपर ले आनेका श्रेय उनका है क्योंकि राजेन्द्र यादवने रोहितकी मृत्युकी कल्पना करके और सद्य:वियुक्ता प्रेमिका मीनलको विपिनके साथ अभिसारका अवसर देकर उपन्यासको ग़लत सपनोंके रथपर चढ़ा दिया था। प्रेम-व्यापारके दो न्युक्लिअसों (मीनल-रोहित; मीनल-विपिन) को तोड़ना जरूरी हो गया; इसीलिए रोहितको जिलाना पड़ा और इसे जिलानेके लिए डाकू चेतसिंहकी घटनाकी कल्पना की गयी। यदि यह सब न किया जाता तो उपन्यास अपनी प्रयोग-परीक्षणकी भूमिको छोड़कर मात्र कथा-पूर्त्तिकी ओर अग्रसर हो जाता।

प्रश्न यह है कि यदि प्रत्येक अंश अपने आपमें महत्त्वपूर्ण और सफल है (जैसा कि हर लेखकका दावा है और उस दावेमें काफ़ी दम है), और यदि

प्रत्येक लेखकने उपन्यासकी अपनेसे पूर्वकी भूमिकाको झुठलाया नहीं है, निभाया है, तो फिर समूचा उपन्यास सफल क्यों न माना जाये ? शायद हुआ यह है कि प्रत्येक सहयोगी लेखक अपने-अपने दावे और दृष्टिकोणका विशेषज्ञ होनेके कारण और दूसरे लेखकको अपनी विचार-सरणि और अपने दृष्टिकोणसे भिन्न पाकर, अंशतः ही सही, असहिष्णु हो गया है; और सृजन की समस्याओंसे सम्बन्धित इन वक्तव्योंको पढ़नेवाला पाठक चकित है कि इतना उग्र मत-भेद क्यों ? फिर भी, यह बात ठीक है कि 'ग्यारह सपनोंका देश'का प्रत्येक अध्याय अपने आपमें रोचक या विचारोत्तेजक या विक्षोभक है और बहुसंख्यक पाठकोंने उपन्यासको और वक्तव्योंको रुचिसे पढ़ा है । मैं अपनी बात कहता हूँ, समूचा उपन्यास पढ़नेपर अब मुझे नहीं लगता कि उपन्यास बेतुका है या असफल है या 'बोरिंग' है, या सभी दृष्टियोंका समाहार नहीं हो रहा है । कहीं-कहीं 'इम्बैलेंस' और असन्तुलन जरूर है । वह होना भी था, जबकि लेखकोंके सामने कोई पूर्व-निश्चित कथानक नहीं था, दिशा नहीं थी । यही उपन्यासकी विशेषता थी और यही लेखकोंके अपने-अपने परीक्षणों और अभिव्यक्तिकी खुली क्षमताओंके प्रयोगोंका अवसर भी । दृष्टिकोणकी इस प्राथमिकताके सन्दर्भमें उपन्यास अवश्य सफल हुआ है । पाठकोंको पढ़नेमें रस आया, यह आनुषंगिक फल 'ज्ञानोदय' की प्रमुख उपलब्धि रही ।

लेखकोंने अपने-अपने वक्तव्य यथा-स्थान दिये हैं । अपने अध्यायके सम्बन्धमें मैं यहाँ ही लगे हाथ कुछ कह दूँ । कहने लायक़ कोई बहुत बड़ी बात या बड़ा दावा नहीं है । अपने अध्यायकी कल्पना मुझे जिस दृष्टिकोणसे करनी पड़ी उसका सम्बन्ध उपन्यासके 'मिकैनिज्म'—(यान्त्रिक गठन) से है । उपन्यासके पाँचवें अध्याय—'जीवनकी खोज'—में इलाचन्द्र जोशी दो नये पात्र ले आये, श्यामली और उसका उच्छृङ्खल प्रेमी, एक शिकारी । जोशीजीने उस व्यक्तिको नाम तक नहीं दिया । मुझे लगता है कि जोशीजी इन पात्रोंको दो दृष्टियोंसे लाये—एक तो इसलिए कि भटके हुए हरीन्द्रको

'जीवनकी खोज'में नियुक्त करना उन्हें वांछनीय लगा। जोशीजीकी दृष्टिमें और फ्रायडसे प्रभावित युगके सभी मनोवैज्ञानिकोंकी दृष्टिमें जीवनकी खोज सेक्सकी खोज है। हरीन्द्र रोमांस कहाँ खोजे ? मीनल कुन्तल आदिके घेरे-से तो वह निकलकर भागा ही था। इसलिए श्यामलीको जोशीजीने खड़ा किया। रोमांसका व्यापार यदि कोई 'कौम्प्लेक्स' पैदा न करे, कोई गाँठ न कसे, किन्हीं वर्जनाओं और कुण्ठाओंको न उभारे तो वह 'आधुनिक' और युक्ति-संगत नहीं बन पाता। इसलिए जोशीजीने दिखाया कि श्यामली जितने ही सरल किन्तु उद्दाम भावसे अपने प्रेमीके प्रति समर्पित होती चली जा रही है, भूखा हरीन्द्र उतना ही अन्दरसे बुभुक्षु होता चला जाता है। एक दिन भोली किन्तु निडर श्यामली अपने रँगीले प्रेमीके साथ भाग जाती है। स्वामीजी—हरीन्द्र भी—अपना आसन वहाँसे उच्छेद कर देते हैं। पहाड़ों-का वातावरण, वहाँके गीत, वहाँका तारुण्य, वहाँका जादू जोशीजीकी प्रिय भूमिकाएँ हैं, इसलिए उन्होंने बड़े सुन्दर, सजीव और अनुभूत वातावरणमें रोमांटिक चित्र अंकित किये। अब तमाशा यह कि आगे जिन दो लेखकोंने अपने अध्याय लिखे—राजेन्द्र यादव और मुद्राराक्षसने—वे श्यामली और उसके प्रेमीको भूल गये; या शायद उनकी समझ हीमें न आया कि उपन्यासके प्रधान पात्रोंकी व्यग्र और भावाकुल स्थितिमें इन पार्श्व-पात्रोंको कहाँ खपायें। मेरे सामने समस्या यह थी कि अपना आठवाँ अध्याय लिखते हुए भी यदि इन दो पात्रोंको अब नहीं उठाता हूँ तो फिर आगेके बचे तीन अध्यायोंमें इन्हें कोई नहीं छुएगा और जो हाल मिसेज़ वर्मा और विपिनका हुआ वह इनका भी होगा। इन्हें उठाकर मूलपात्रोंके साथ जोड़ना, एक और कठिन समस्या थी क्योंकि सात अध्यायों तक उपन्यास परीक्षण और प्रयोगोंकी भूमियाँ पार करता चला जा रहा था—कहीं 'अनिश्चयकी घाटियाँ' थीं, कहीं 'न मिली मृत्यु और पक्षीकी बेचैनी' थी, कहीं 'गुहा मानव चला गया' था, कहीं 'राहों-का बिखराव' था, कहीं 'जीवनकी खोज'—यात्रा थी, कहीं 'खुले पंख, टूटे डैने' थे और कहीं समूचा ही उपन्यास 'ग़लत सपनोंके रथ' पर उड़ा

ला जा रहा था। इतना आकुल-व्याकुल जीवन-व्यापार दिग्दिगन्तमें फैला-सरा चल रहा था कि ठहराव, चैन और विश्रामकी कल्पना ही दुःस्वप्न लगने लगी थी। फिर भी मैंने साहस किया और 'सिमटती मंज़िलें' सार्थक बनानेके लिए मीनल और श्यामलीको एक जगह लाया। बड़ी मुश्किल थी। कहाँ पहाड़की अपढ़, मुग्ध श्यामली, कहाँ यह शिक्षिता, आधुनिका, समस्या-ग्रस्त मीनल। और फिर, यह निहायत ही ऊत, ऊल-जलूल छैला हरजस (यह नाम मुझे देना पड़ा, ऐसा भला-सा नाम मैंने कैसे दिया?)—इसका क्या करूँ? मीनलके साथ इसकी क्या तुक? ख़ैर, मैंने जो किया, जैसा किया, पाठकोंके सामने है।

खण्ड-खण्ड अध्यायोंके पाठक (और लेखक भी, एक-दूसरेकी) समस्याओंको क्या पूरी तरह समझ पाते हैं? मैंने ही यादव, रांगेय राघव, माचवे और मुद्राराक्षसको पूरी तरह तब समझा जब उनके वक्तव्य पढ़ लिये। मीनल, श्यामली, हरजस जब एक जगह आ गये—वह रेल-यात्रामें ही आसानीसे एक जगह आ सकते थे—फिर जो कुछ घटा, वह परिस्थितियों को देखते हुए, पात्रोंके आन्तरिक गठन और उनके संस्कारोंको देखते हुए, कथाके प्रवाह और मंजिलकी ओर बढ़ते हुए कथानककी आवश्यकताओंको देखते हुए सहज भावसे घटा है, या वह सहज भावसे घटित होता जाये यह प्रयत्न किया है। घटनाएँ कुछ और भी रूप ले सकती थीं, किन्तु मैं नहीं चाहता था कि मीनल अधिक भटके और श्यामली बम्बईके आवारा हल्के के लोगोंके षड्यन्त्रोंका शिकार बने। इन दोनों पात्रोंमें अपने चरित्रकी एक विशेष दृढ़ता, एक विशेष निर्मलता थी जिसे मैं पराजित नहीं देखना चाहता था। बम्बईकी झाँकियाँ दिखाकर भी, उनसे इन पात्रोंको असम्पृक्त रख सका, केवल इसलिए कि ये बड़े अच्छे पात्र मुझे मिले थे। किन्तु, असम्प्रक्ति अपने आपमें कोई उपादेय तत्त्व नहीं है, यह सबक़ मुझे माचवे जीने सिखाना चाहा। यदि कृष्णा सोबती और भारती अन्तिम अध्यायोंको

न सम्भालते तो यह सबक़ कितना मँहगा पड़ता, इसे मैं समझता हूँ। करता हूँ सहयोगी लेखक और पाठक भी समझेंगे।

उपन्यासका पहला अध्याय पेश करते हुए भारतीने भूमिका रू॰ लिखा था :

"राष्ट्रके नवनिर्माणकी समस्या आज ज्वलन्त समस्या है। लेखकके लिए नवनिर्माणका अर्थ अन्ततोगत्वा देशकी चेतनाके निर्माणका है।....इस अध्यायमें समस्या और स्थितियोंकी ओर संकेत देकर ही छोड़ दिया है कि अन्य सहयोगियोंके लिए अपना कहने और मेरे कहेको संशोधित करनेका पूरा स्कोप रहे।"

आप इसे क्या कहेंगे कि उपन्यास पूरा भी हो गया और कहने और संशोधन करनेका स्कोप भी बना रह गया !

ख़ैर यह सब क़िस्से-बाज़ी है। असली क़िस्सा तो स्वयं उपन्यास है। उसे पढ़िए।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्यारह सपनोंका देश

•

[खण्ड १]

• उपन्यास •

: १ :

धर्मवीर भारती

आदिम अग्नि और अनिश्चयकी घाटियाँ

वही पतली-दुबली पहाड़ी नदी है जो दो मील पहले रास्तेमें मिली थी। मुश्किलसे दस गज़ चौड़ी, झाड़-झंखाड़, लतरों और पत्थरोंसे ढँकी हुई। पर यहाँ आकर जो रूप उसने धारण किया है, उसकी तो कल्पना ही नहीं होती थी। दो फ़र्लांग ऊपर उसने अकस्मात् मोड़ लिया कि सारे पठारको जैसे बीचसे चीरकर फेंक दिया। ठोस चिकनी ग्रैनाइटकी विशालकाय चट्टानें, लाखों बरससे धूपमें भुनी हुई, पुराने क़िलोंकी सैकड़ों फ़ीट ऊँची दीवारोंकी तरह पथरीले कगारे, दरारोंमें उगे हुए सैकड़ों साल पुराने बूढ़े दरख़्त और पत्थरोंपर अजगरोंकी तरह चिपकी हुई टेढ़ी-मेढ़ी चित्तीदार जड़ें।

और उन्हीं जड़ोंके सहारे मीनल उतरी थी—धीरे-धीरे। और जिसे घेरकर पानी बह रहा था ऐसे एक ढोंकेपर आकर बैठ गयी थी—चुपचाप, सबसे अलग। राहमें दिनभर जीपकी लोहेकी कड़ी सीटपर सीधे बैठे-बैठे उसकी कमर दुखने लगी थी। यहाँ आकर उसने एक गहरी साँस ली, बदनको ढीला छोड़ दिया और कुहनियोंके बल धनुषाकार लेटकर निरुद्देश्य नीचे कुण्डके शान्त जलमें देखने लगी। उसके चेहरेकी रेखाकृति धुँधली थी और उसकी काली रोलीकी बिन्दी तो बिलकुल साफ़ पानीमें तैर गयी थी। पर वह अपनेको नहीं देख रही थी—(मीनलकी यही बात तो बहुत कम लोग जान पाये थे। उसने सदा अपने पार देखा और अपनेको निरन्तर खोती गयी दूसरोंमें) वह देख रही थी अपने चेहरेको छायाके भी पार।

और नीचे सफ़ेद फूलोंवाली गाँठदार जलघासकी एक लम्बी अकेली नाज़ुक टहनी धीरे-धीरे जलमें हिल रही थी, जिसके आसपास रुपहली मछलियोंका एक जोड़ा पानीमें फुदक रहा था—कभी-कभी एक दूसरेकी गतिको काटता, कभी तेज़ीसे कुलाचें भरता और फिर साथ-साथ तैरने लगता। कुछ क्षण वह चुपचाप देखती रही उन दोनों चंचल प्यार-भरी मछलियोंको, और फिर, जैसी उसकी आदत है, उन्हें अपनी कल्पनाके नाम देने शुरू किये। यह जो बायेंवाली मछली है न, चुलबुली-सी; यह है उसकी कुन्तल, प्यारी, चंचल, लापर्वाह, और साथवाले हैं उसके शोभन दा सदा-सदा-सदा उसकी कुन्तलके प्यारमें बँधे हुए। (और आप क्या जानते हैं ? पहले भला शोभन दाके बारेमें यह ऐसे सोच सकती थी ! अब जो उनसे पटर-पटर बोल लेती है और कभी-कभी कुन्तलसे उनके ममता भरे झगड़ोंमें मनमानी सरपंची भी कर लेती है—पहले भला शोभन दासे कोई बोल तो ले। ना बाबा ! किसकी शामत आयी है !) सो ये तीनों मछलियाँ तो हुई कुन्तल और शोभन; और यह तारों जैसे छोटे-छोटे सफ़ेद फूलोंवाली जलघासकी अकेली टहनी कौन है ?''''यह है मीनल ! मीनल ! मिनी, मृणाल मेहता, अपने कुन्तल शोभनकी मीनल !

'मीऽऽनल ! कुन्तलका बारीक़ स्वर कगारके ऊपरसे लहराता हुआ। कहाँ है कुन्तल ? वह क्या है जामुनके नीचे ! दूरसे तो दीख रही है ! छोटी गुड़िया-सी। दूरसे ही उसने हाथ मिलाया और पुकारकर बोली, "चलो उठो वहाँसे ! चाय बन गयी।"

मीनल अलसाती हुई उठी। अभी वह उठना नहीं चाहती थी, पर कुन्तल वहाँ अकेले काममें लगी होगी, सो वह उठी। कुण्डसे निकलकर बहती हुई एक पतली धारमें अपने नन्हें उजले पाँव भिगोये, आँचलका छोर भिगो कर आँखोंपर फेरा और चल दी।

ऊपर शीशमका एक पेड़ था, जिसकी बग़लमें एक बहुत बड़ी चट्टान कछुएकी विशाल पीठ-सी उभर आयी थी। उसपर एक दरी पड़ी थी जिस-

पर सिर्फ़ दो जने बैठे थे : कुन्तल और शोभन दाका घुमक्कड़ दोस्त गुप्ता। शोभन दा किसी पगडण्डीपर घूमने निकल गये थे और रोहित अपनी गाड़ी लेकर पासकी तहसीलके हेड क्वार्टरमें किसी एस. डी. ओ.से मिलने चला गया था। गुप्ताको इधर कुछ दिनोंसे हाथ देखनेकी सनक सवार हुई थी, सो वह कुन्तलका हाथ देख रहा था। हाथ देखकर आजतक उसने किसीको कुछ भी ठीक नहीं बताया था, पर ऐसी अनोखी भविष्य-वाणियाँ करता था वह कि कुन्तल हर हफ़्ते उसे हाथ ज़रूर दिखाती थी। "गुप्ता भाई साहब, हाथ नहीं देखिएगा !" और गुप्ता भाई साहब जम-कर बैठ गये। और क्या मजाल कि जी ऊबे ! जी तो तब ऊबे जब एक ही ठीक-ठीक बात हर बार बतायी जाय। पर जब हर हफ़्ते बिल्कुल नयी बात बताई जाय जिसका पिछले हफ़्तेकी बातसे कोई मेल न हो—तो कभी ज्योतिषकी ताजगीमें कमी आ ही नहीं सकती। ऐसा ही था गुप्ताका ज्योतिष। पर मीनल गुप्ताकी इन बातोंसे ऊब चुकी थी। कुन्तलने बैठे-बैठे ही बताया कि स्टोव बुझ गया है, चाय थर्मसमें है। मीनलने गिलासमें चाय निकाली और पेड़के तनेसे टिककर धीरे-धीरे चाय पीने लगी। वह थक गयी थी और शिथिल मनसे धीरे-धीरे चाय पीना उसे अच्छा लग रहा था। गुप्ताकी बातें जो उसके कानमें पड़ रही थीं, उसे ऐसी लग रही थीं जैसे पासकी डालपर कोई पाखी बैठा कुछ बोल रहा हो—भविष्य नियति, सुख-दु:ख''''शब्द''''शब्द''''जिनका अर्थ वह जानती ही नहीं, न जानना चाहती है—बस चुपचाप सुनती है सिर्फ़ इसलिए कि उससे दृश्यका सूनापन और उदासी कुछ घटती हुई मालूम पड़ती है। मात्र इतनी उन बातोंकी सार्थकता है—बाक़ी सब निरर्थक है, निरर्थक। पता नहीं नियति कुछ है या नहीं; आगे क्या है, क्या हो ? इसपर मीनलने बहुत सोचा है और वह किसी नतीजेपर नहीं पहुँची और इसीलिए अब उसने अपनेको अनिश्चयकी एक हल्की गुनगुनी नदीमें अलसाकर छोड़ दिया है और बहती जा रही है—आयासहीन, दिशाहीन, अवधिहीन !

शोभन काफ़ी दूर निकल आया था और पुलियापर बैठा-बैठा वह रोहितकी जीपकी प्रतीक्षा कर रहा था। जिस पगडण्डीपर वह चल दिया था वह यहीं आकर फिर सड़कमें मिल जाती थी। असलमें जंगली पगडण्डियाँ उसकी बड़ी मधुर कमजोरी थीं। यह पगडण्डी उसे जाते ही दीखी थी। सामनेवाले ढूहकी बग़लसे, दूबकी सहमी-सी यह ऊपरकी ओर चढ़ रही थी। देखते ही उसे लगा था कि यह जैसे अनजानी दिशाने एक वरुणपाश फेंका है। और शोभन उसमें बँध गया, ख़ुशी-ख़ुशी। वह मौक़ा देखता रहा और ज्यों ही कुन्तल उसे चाय पिलाकर मृणालको बुलाने गयी त्यों ही वह उठ खड़ा हुआ और चल दिया। गुप्ताने टोका तो बोला, "अभी आता हूँ। जबतक रोहित जीप लेकर वापस न आ जाय, यहीं रहना। अकेले मत छोड़ना इन लोगोंको। मैं ज़रा देख आऊँ यह पगडण्डी जाती कहाँ है?" उतार-चढ़ाववाली यह पूरी पगडण्डी जब उसने पार कर ली तो उसने पाया कि यह तो नीचे उतरकर उसी सड़कमें मिल जाती है। जिधर रोहित गया है। पर आधे मीलकी वह पगडण्डी सड़कका लगभग ६ मीलका चक्कर बचा देती है। शोभन वहीं सड़ककी पुलियापर बैठकर इन्तज़ार करने लगा कि रोहित लौटे तो वह भी जीपपर साथ ही लौट आवे।

सच तो यह है कि इस छोटी-सी यात्राका सारा श्रेय रोहितको है। वह अपनी जीपपर सबको ले आया कि तीन दिनतक सिर्फ़ भटका जाय। कल शामको जब अकस्मात् वह जीप लेकर पहुँचा तो पुलिस यूनिफ़ार्म में वह जैसे पहिचाना नहीं जा रहा था। पाँच साल बाद आया था। पर ज्यों ही वह बोला कि तुरत पहिचानमें आ गया। उसका स्वर स्मरणीय था—बहुत विनम्र मगर बहुत दृढ़। पाँच साल पहले भी आबू जाते जब वह मिला था तो ऐसे ही आकस्मिक ढंगसे। सन् '४२ में खद्दरका मोटा कुर्त्ता और मैली धोती पहननेवाला रोहित राय जिसके पीछे प्रान्तकी पुलिस परीशान थी, जब रेशमसे लदा मिला तो उसे मालूम हुआ कि पोलिटिकल

सफ़रर्समेंसे गृहमन्त्रीने कुछ नौजवान इण्डियन पुलिस सर्विसमें भर्ती किये हैं ताकि पुलिसमें 'न्यू ब्लड, न्यू स्पिरिट' आ सके। ट्रेनिंगके बाद शोभनको मालूम हुआ था कि रोहितको एक ऐसा इलाक़ा दिया गया जहाँ राजनीतिक अपराध बहुत बढ़ गये थे। रोहित रायने जितनी सख़्तीसे उस इलाक़ेको क़ाबूमें किया उसके विषयमें विचित्र ख़बरें वह पढ़ता सुनता रहा। उसे समझमें ही नहीं आता था कि सूनी सड़कोंपर चाँदनीमें घूम-घूमकर गीत गानेवाला यह भावुक विद्रोही युवक यह सब कैसे कर सकता था—दमन, निरंकुश दमन! उसके बाद सुना कि उसका तबादला हुआ। फिर उसके बारेमें कुछ नहीं मालूम हुआ। शोभन उसे लगभग भूल चुका था कि कल शाम वह सहसा जीप लेकर पहुँचा। लो, वह तो इसी शहरमें ए. एस. पी. होकर आ गया था। चार्ज लेनेके बाद दो हफ़्ते बहुत व्यस्त रहा और पहला अवसर मिलते ही आया है कि पहलेकी तरह कहीं पहाड़ी-घाटियोंमें भाग चला जाय—शहरसे दूर, दूर, जहाँ सिर्फ़ वह हो, शोभन हो, चिरन्तन पलायनवादी गुप्ता हो।

पर इस कार्यक्रमके बावजूद शामभर रोहितका व्यवहार थोड़ा अपनेमें बन्द-बन्द जैसा रहा। शोभनने कुछ कहा तो नहीं पर रोहितके थके विवश चेहरेमें वह बार-बार उस निरंकुश दमनकारीकी छाया ढूँढ़ता रहा जो उसने अख़बारोंमें पढ़-पढ़कर कल्पित की थी। फिर रातको खा-पीकर बाहर बरामदेमें शोभन और रोहित लेटे तब रोहितने ख़ुद बताया उस घटनाके बारेमें।

शोभनको अब भी उसकी वह मुद्रा याद है। वह उठकर बैठ गया था और तकियेको गोदमें रखकर उसपर कोहनियाँ टेककर वह धीमे-धीमे बोल रहा था। न उसके मुखपर आवेश था, न गहरा चढ़ाव-उतार। एक ऊब थी और थकान और बस। जबसे आज़ादी मिली तभीसे उसका सपना था कि लड़ाईका एक दौर ख़त्म हुआ और दूसरा शुरू हुआ जिसमें जनतन्त्र क़ायम करने और गाँधीजीका स्वप्न पूरा करनेमें उसके

जैसे नौजवानोंको आगे आना चाहिए। जब वह ट्रेनिंगमें था तब उसने पाया कि देशके हर कोनेसे ऐसे नौजवान आये थे जिनके मनमें एक सपना था, एक उमंग थी—देशके नये निर्माणमें अपनेको अर्पित कर देनेकी।

पर आज ? हुआ यह था कि उस ज़िलेमें एक तबक़ा था जिसे पुराने हुक्कामोंने बिगाड़ रक्खा था। अँग्रेज़ोंके जाते ही वह बेक़ाबू हो गया। दिन दहाड़े क़त्ल, धमकी, दंगा, आगज़नी और अपनी विपक्षी बिरादरीकी स्त्रियोंका खुलेआम अपहरण। पहले कुछ विरोधी दलवालोंने उन्हें प्रश्रय दिया पर बादमें उन्हें लगा कि उनपर क़ाबू रखना मुश्किल है तो उन्होंने अपनेको अलग कर लिया था। जब रोहित रायने चार्ज सँभाला तो इस तबक़ेपर नियन्त्रण रखनेका उसे विशेष संकेत मिला। विरोधी दलके नेता भी उससे मिले और उन्होंने भी उससे किसी प्रकार भी उनके दबानेकी प्रार्थना की और यह कि उनका नाम व्यर्थमें इन लोगोंके साथ जोड़ा जा रहा है। वे लोग इनके दबानेमें पूरी मदद देनेको तैयार हैं।

और रोहित सभीसे मिला। उसने बिलकुल नये ढंगकी योजना बनायी कि वह समझा-बुझाकर सहूलियतसे इन्हें क़ाबूमें लायेगा। पर उसने पाया कि सारी मशीन पुरानी है और चपरासीसे लेकर शहर कोतवालतक उसकी योजनाके विरुद्ध हैं। पहले तो वह घबराया पर फिर उसने हिम्मत बाँधी। एक बार तो ऐसा लगा कि मातहतोंमें उसने नयी जान फूँक दी पर दूसरे ही हफ़्ते उसका भ्रम टूट गया। उसका नाम लेकर सारे ज़िलेमें जो भयानक ज़ुल्म शुरू हो गया था, उसका उसे अनुमान ही नहीं था; और इसके पहले कि वह स्थितिसे वाकिफ़ हो अख़बारोंमें वावैला मच गया, मातहतोंने अफ़सरोंके कान भरे, अफ़सरोंने मिनिस्टरके, और विरोधी दलके अख़बारोंने भी मौक़ा न छोड़ा।

रोहित दीवारसे तकिया लगाकर पीछे टिककर बैठ गया था और कहता जा रहा था, "उनके कई कार्यकर्त्ता मेरे जिगरी दोस्त थे, और मेरी स्थिति अच्छी तरह जानते थे, पर उनमेंसे एक जो मुझे बेहद प्यार

करता था, बोला, 'मैं क्या जानता नहीं हूँ राय ! पर भाई हमें तो आपोज़ीशन संगठित करना ही है !' और रोज़ मैं पढ़ता रहा—रोहित राय नृशंस, नौकरशाह, घूसखोर आदि-आदि। महीनों तक मुझे ऐसा लगा कि सारी दुनियामें मैं बिल्कुल अकेला हूँ और बार-बार मैं सोचता रहा कि मैं जो कुछ हूँ उसके बिलकुल बरअक्स दुनियाके हर शीशेमें क्यों दीख रहा हूँ। और आईन, क़ानून, फ़ाइल, अख़बार इनका एक विराट् जाल है जिसमें मैं दिशाकी तरह उलझ गया हूँ और ज्यों-ज्यों हाथ-पाँव पटकता हूँ त्यों-त्यों और उलझता जा रहा हूँ। पर मैंने इसको आनका सवाल मान लिया था; मैंने फिर बिलकुल निरंकुशतासे काम किया। विभागसे जो नोट मिले उनकी मैंने परवाह नहीं की, और जिस कामको उठाया था उसे पूरा करके छोड़ा। और तब मुझे गृहमन्त्रीका एक व्यक्तिगत पत्र मिला जिसमें मेरी बहुत प्रशंसा थी। मेरा जी भर आया। मैं उनसे मिलने गया तो मेरी आँखमें आँसू थे और हाथमें इस्तीफ़ा। मैंने उनसे कहा कि जो पहला काम मुझे सौंपा गया उसे मैंने देशका काम समझकर किया पर अब मैं टूट जाऊँगा इस महकमेमें, मुझे अब छुट्टी दीजिए। गृहमन्त्री हँसे। इस्तीफ़ा उन्होंने हाथसे लेकर फाड़ दिया, मुझे पास बिठा लिया। मेरे लिए भी उन्होंने खाना मँगा लिया और बहुत प्यारसे रातको डेढ़ बजे तक बातें करते रहे। उन्होंने कहा कि अब तुम बहुत थक गये हो। किसी शान्त ज़िलेमें कोई आरामदेह काम तुझे सौंपा जायगा; और तब उन्होंने पूछा कि क्या मैं उसी नगरमें जाना चाहूँगा जहाँ मेरा विद्यार्थी जीवन बीता है। सच कहता हूँ शोभन, उनके यहाँ बैठे-बैठे उसी क्षण मेरे सामने तुम्हारा चेहरा नाच गया और गुप्ताका और अपने बूढ़े प्रोफ़ेसरका। मुझे लगा जैसे वरदान दे दिया हो किसीने। बाहर आया तो मन कृतज्ञतासे भरा था।"

इतना कहकर वह रुक गया और एक सूखी हँसी हँसकर बोला, "पर मैं भी कितनी आसानीसे ठगा जा सकता हूँ। जानते हो यह सब

क्या था ? असल विभागीय शिकायतोंके आधारपर न केवल मेरा तबादला किया गया था वरन् मुझे रैंकसे भी उतार दिया गया था। इस शहरमें मुझे बतौर इनाम नहीं भेजा गया बल्कि इसलिए कि यहाँ मैं सीधे हेड क्वार्टर्सकी निगाहके नीचे रह सकूँ और आरामदेह कामके मतलब थे कि मुझे अब ज़िम्मेवार काम नहीं सौंपा जायगा। और अद्भुत यह था कि मेरे सिवा सभी यह बात जानते थे। शहरभरमें विरोधी दलके लोग यह कहते घूम रहे थे कि उनके प्रयाससे मैं हटा दिया गया; सरकारी दलके लोग यह कह रहे थे कि सरकार न्यायकारी है : अन्तमें अपराधीको दण्ड मिला; प्रान्त भरके बदमाश कहते घूम रहे थे कि देखें हमसे फिर कौन-सा अफ़सर उलझनेकी हिम्मत करता है। मेरे साथ बड़ा भारी फ़रेब किया गया। हुकूमतने तो अपनेको बचा लिया, पर मुझे ! काश, मुझे अपना इस्तीफ़ा देने दिया जाता तो आज चारों तरफ़ मैं इतना अपमानित न होता। पर अब सब कुछ चुपचाप सहनेके सिवा कोई चारा नहीं था।"

रोहित थोड़ी देर चुप रहा, दीवारकी ओर देखता हुआ कुछ सोचता रहा और फिर पहली बार उसके स्वरमें कम्पन आया और वह भर्राये गलेसे बोला, "मुझमें कुछ था जो मर गया इसके बाद। पता नहीं वह क्या है—शायद 'द करेज टु टेक अ डेसीशन' : निर्णय लेनेका, निश्चय करनेका, साहस ! अब कभी मैं अपने बल, अपनी इच्छासे अपना रास्ता नहीं चुन सकूँगा—कभी नहीं, कभी नहीं....! शायद मेरा मन समझौता करनेमें अब धीरे-धीरे ग्लानि अनुभव करना भी छोड़ देगा और कभी-न-कभी बहककर उसी कूड़े-कचरेमें मिल जायगा जो मेरे चारों तरफ़ है।"

रोहित चुप हो गया और बिना तकिया लगाये सरके नीचे हाथ रखकर लेट गया। शोभनने कुछ भी नहीं कहा। न कोई प्रश्न, न कोई सुझाव, सान्त्वना तकका एक शब्द नहीं—लगा जैसे सान्त्वनाके संकेतसे भी रोहित का मन दुख जायगा।

रोहितकी भारी और गहरी साँसें कमरेमें गूँज रही थीं और मेज़पर घड़ीकी टिक्-टिक् रुक-रुककर कमरेके सारे वातावरणको भारी बना रही थी। शोभनने जान-बूझकर जमुहाई ली और करवट बदलकर लेट गया जिसमें रोहित सो जाय। सचमुच थोड़ी देरमें रोहित सो गया जैसे उसके मनपर लदा हुआ असह्य बोझ इतने दिनों बाद हल्का हो गया है और मानो कई बरस बाद उसे सचमुच नींद आयी। सुबह ९ बजेके बाद वह जगा तो उसे लगा जैसे रातका बहुत कुछ कष्ट वह भूल चुका है।

पर पता नहीं क्यों शोभन ख़ुद नहीं सो पाया था। एक व्यथा उसके मनपर भार बन गयी थी। पर वह क्या थी, इसका विश्लेषण नहीं कर पा रहा था। हाँ, एक बहुत पुराना स्मृति-चित्र उसके मनमें पता नहीं क्यों बार-बार आने लगा। तब वह आठवें या नवें दर्जेमें था और यह रोहित उसीके सेक्शनमें था। स्कूल लगनेके पहले प्रार्थना हुआ करती थी। जब जिस सेक्शनकी पारी होती, उस सेक्शनके दो लड़के हेडमास्टरकी बग़लमें खड़े होकर प्रेअर करते थे और सारा स्कूल उसे दोहराता था। उसे याद आ रहा था कि उसके सेक्शनकी पारी थी और वह और अज़ीम गये थे प्रेअर पढ़ने और उस दिन जुमेका दिन था और अंग्रेज़ीकी प्रेअर थी, टैगोरकी गीताञ्जलिसे। उसने पढ़ा था—

ह्वेअर द माइण्ड इज़् विदाउट फ़ीअर ऐण्ड
द हेड इज़् हेल्ड हाइ....
ह्वेअर वर्ड्ज़् कम आउट फ्रॉम द डेप्थ ऑव ट्रुथ
इण्टु दैट हेवेन ऑव फ्रीडम, माइ फ़ादर,
लेट माइ कण्ट्री एवेक

उसके अपने सेक्शनमें प्रार्थना दोहरानेका विशेष उत्साह था और रोहितकी तो आँखें चमक रही थीं। आज कहाँ हैं उसके सेक्शनके सब लड़के? जैसे ये रोहित यहाँ है, कोई रेलवेमें होगा, कोई टेक्नीशियन होगा, कोई पत्रकार होगा, कोई आफ़िसमें क्लर्क होगा। काश कि उसे सबका घर

मालूम होता, तो वह उनमेंसे एक-एकके पास जाता और पूछता, 'भइया, हम सबने जो प्रार्थना की थी वह तो भगवानने सुन ली पर अब सच-सच बताओ, अपना दिल टटोल-टटोलकर बताओ, क्या तुम्हारा चित्त भयमुक्त है ? क्या तुम्हारा सिर गर्वसे उन्नत है ? क्या शब्द सत्यकी गहराईसे निकल रहे हैं ?'

क्षणभरको उसकी आँख लगी तो जाने उसने स्वप्न देखा या सिर्फ़ यह विचार मात्र उसके मनमें आया—उसे लगा कि बीस बरस बाद फिर उसी सेक्शनकी हाज़िरी लगी है और सब प्रेअरके लिए इकट्ठे हुए हैं पर उसके हाथमें जो गीताञ्जलि है उसका पाठ कुछ बदल गया है और वह पढ़ रहा है:—

इज़ योर माइण्ड विदाउट फ़ीअर
ऐण्ड इज़ योर हेड हेल्ड हाइ ?

और न कोई दोहराता है और न कोई जवाब देता है। सब चुपचाप खड़े हैं, सबके चेहरेपर त्रास है, कोई कुछ बोलता नहीं। बहुत देर बाद उसे पता चलता है कि ये तो गूँगे हो चुके हैं सबके सब। वह जैसे डर जाता है, बेहद भयभीत। और घबराकर वह जाग गया तो उसने रोहितको गहरी नींदमें सोता हुआ पाया, पर उसे फिर नींद नहीं आयी। रास्ते भर वह जीपमें सोता रहा पर इस समय जब वह अकेला पुलियापर बैठा हुआ रोहितका इन्तज़ार कर रहा था तो उसी भयमिश्रित अवसादने उसे जैसे कड़वे धुएँकी तरह घेर लिया यहाँ तक कि कुन्तलका धुँधला उदास चेहरा जो उसकी आँखोंके सामने बार-बार घूम रहा था, वह भी बिलकुल लुप्त हो गया।

और यह जो कुन्तल है न—इसके मनको तो कोई जानता ही नहीं। यह उसकी मिनीके जो शोभन दा हैं—उनसे कह दो तो दीनकी सोचें, दुनियाकी सोचें, जहानकी सोचें, देशके दुःखमें रातभर आँसू बहावें, पर

बस एक कुन्तलके मनको न समझनेकी उन्होंने क़सम खा ली है; और कुन्तल बेचारी है कि उसका छोटा-सा मन बिलकुल क़ुतुबनुमा—चाहे इधर रक्खो, चाहे उधर रक्खो, उलट दो, पलट दो, पानीमें बहा दो, फेंक दो, पर उसकी सुई ज़रा-सी हिलेगी डुलेगी और फिर उसी ओर जिधर शोभन। पर इतनी-सी बात अगर शोभनकी समझमें आवे तब न! और कुन्तलकी मजबूरी यह है कि ये सामने रहें तो उसे सब अच्छा लगता है और ये गये कि कुन्तल बिलकुल सुन्न। अब इसी समय लीजिए। इतनी देर हो गयी और जाने पगडण्डी इनके पाँवसे चिपक गयी है, या इनके पाँव पकड़कर बैठ गयी है या इनके गलेसे लिपट गयी है कि दो घण्टा बीत गया और इनका पता ही नहीं। यहाँ लाये क्यों थे कुन्तलको? और ये थे न तब तो सब कुछ अच्छा लग रहा था, यह शीशमकी छाँह और अनगढ़ चट्टानें और कल-कल करती पहाड़ी नदी; पर ये नहीं हैं तो कैसा सुनसान लग रहा है, सब, रूखा-रूखा!

गुप्ता चुप था और मृणाल अब भी आँखें बन्द किये शीशमके तनेसे टिकी बैठी थी। कुन्तल उठी और उसके पास जाकर बैठ गयी। मिनीको थोड़ा-सा जादू ज़रूर आता है वरना वह कुन्तलके मनकी बातें कैसे जान लेती। उसने कुन्तलको खींचकर उसका सिर अपने कन्धेसे टिका लिया और हाथमें उसका हाथ लेकर बोली, "शोभन दा आते ही होंगे अब! यहाँ आकर समयका पता नहीं चलता है!"

गुप्ता, कुन्तल भाभीकी आकुलताको कुछ-कुछ भाँप रहा था। उसने सोचा कुछ और बात छेड़ें ज्योतिष जैसी तो शायद भाभीका मन लग जाय! पलभर सोचता रहा, फिर अकस्मात् बोला, "भाभी, तुम्हें मालूम है, जहाँ हम लोग बैठे हैं यह स्थान हिमालयसे भी पुराना है। यहाँ आदिम मनुष्य रहता था, प्रागैतिहासिक युगका गुहामानव!"

"क्या?" कुन्तल उठ बैठी, कुतूहलसे उनकी आँखें फैल गयीं।

"हाँ, भाभी! यह जो नदी है न, बहुत पुरानी है—गंगा, यमुना,

सिन्धु, ब्रह्मपुत्रसे भी। यहाँसे कुछ ही फ़र्लाङ्ग दूर गुहाचित्र और शिलाचित्र मिले हैं आदिम युगके!"

कुन्तल कुछ कहे-कहे कि मिनीने तेज़ीसे पूछा, "गुप्ता, तुम कितने प्रकारके झूठ बोल सकते हो?"

"बहुत प्रकारके मीनल दीदी!" वह भी जैसे इस पॉइण्ट ब्लैंक फ़ायर-के लिए तैयार था। जानता था कि मीनल दीदी उसकी हर बातको काट फेंकनेके लिए उधार खाये बैठी रहती हैं—"बहुत प्रकारके—और कुछ तो इतने चुस्त-दुरुस्त कि तुम्हारी स्कॉटलैण्ड यार्ड जैसी बुद्धि भी धोखा खा जाय। लेकिन यह बात झूठ नहीं कह रहा हूँ दीदी। यह जो ऊपर महगाँवा बाँध बन रहा है न वह पहले नहीं बननेवाला था। यहाँपर बहुत कम ख़र्चमें बहुत बड़ा रिज़र्वायर (जलाशय) बन सकता था, पर उससे जितने गुहाचित्र और शिलाचित्र हैं सब डूब जाते और अभी तो कितनी ही चीज़ें हैं इस क्षेत्रमें जिनकी खोज नहीं हुई है। इसका पता लगने-पर बाँधका स्थान बदल दिया गया।" कुन्तलका कुतूहल पूरी तरह जाग गया था और गुप्ता विजय गर्वसे और भी उत्साहसे कह रहा था, "दो-तीन साल बाद हम लोग आयेंगे तो यह नदी भी न होगी, सिर्फ़ जगह-जगह रहेगा कुण्डोंमें भरा हुआ पानी। और कौन जाने बीस साल बाद लोग भूल भी जायँ यहाँ नदी भी थी! और तब शायद कोई आये भी नहीं।"

"पर तुम तो फिर भी आओगे गुप्ता!" मीनल बोली।

"क्यों?" कुन्तलने पूछा।

"बात यह है कुन्तल कि यह तो जनम-जनमसे यहाँ आता रहा है। तभी तो इतनी बातें जानता है। असलमें यही वह आदिम मानव था, इसी-ने चित्र बनाये थे—अब बैठा-बैठा पुनर्जन्मकी बातें बता रहा है।"

कुन्तल हँस पड़ी, गुप्ता भी हँस पड़ा, फिर बहुत मुलायमियतसे बोला, "मीनल दीदी, यह तरा-उपरके भाई-बहिनोंकी तरह तुम हमेशा मुझसे क्यों झगड़ती रहती हो?"

"तो तू कुछ करता क्यों नहीं ?" उतनी ही ममतासे मृणाल बोली, "बताओ कुन्तल, पिछले ११ सालसे घरसे लड़े बैठा है, यहाँ-वहाँ भटकता घूमता है। पहले जुंग चढ़ी : गान्धी आश्रममें रहे। फिर शादीकी जुंग चढ़ी तो चार सालमें इसने कमसे कम छह-सात लड़कियोंका नाम बताया मुझे आकर। दीदी इस बार अमुक है! वह सब तो खेल था दीदी, यह सच है! कभी इसकी सगाईकी भी ख़बर नहीं सुनी! और कमसे कम छह-सात नाम तो बताये होंगे इसने कुन्तल! और हर बार क़सम...."

"दीदी, बात काटनेके लिए माफ़ करना! दो-तीन अगर मैंने झूठ-मूठ बतायी थीं तो भी दो-तीन तो रही ही होंगी।"

"हाँ, हाँ, पर सब गयीं कहाँ ? फिर आपको बैराग जागा। आप गये हिमालय, वहाँ लीडरीकी याद आयी तो पहाड़ी रियासतोंमें विद्रोह करानेपर आमादा। फिर वहाँ अधूरा काम छोड़कर मज़दूरोंकी जान हलाकान करने अहमदाबाद पहुँचे, फिर...."

"देखो कुन्तल भाभी, तुम आज हमारा इन्साफ़ कर दो!" गुप्ता फिर बीचमें बोला, "मृणाल दीदीसे यह पूछो कि आज कौन है जो दावेसे कह सकता है कि वह मंजिलपर पहुँच गया है! सबके सामने कई राहें हैं और सब अनिश्चित हैं—सबके सब! मेरा यह है कि चौराहेपर आकर हक्का-बक्का खड़े हो जानेके बजाय सबपर कुछ देर चल लेता हूँ। वह जो फ़ेथ है न—आस्था, आस्था जिसका आजकल फ़ैशन है—उसकी मुझमें कमी नहीं, कुछ अधिकता ही है। छलकी पड़ती है कम्बख़्त! सभीपर जम जाती है। जबतक जिस राहपर चलता हूँ उसपर ख़ूब आस्था रहती है। फिर बदल जाती है तो मैं क्या करूँ ?"

मीनल कुछ बोलनेको हुई कि वह फिर बोला, "देखो, मैं उदाहरण देकर समझा दूँ। पहले न रेलगाड़ी थी न हवाई जहाज। तब लोग बैलगाड़ियोंपर सफ़र करते थे। बैल ८०—१०० मील लगातार चलकर थक जाता था। तभी बाज़ार-हाटमें उतरकर लोग बैल बदल लेते थे।

इस तरह अदला-बदली करते हजारों मील चले जाते थे। वैसे ही मैं चलता चला जा रहा हूँ। अब मीनल दीदी कहें कि वही बैल शुरूसे आखिरतक क्यों नहीं है, तो कैसे हो सकता है ? यूँ मन समझानेकी बात और है। ऐसे भी गोबरगणेश हैं जो चुहियापर बैठकर बारह गज़का घेरा घूमकर कह देते हैं कि हमारी आस्था तो ब्रह्माण्ड जीत आयी। अब उनका मैं क्या करूँ ? ऐसे सदा रहे, सदा रहेंगे। उनका अनुसरण लोग कर नहीं सकते, वन्दना कर लेते हैं।"

कुन्तल गणेशवाली उपमापर खिलखिलाकर हँस पड़ी। मीनल इन अद्भुत तर्कोंपर खीझकर बोली, "खैर बाबा, जो तेरा मन आये कर। मैं तो अब कहूँगी भी नहीं !"

"नहीं दीदी, हाथ जोड़ता हूँ, तुम फटकारती रहो मुझे। बात यह है कि मेरे इतने आत्मीयोंने इतना फटकारा है कि फटकारका सम्बन्ध मेरे मस्तिष्कमें आत्मीयतासे जुड़ गया है। तुमने ज्यों-ज्यों मुझे फटकारा त्यों-त्यों तुम आत्मीय होती गयीं। सो फटकारना तो जारी रखो, मुझे माफ़िक पड़ता है ! कुन्तल भाभी ज़रा दियासलाई देना !"

"क्यों ?"

"दो न ! ज़रा आग लगाऊँगा। कैम्प फ़ायर की जाय। शाम हो गयी है और यहाँ चारों ओर बहुत-सा झाड़-झंखाड़ है सूखा हुआ।" और कुन्तल जब दियासलाई लेने उठ गयी तब गुप्ता धीरेसे बोला, "मीनल दीदी ! मन तो तुम्हारा भी मेरी ही जातिका है पर असलमें शोभन दा और कुन्तल भाभी इन दो बड़े पक्के किनारोंके बीच तुमने उसे बाँध दिया है, इसलिए वह बहक नहीं सकता। तुम तो इंजीनियर होतीं तो बड़े-बड़ोंके कान काटती—"

"अच्छाऽऽ !" मीनलने नक़ली गुस्सेसे कहा, "अब बहुत बहक रहा है तू !"

गुप्ता बड़ी मीठी हँसी हँसा और घूम-घूमकर उत्साहसे सूखी घास इकट्ठी कर उसे सुलगाने लगा।

अगर चारों ओर बेडौल अनगढ़ काली विशाल चट्टानें हों, गाँठदार बौने पेड़ हों, और नीचे एक ख़ूंख़ार नदी बह रही हो, और चारों ओर घना अँधेरा हो—ऐसेमें आगकी हरहराती हुई लपटोंका अजीब-सा प्रभाव पड़ता है। रहस्य भी, अकुलाहट भी, चमकती आगका नृशंस उल्लास भी, कुछ तर्कहीन आकर्षण भी और एक बहुत पुराना आदिम भय।

जब रोहितके साथ शोभन लौटा तो घाटीमें घहनाकर जलनेवाली उस आगका अजीब आलम था। अस्थिर, ऊँचे उठ-उठकर विषधर फनोंकी तरह डोलनेवाली लपटोंके प्रकाशमें कभी चट्टानें उछलती थीं, कभी दब जाती थीं, कभी दीवारकी तरह सामने खड़ी हो जाती थीं, कभी अँधेरेमें घुल जाती थीं, कभी उनकी सतहपर पेड़ोंकी काली छायाएँ नाचने लगती थीं, कभी एक विशाल दानवाकार छाया झपटकर जैसे सभी छोटी छायाओंको ग्रस लेती थी। कभी नदीकी तलहटीका विराट् ह्वेल जैसा मुँह खुल जाता था और चट्टानोंके विशाल दाँत दीखने लगते थे और कभी फिर अँधेरेकी ऊँची लहरोंमें सब छिप जाता था। अजब लग रहा था। लगता था जैसे यह दृश्य हज़ारों साल पहलेका है और भूखे गुहावासी बर्बरोंने पत्थर रगड़कर यह आग बनायी है और उसके चारों ओर पूर्वजोंकी छायाएँ नृत्य कर रही हैं। और पास खड़ी, आगमें लकड़ियाँ फेंकती हुई कुन्तल भी कितनी बर्बर लग रही थी और पाससे पूरी सूखी झाड़ी तोड़कर घसीटकर लाते हुए गुप्ता ऐसा लग रहा था जैसे कोई आदिम पुरुष किसी स्त्रीको पत्थरोंसे आहत कर, पराजित कर केश पकड़कर भूमिपर घसीटता हुआ ला रहा है। कुछ दूर हटकर खड़ी हुई, सहमी हुई मृणालका गोरा मुँह उस आगके प्रकाशमें ऐसा लग रहा था—लाल—जैसे उसपर रक्तका आलेपन किया गया हो और उसके रूखे केश ऐसे लग रहे थे मानो खुलकर

उड़ रहे हों और जलने लगे हों। यह लग ही नहीं रहा था कि यह वही डूबते हुए दिनके आलोकमें शिथिल सोयी हुई पहाड़ी घाटी है। यह तो उछलती चट्टानों, भागती छायाओं, उखड़ते पेड़ों, हाँफती लपटों, बर्बर चेहरोंका एक आदिम सैलाब है जिसमें चार-पाँच जीते-जागते प्राणी फँस गये हैं, हाँथ-पाँव मारते हुए, बेबस, निश्शक्त।

थोड़ी देरमें आग मन्द पड़ गयी, और इस बार जो अँधेरा घाटीपर छाया, वह अजब था—गाढ़ा, भारी, और ऐसा कि सब चुपसे हो गये—यहाँ तक कि आगके प्रति बच्चोंकी तरह उत्साहमें भरी कुन्तल भी शोभनके घुटनोंके पास, थकी-सी बैठ गयी—गुमसुम—जैसे उसने कोई भूल कर डाली हो। रोहित बेचैन-सा लग रहा था, वहाँसे चलनेके लिए। गुप्ता बेहद संजीदा हो आया था। मीनल पहले चुपचाप बैठी शोभन दाकी ओर देखती रही, फिर पास आकर बैठ गयी। धीरेसे बोली, "शोभन दा, अब चलो यहाँसे—"

शोभन थोड़ी देर चुप रहा। फिर उठ खड़ा हुआ—"चलो।" राहमें मीनलसे बोला, "अजब लग रहा है न मिनी? लगता है जैसे अकस्मात् आदिम गुहामानवोंने हमपर आक्रमण करके यह घाटी छीन ली हो। अब हम यहाँ क्यों हैं? कहीं चले क्यों नहीं जाते?"

जीपपर बैठकर रोहितने मुड़कर पूछा, "अब कहाँ चलना है?"

"शोभन दा, घर लौट चलिए। बारह, एक बजे तक पहुँच जायँगे।" मीनल डूबे हुए स्वरमें बोली। पर गुप्ताने कहा, "नहीं मीनल दीदी! घर नहीं। कहीं चलो। कहीं आगे।"

"कहाँ आगे?" रोहितने पूछा, "यहाँसे सीधे २० मीलपर महगाँवा-का बाँध है और ८०-९० मील बाईं ओर खजुराहो है।"

"कहीं चलो!" गुप्ताने कहा, "कहीं भी! लगे बस चलना है, सिर्फ़ चलना। पहुँचना जैसे कहीं भी नहीं, कहीं भी नहीं।"

कोई कुछ नहीं बोला। रोहित भी नहीं। चुपचाप गाड़ी चलाता रहा। थके हुए बच्चेकी तरह कुन्तलने धीरे-धीरे आँखें मूँद लीं, मृणाल-की गोदमें आहिस्तेसे अपना हाथ डाल दिया और शोभनके कन्धेसे टिक गयी और आँखें मूँदे ही मूँदे पूछा, "क्या सोच रहे हो? अपनी कुन्तलसे दूर कहीं मन भटक रहा है?"

शोभनने कुछ जवाब नहीं दिया। सिर्फ़ अपने कन्धोंसे टिके हुए कुन्तलके सिरको बहुत दुलारसे थपथपाया और कहा, "अब सो जाओ, अच्छा!"

"अच्छा!" पर यह कहते-कहते वह नींदमें डूब गयी थी। नींदमें ही उसने कहा, "मिनी और तुम बातें करो, मैं सुनूँगी।"

मिनीने धीरेसे हामी भरी। कुन्तलके हाथको अपनी हथेलियोंके बीच प्यारसे दबा लिया और बाहर देखने लगी। घाटियोंमें अँधेरा भर गया था और तृतीयाका चाँद भागती जीपके साथ-साथ पहाड़ी चोटियोंपर हाँफ-हाँफकर दौड़नेका प्रयास कर रहा था।

उदयशंकर भट्ट

एक न मिली मृत्यु और पक्षीकी बेचैनी

जीपकी दौड़के साथ उसमें बैठे सब लोगोंके मन भी अपनी कल्पनामें नयी दुनिया बनाते चले जा रहे थे। मीनल सामने बैठे गुप्ताके साँवले चेहरे-पर निगाह गड़ाये जैसे उसके अवचेतनकी किसी गहराईमें छिपे भावोंको पढ़ रही थी। चंचलता अस्थिरतासे चमकती गुप्ताकी नुकीली नाककी ढलान और मोटे होठोंकी गुरियोंमें फड़फड़ाहटसे उसे लगता जैसे इसमें विचारोंकी ज़रा भी मज़बूती नहीं है। उठे हुए पैरोंको कहीं-न-कहीं रखनेकी तरह यह गुप्ता कभी एक कभी दूसरा काम करने लगता है। सफलताके लिए जो दृढ़ता चाहिए उसका इसमें अभाव है। उसके सड़ककी ओर देखते रहनेपर भी उँगलियाँ निचली नहीं हैं, वे कभी अपनी ही जाँघपर जैसे ताल देती नाच रही हैं। थल-थल मोटे गोल मुँहकी आकृतिसे हर विचार चिकना कर ढुलक जाता है। चौड़े माथेके नीचे हल्की अदीख भौहोंके बालोंके नृत्यमें जैसे कानोंके कोनोंपर उगे बाल भी सहयोग दे रहे हों। यह सब उसने सड़ककी लाइटमें देखा—जब दूसरी ट्रकको रास्ता देनेके लिए जीप सुस्तायी।

इसी समय गुप्ताने सामने बैठी मीनलकी ओर उचटती निगाह डालकर देखा। वह सोच रहा था—यह मीनल भी ख़ूब है। न जाने क्या सोचती है? इतनी उम्रमें भी जैसे यह एक पहेली-सी है। सारे चेहरेपर छायी इसकी बड़ी-बड़ी आँखोंमें मदके कितने नद लहराते रहते हैं। इन सरोवरोंमें

क्या सचमुच कोई भी कभी नहीं नहाया ! गुप्ता भीतरसे उसे जाननेकी चेष्टा करते हुए भी जैसे डर जाता हो। तर्क और हाजिरजवाबीके दो पाटोंमें गुप्ताकी बातूनी मुद्रा पिस-पिस जाती थी। यही एक डर था। कभी-कभी वह मीनलको एक ऐसी अध्यापिकाके रूपमें देखता जो बच्चोंको डाँटती रहकर भी आह भरती हो। ब्लाउजकी आस्तीनोंमें कसी उसकी गोरी भुजाओंको देखकर उसे लगता जैसे किसीको बेंतसे पीटनेके बाद वे किसीके आलिंगनको फैल रही हों। अब उसका मन सड़कसे उचटकर मीनलपर आ रहा। उसने एक नजर सिरसे पैर तक मीनलपर फिर डाली। सुती हुई देहपर वॉएलकी मोतिया साड़ीमें उसका रूप छन रहा था। कुन्तलकी कोमल हथेलियोंसे उसकी उँगलियाँ खिलवाड़ कर रही थीं।

शोभन न जाने क्या सोच रहे थे। फिर भी उनका मन सटकर पड़ी कुन्तलकी केश-राशिपर अटक रहा था। उन्हें लगा यह प्राणी कितना निरीह है, कितना आश्रय-भिक्षुक ! क्यों नहीं मैं इसे उतना दे पाता जितना इसकी बड़ी-बड़ी शून्य याचिका आँखें मुझसे माँगती हैं ? कुन्तलके प्रति उसके मनमें इतना प्रेम नहीं था जितना एक स्त्रीको सेवा द्वारा तृप्त करनेकी चेष्टा। शोभनके जड़ मनमें कुन्तल कभी प्रेयसी बनकर नहीं झाँकी। जड़भरतकी तरह उसका मन किसी भी रूप-शिखरपर जाकर नहीं अटका। बस सदासे निःसंग रहता चला आया है। एक आदर्शवादीकी तरह नीरस। जिस दिन शोभनसे 'ऑथेलो' पढ़ते-पढ़ते कुन्तल मूक हो गयी तो उसे लगा जैसे शोभन ऑथेलो ही है। कितना उदार, कितना प्रेमी, कितना निष्कपट, कितना उग्र। शोभन उस समय निगाह जमाये ऑथेलोकी पंक्तियाँ पढ़ रहा था और कुन्तल उसके मुँहपर उठे भावोंमें चमकती ज्योति देख रही थी। बरबस कुन्तलका भूखा मन शोभनपर अटक गया। वह पढ़ते-पढ़ते शोभनको देखती रही। उस समय कुछ भी याद न रहा कि उसने क्या पढ़ा है। परीक्षाकी तैयारीमें जैसे शोभन उसके मानसिक प्रश्नोंका उत्तर बनकर झाँकने लगा हो।

और जब उस दिन बी० ए० के परिणाममें कुन्तलने अपनेको कहीं भी न पाया तो वह निराशामें सिर पकड़कर फूटकर रोने जा रही थी कि पीछेसे शोभनको यह कहते सुना, "यह परीक्षा तो बनावटी है कुन्तल! मैंने कभी परीक्षाको महत्त्व नहीं दिया। असली परीक्षा तो मनुष्यकी अपनेको पहचानना है।" शोभन यह कहकर उसकी आँखोंमें झाँकने लगा। उस समय उन आँखोंमें हल्की सूखी घासकी तरह हरियाली नाच रही थी। वह चुप होकर शोभनको देखने लगी। उसे उस दिनका 'ऑथेलो' याद हो आया। शोभनने उस समय सान्त्वना देते हुए जो उसकी पीठ थपथपायी तो उसे लगा जैसे उन्मादका स्रोत उन हाथोंसे उसके शरीरमें प्रवेश कर रहा है। उसने उसी मौन दशामें आत्म-समर्पण कर दिया था क्या? उसे लगा जैसे वह अपने आपेमें नहीं रही है। उसके पास अपना कुछ भी नहीं है।

दिन बीतते रहे। जब कॉलेजमें फिर दाखिलेके लिए उससे कहा गया तो उसने यह कहकर टाल दिया कि वह अब परीक्षा नहीं देगी, अपनेको पहचानेगी। लेकिन कैसे अपनेको पहचाना जाता है यह वह जानकर भी न जान पायी। वह सदा अपने भीतरके उन्मादी मनमें पहले धुँधली फिर किसीकी छाया-मूर्ति पाने लगी। धीरे-धीरे खुरचनेपर एक दिन उसने पाया वहाँ शोभन बैठा है। जैसे निकालनेपर भी निकल नहीं रहा है। उसमें कल्पित सौन्दर्यकी छवि भर गयी। उसके पिचके गाल भर गये हैं। चेहरे-पर अपेक्षाकृत ज्यादा चमक है। सूखी आँखोंमें एक प्रकारका नशा भर गया है। कोई किताब हाथमें लेकर पढ़नेकी चेष्टामें जैसे बरबस मनका 'ऑथेलो' आकर झाँकने लगा है। एक दिन अकेली पाकर मीनलने पूछा तो कुन्तल उसकी आँखोंमें झाँककर रह गयी। उसे लगा मीनलकी आँखोंमें भी शोभनकी छाया अंकित है। और एक दिन किस तरह वह शोभनकी धड़कनसे बँध गयी; यही सब बातें आँख बन्द किये सोच रही थी। इसीके साथ वह मीनलके सम्बन्धमें सोचने लगी।

रोहित जीपकी दौड़के साथ अपने साहसकी परीक्षामें उलझ रहा था। नौकरीमें कोई रस न मिलनेसे अपने अतीत तथा भविष्यकी धुनमें विचारोंके धूमिल तारोंको जोड़ रहा था। वह सोच रहा था—शोभन दाके साथ मिलकर उसने जो देशकी स्वतन्त्रतामें निर्माणके स्वप्न देखे थे वे सब जैसे अब कहीं भी नहीं हैं। लोगोंका मानस अब भी एक दूसरेको छलने और धोखा देकर मालदार बननेकी दौड़में व्यस्त है। ब्लैक मार्केटिंग, ब्लैक मेलिंगके द्वारा बुद्धिके चमत्कार अब भी प्रतिष्ठित हैं। उसीके वर्गके कर्मचारी दोनों हाथोंसे अपना घर भर रहे हैं। पहले गाँवोंका भारत एक था, शहरोंका दूसरा, अब तो जैसे बेईमानी, धोखा-धड़ीकी दौड़में दोनों एक हो गये हैं। अन्याय और स्वार्थ-सिद्धि ही जैसे न्याय हैं। यह स्वार्थ कितना व्यापक हो गया है आज? त्याग जैसे मूर्खता है, आदर्श जैसे तमाशा, बच्चोंका खिलौना जो अब केवल स्कूलोंमें पढ़ानेके लिए ही है।

अचानक ब्रेक लगा और जीप रुक गयी। यात्री चौंके।

"यह जो सामने देख पड़ रहा है न ?"

"हाँ, फिर ?" शोभन दाने आगे सरककर पूछा। गुप्ताके विचारोंका तार टूट गया था। मृणाल उभरकर जैसे उतरनेको हो गयी। कुन्तल उठ बैठी।

"क्या उतरना होगा ?" उसने मृणालका हाथ पकड़कर कहा।

"कितना अच्छा मौसम है। सामने तालाबमें चाँदके टुकड़ोंकी तरह कमलोंकी चादर बिछी है।"

"तो क्या अब यहाँ बैठना पड़ेगा ? घर चलो न दीदी !"

"तुझे आज गुप्ताने हाथ देखकर नहीं बताया क्या ?" मृणालने आँखों में हँसकर कुन्तलसे कहा और उतर पड़ी।

जीपकी घर्घराहट बन्द होती जान सामनेके छोटे-से मकानसे एक बीमार अधेड़ने झाँका और जड़ लकड़ीकी तरह बाहर आ गया। रोहितने पूछ दिया :

"आप यहाँ रहते हैं ?"

"रहता तो हूँ, क्या न रहूँ ?"

"बड़ा सुन्दर स्थान है।" गुप्ताने कहा।

"इस तालाबने सुन्दर बना दिया है जैसे कभी कोई साँस मनुष्यके भाग्यको बुला लाती हो।"

"और कोई दुर्भाग्यको भी।" आगे बढ़कर शोभनने कहा।

दो कमरोंके आगे दालानके सामने पक्के फ़र्शका आँगन था। वहीं एक तख्त बिछा था। सटी हुई मुड़ेरसे सिंहासननुमा बैठनेकी पक्की जगह। दालानके बीचके दरवाज़ेमें लटकती लालटेनका प्रकाश चाँदनीसे होड़ करनेका विफल प्रयास कर रहा था। रातका चाँद जैसे मुसकरा उठा हो। सामने तालाबका चमचमाता पानी उस मध्ययुगीन सुन्दरीकी तरह लग रहा था जिसके मुँहपर सफ़ेद चमकियाँ चुनकर जड़ दी गयी हों।

वह आदमी अब भी जड़की तरह खड़ा था। लोग आँगनकी ओर बढ़ने लगे तो बोला,

"क्या काम है यहाँ ?"

"आनेमें कुछ बुराई है क्या ?"

वह उन्हीं खूँखार आँखोंसे देखता रहा। बोला कुछ भी नहीं।

शोभनने उसे ताड़ा और आगे बढ़कर ज़रा नर्मीसे पूछा,

"आप अकेले ही रहते हैं यहाँ ?"

"मैं मनुष्य समाजसे घृणा करता हूँ।"

"क्या मतलब ?" शोभनने पूछ दिया। गुप्ता यह वाक्य सुनकर चौंका; वह शोभनके साथ हो लिया। रोहित, कुन्तल और मृणाल बिछी चाँदनीमें घासके पास तालाबका सुख पीने लगे।

"क्या मेरा वाक्य इतना मुश्किल है ?"

"मेरा मतलब !..."

"मतलब कुछ भी हो, आप लोग यहाँसे चले जाइए। जाइए !' उसने

'जाइए' इतनी ज़ोरसे कहा कि कुन्तल डर गयी, मृणाल चौंकी और रोहित राय बातोंकी ओर मुड़ा।

"क्या हमसे कोई अपराध....." शोभनने वाणीमें और भी नर्मी भर कर पूछा।

वह काँप रहा था क्रोधसे। बोला कुछ भी नहीं। उसकी आँखें जैसे गुस्सेसे निकली पड़ रही हों। लोग अब भी नीचे खड़े थे।

रोहितमें सरकारी नौकरीका एक तनाव भरा, जैसे उसका अपमान देशकी सरकारका अपमान हो। आगे बढ़कर बोला,

"मनुष्यसे घृणा करनेकी बात जानते हो, अपराध है। मैं.... मैं....।"

"रहने दो रोहित। चलो चलें।"

"तो क्या तुम सब मिलकर मुझे मार डालोगे? लो मारो! मारो मुझे! नालायक़ यहाँ भी मुझे जीने देना नहीं चाहते। मारो!" कहकर वह अपराधीकी तरह घुटनोंमें सिर दबाकर बैठ गया। लोगोंने सुना वह सुबक रहा है। थोड़ी देरमें वह फूट-फूटकर रोने लगा। अब सब एक-दूसरेका मुँह देख रहे थे। शोभन दासे न रहा गया। वे पास जाकर उसे उठाने लगे और खड़ा करके उन्होंने उसके आँसू पोंछे। गुप्ता थर्मससे पानी भर लाया—"लो पानी पियो।"

खशखशी दाढ़ीमें तिनके चिपक रहे थे। मूँछें बेतरतीब। गालोंकी हड्डियाँ उभरी हुईं, बीचमें कटोरीकी तरह गढ़े, सूखी और नीरस आँखें। माथेमें गढ़ा, रेलकी लाइनकी तरह फैली रेखाएँ। चिपके हुए भौहोंके रोएँ, लकड़ी-सा शरीर, हाथ-पैरोंकी सन्धियाँ मोटी, बाक़ी शरीर खपच्ची-सा सिकुड़ा। ध्यानसे देखनेपर लगता था जैसे बरसोंका बीमार हो।

उस व्यक्तिने घूरकर देखा और हाथसे शीशेका गिलास लेकर ज़मीन-पर दे मारा। और दूर जा खड़ा हुआ। रोहितके जीमें आया कसकर एक तमाचा जड़ दे। न जाने क्या सोचकर रह गया।

"तुम बहुत दुखी मालूम पड़ते हो भाई।" शोभनने कन्धेपर हाथ रखकर पूछा।

व्यक्तिने कोई जवाब नहीं दिया। थोड़ी देर रुककर बोला, "आप लोग जायेंगे या नहीं ?"

"क्या मैं तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता ?"

व्यक्ति आँखें फाड़कर देखता रहा, बोला, "सहायता ? तुम क्या सहायता कर सकते हो। जिसके लिए सब कुछ किया उसीने सहायता नहीं की तो तुम क्या करोगे ! जाओ।"

मीनल जीपमेंसे कुछ मिठाई नमकीन निकाल लायी।

"खाओ, तुम भूखे मालूम होते हो।" उसने सामने काग़ज़ रख दिया।

"इसे खाकर क्या मैं मरूँगा ! पचता कहाँ है ? बीमार हूँ, देख नहीं रहे हो ?'

इतना कहकर वह डगमगाते पैर रखता मकानके पीछे चला गया। सब लोग तख़्तपर बैठ गये।

"लगता है इसे कोई बहुत बड़ा दुख है।"

"तभी चिड़चिड़ा है।"

"बीमार भी।"

गुप्ताने लालटेनके प्रकाशमें इधर-उधर देखा। एक चटाई, एक गुदड़ी, दो-एक फटे कपड़े, कुछ बरतन इधर-उधर बिखरे पड़े थे। मालूम होता था उस जगह महीनोंसे सफ़ाई नहीं हुई है।

"चला जाय क्या शोभन दा ?" रोहितने पूछा।

"हाँ, मेरा तो मन ख़राब हो रहा है इस मुतहे आदमीको देखकर।" कुन्तलने कहा और उठ खड़ी हुई। गुप्ता साथ चला। रोहित जेबसे चाबियोंका गुच्छा निकालकर उँगलीमें घुमाने लगा। मीनल चुप थी जैसे

बारिशसे पहले उमस उठ रही हो। वह शोभनकी ओर देखने लगी। शोभन शान्त बैठा था।

"अगर जल्दी हो, तुम लोग चलो। वैसे भी घूमता आ सकता हूँ।"

"अभी हम बीस मील दूर हैं शहरसे।" रोहितने जवाब दिया और मीनलकी ओर देखने लगा।

"इन्सानियत सीखो रोहित।"

"वह तो मैं नौकरी करते ही छोड़ बैठा हूँ। दुनियामें दुख बहुत है मृणाल, किस किसको रोया जाय!" रोहितने तानेसे जवाब दिया जैसे ऊपरसे सिर्फ़ मृणालको चिढ़ानेको कह रहा हो। शोभन गुमसुम होकर उस तरफ़ चल दिये जिधर वह गया था।

वह व्यक्ति तालाबसे हाथ धोकर लौटा तो पस्तहिम्मत-सा दिखाई दिया। वह कमरेसे चटाई खींचकर लेट गया।

"तुमने कुछ भी खाया नहीं है।" शोभनने पास बैठते हुए कहा।

थोड़ी देर बाद साँस सध जानेपर उसने जवाब दिया, "जंगलकी जड़ें और पत्ते खाकर पेट भर लेता हूँ। यही बहुत है। तुम कुछ दयालु दिखायी देते हो।"

"नहीं, मैं वैसा नहीं बन सका। क्या मैं तुम्हारे सम्बन्धमें कुछ जान सकता हूँ!"

"क्या करोगे अगर जान लोगे? क्या करोगे, बोलो?" उसने चटाई-से सिर उठाकर उसी कटुतामें जवाब दिया।

"तुम चाहो तो बिस्कुट या टोस्ट खा सकते हो।"

"मैं चाहूँ तो? और न चाहूँ तो?"

संकेत पाते ही गुप्ता चार बिस्कुट और दो सूखे टोस्ट ले आया।

बीमारने घूरते हुए बिस्कुट खाये और टोस्ट चबाने लगा। इसी बीचमें लोटा ढूँढ़कर शोभन पानी लेने चला तो रोहितने लोटा छीन लिया और थर्मससे पानी भर लाया।

"पन्द्रह दिन बाद अन्न मुँहमें दिया है। जानते हो ?" कमलकी जड़ें, जामुन, जंगली खट्टे आम अब तक खाये हैं। ग्लूकोज़के बिस्कुट लगते हैं। बहुत दिनों बाद खा रहा हूँ। खूब हैं।" कहकर वह हँसा। आँखें चमक उठीं।

"आप लोग ? मैं तो समझता था कि मनुष्यता मर गयी है। ख़ैर, इन बातोंमें क्या रखा है। गहरे घाव सिर्फ़ मक्खी उड़ानेसे ठीक नहीं होते। भूखेका पेट पानी पीकर नहीं भरता। आपने खिलाया बहुत अच्छा किया। मरते हुएकी जिन्दगी दो दिनको और बढ़ा दी।" वह एक बार फिर हँसा और मुँहपर हाथ फेरने लगा। दाढ़ीमें चिपके तिनके निकालता बोला,

"क्या खयाल है आदिम मनुष्य भी ऐसा ही रहा होगा ? मैं आजकल आदिम मनुष्य हो गया हूँ। कपड़े पहनता हूँ, नंगा नहीं रहता इतना ही फ़र्क़ है। ख़ैर।"

"कितने दिनोंसे बीमार हो ?" शोभनने पूछा।

"क्या बीमारी है ?" रोहित बोला।

"मुझे जल्दी न मरनेकी बीमारी है और कुछ नहीं।"

"मेरे एक डाक्टर मित्र हैं अगर तुम्हें आपत्ति न हो तो चलो। गाड़ी तैयार है।"

"नहीं, मैं शहरमें नहीं रहूँगा। शहरमें आग लगनेपर ही मैंने जंगलमें रहना स्वीकार किया है।

"अर्थात् ?" शोभनने पूछा।

"अर्थात्का सम्बन्ध अर्थसे है। मैं तो अनर्थसे पैदा हुआ हूँ मित्र ! तुम सोचते होगे मैं पागल हूँ। लेकिन पागल हूँ नहीं; पागल कर दिया गया हूँ। बहुत दिनों तक लोगोंको, सरकारको गालियाँ देकर बदलेमें संतोष पानेकी कोशिश की, लेकिन बेकार। मैं खुद जला, तबसे मैंने गालियाँ देना

बन्द कर दिया है। दो लड़कियाँ, पत्नी, बूढ़ी माँ सब मेरी ग़ैरहाज़िरीमें घुट-घुट कर मर गयीं। भूखकी आगमें झुलस गयीं। लड़कियोंको तपेदिक हो गया। उधर मैं अँग्रेज़ोंको भगानेमें जंगलोंकी ख़ाक छानता रहा। फिर सात साल जेलमें काटे, सड़ता रहा। पिटा, डण्डा-बेड़ी लगी। सॉलिटरी कन्फ़ाइन्मेण्ट हुआ। मार-पीटमें हड्डी-हड्डी चूर हो गयी। बाहर आया तो देखा अपनी सरकार है। ख़ुशी हुई। लेकिन बच्चे, बीवी, बूढ़ी माँ—लोगोंने बताया म्यूनिसिपैलिटीकी मुर्दा गाड़ियोंमें ले जाकर जला दी गयीं। मैंने लोगोंसे चिल्लाकर कहा: मैं हूँ हरीन्द्र टेररिस्ट! लोगोंने सुना ही नहीं। सुनते कहाँसे। मेरा चिल्लाना भला वे क्यों सुनते। मैंने कहा, "मैं भूखा हूँ।" तो बोले, "काम करो। यह गाँधीजीका युग है।"

"तो नौकरी दो।"

"सार्टिफ़िकेट? क्लर्की मिल सकती है। कोई रिकमेण्डेशन?"

"और तुम मिनिस्टर बन सकते हो?" मैंने चिल्लाकर पूछा।

लोगोंने कहा, "पागल है।"

मैंने कहा, "पागल तो हूँ ही। तभी तुम्हारे पास आया हूँ। कल तक जो अँग्रेज़ोंके इन्फ़ॉर्मर थे या गेहूँके साथ घुनकी तरह ज़बर्दस्ती जेलकी चक्कीमें डाल दिये गये थे वे आज मौज़में हैं। और मैं....?" वह ज़ोरसे हँसा तो खाँसीका ठसका उठा। बहुत देरतक खाँसता रहा। नाक बहने लगी। आँखोंसे आँसू निकल पड़े। खाँसते-खाँसते दम फूल गया। शोभन उसकी पीठपर हाथ फेरता रहा। स्वस्थ होनेपर बोलने लगा तो शोभनने रोक दिया।

"क्या तुम्हीं हरीन्द्र हो?"

"मैं अभागा, तुम....शोभन....।"

"शोभन दा" मृणालने आगे बढ़कर कहा!

"हम दोनों शायद साथ पढ़े हैं हरीन्द्र!"

"मुझे याद है।"

"तुम्हें यह जानकर भी खुशी नहीं हुई कि मैं शोभन हूँ तुम्हारा साथी।"

"मुझे अब कभी खुशी नहीं होगी शोभन।"

"तुम्हें वह प्रार्थना याद है जो हम स्कूलमें बोला करते थे।"

"उसीने तो मुझे बरबाद किया। उसीने।"

"क्या तुम्हें इस बातका दुख है हरीन्द्र?"

"मैं मनुष्य हूँ शोभन, देवता नहीं। क्या मैं सान्त्वनाका भी एक शब्द पानेका अधिकारी नहीं? तुम्हारा न्याय क्या उन्हीं लोगोंके लिए है जो तुम्हारे दलके हैं, तुम्हारे विचारके हैं? तुम्हारी तरह सोचते हैं?"

"निश्चय ही तुम्हारा तप किसीसे कम नहीं है हरीन्द्र?"

"यह एक तुम मिले जिसने यह ग़लती की है।"

"रोहितको पहचानते हो?"

"मैं तो पहचानता हूँ इसीने मुझे नहीं पहचाना। नाम सुनकर जब मैं इसके पास गया तो दरबानने धक्का देकर निकाल दिया। फिर एक बार मोटर रोक कर कहना चाहा तो इसने ड्राइवरको जल्दी चलनेका आदेश दिया। मेरी ओर देखा तक नहीं। हरीन्द्र हाँफकर लेट गया। उसने आँखें बन्द कर लीं।

शोभन उसकी पीठपर हाथ फेरने लगा। मृणाल सिर सहलाती रही। रोहित जड़की तरह खड़ा था। कुन्तलको कोई रस नहीं मिल रहा था। वह तख्तपर बैठ गयी। गुप्ता उस समय भी थर्मस लिये था।

× × ×

हरीन्द्र जितना कुरूप था उतना ही चिड़-चिड़ा। डाक्टरको देखते ही उबल पड़ता। रोहितसे उसे नफ़रत थी। गुप्ताको वह नौकर समझता। अगर किसीसे डरता तो शोभनसे। किसीसे बात करता तो मृणालसे। कुन्तल उसकी निगाहमें बुद्धिहीन खूबसूरत खिलौना थी। जड़ प्रकृतिका

कोमल चमत्कार। दिनभर पड़ा बड़बड़ाता रहता। उसकी आँखोंमें मनुष्य-के प्रति अजस्र घृणाका स्रोत बहता रहता। जबतब शोभनसे कह उठता, "तुमने मेरे साथ अन्याय किया है जो मुझे यहाँ ले आये। पहुँचा दो मुझे। मुझे मरने क्यों नहीं दिया वहीं पर!"

"तुम ठीक हो जाओगे हरीन्द्र, डाक्टरने हमें आश्वासन दिया है।"

"किसलिए अब मैं ठीक हूँगा।"

"अपने लिए।"

"मेरा तो अब कुछ भी नहीं है।"

"तो हमारे लिए ही मान लो।"

हरीन्द्र चुप हो जाता।

दूसरे दिन पेटमें दर्द उठा। खाटपर मछलीकी तरह तड़पता रहा। डाक्टर दवापर दवा बदल रहे थे। पेटपर पट्टियाँ बाँधी जा रही थीं। मृणालने यह काम किया। थोड़ी देर बाद दर्द शान्त हुआ तो नींद आ गयी। बहुत देर बाद आँख खुलनेपर देखा मृणाल बैठी है। उसने आँखें बन्द कर लीं। मानो फिर सो रहा हो। मृणालने पूछा तो चुप! अचानक आँखें खोलकर कहने लगा—

"तुम मेरे पास क्यों बैठी हो? जाओ अपना काम करो, जाओ।"

"इसलिए कि तुम्हें मेरी सेवाकी जरूरत है।"

"नहीं, मुझे वहाँसे बार-बार लौटानेकी जरूरत नहीं है। मुझे मरने दो मृणाल।"

"मरना आसान है, जीना मुश्किल, हरीन्द्र बाबू।"

"मैं इसका उलटा मानता हूँ।"

"इसलिए कि तुम्हें जीनेका सुख नहीं मिला।"

शोभन आकर एक कुर्सीपर बैठ गया।

"सुख जीवनमें है मृत्युमें नहीं, हरीन्द्र! मुझे विश्वास है मृणाल तुम्हारे विचार बदल सकेगी। क्यों मृणाल?"

"हरीन्द्र बाबू जीवनसे हार गये हैं इसीसे ऐसा कहते हैं।"

"मैं हार गया हूँ ?"

"हारे न हों, पर जीते नहीं हैं।" मृणालने कह दिया।

हरीन्द्र दोनोंकी ओर देखता रहा। मृणालने शीशीमेंसे दवा निकालकर देते हुए कहा, "लो, यह ज़िन्दगीके घूँट हैं हरीन्द्र बाबू पी लो।"

चिड़चिड़ा हरीन्द्र कपिला गायकी तरह उठा और दवा पीकर लेट गया।

अब वह धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहा था और मृणाल धीरे-धीरे अस्वस्थ।

× × ×

रोहितने शोभनसे एक दिन आकर कहा, "चाहता हूँ नौकरी छोड़ दूँ।"

"फिर क्या करोगे ?"

"विद्रोह !"

'किससे ? अपनी सरकार से ?'

"मैं ऊब रहा हूँ। कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मेरा पद घटा दिया गया है, उत्साह भंग हो गया है। जैसे मैं एक खिलौना हूँ, कुछ लोगोंके हाथका खिलौना शोभन दा ?"

शोभन थोड़ी देर तक चुप रहा। फिर बोला, "छोड़नेपर कोई अच्छा काम कर सको तो ज़रूर छोड़ दो।"

रोहितको कुछ न सूझा कि नौकरी छोड़ देनेपर और अच्छा काम क्या हो सकता है। वह सोचने लगा नौकरी एक सोनेका पिंजड़ा है जो चारों तरफ़से उन्मुक्त हवाके लिए बन्द रहता है। जो लोग उसमें रहनेके आदी हो जाते हैं वे उसीमें बन्द रहना पसन्द करते हैं। उसे याद आया उसने कहीं पढ़ा था एक बार पिंजड़ेके तोतेके पास उड़ता हुआ जंगली तोता आ गया। पिंजड़ेके तोतेने देखा तो उसकी गर्दन मालासे खाली थी। बोलना भी

उसे ठीकसे नहीं आता था। इधरसे उधर उड़ रहा था। जैसे भूखा हो। बन्दी तोतेने देखा तो हँस दिया, नफ़रतसे उसकी भौंहें तन गयीं। अपने पंजेसे मिर्चका खाया हुआ टुकड़ा जालीसे बाहर करता हुआ बोला, "ले खा ले। भूखा है।"

उन्मुक्त तोतेने सूँघा तो ठुकराकर उड़ने लगा। तोतेको बड़ा गुस्सा आया, "बड़ा बेवकूफ़ मालूम होता है। अरे, इतनी बढ़िया मिर्च है तेरे बाप-ने भी नहीं खायी होगी।"

मुक्त तोतेने जाते-जाते जवाब दिया, "क्या तू नहीं जानता हम किसी-की दयाके भिखारी नहीं हैं? किसीकी दी हुई कोई चीज़ नहीं खाते। अपने परिश्रमसे तोड़ते हैं और खाते हैं।"

"लेकिन सुन तो मैं तो दूसरों का दिया ही खाता हूँ।"

"तेरे ख़ूनमें स्वावलम्बनका अभाव है। तू स्वतन्त्रताका आनन्द नहीं जानता।"

"स्वतन्त्रता क्या होती है मित्र ?"

"वह, जिसका आनन्द तूने कभी नहीं भोगा।"

रोहित सोचता रहा—मेरी आत्मा, मेरी बुद्धि, मेरा कौशल बिक गया है। मैं बिक गया हूँ।

यह वाक्य उसने जोरसे कहे तो शोभनने उत्तर दिया, "यह भी कोई बुरी बात नहीं है यदि तुम देशके निर्माणके लिए बिकते हो। पहले स्व-तन्त्रता पानेके लिए कष्ट उठाये तो अब स्वतन्त्रताको स्थिर करनेके लिए कष्ट उठाओ, अपनेको बेचो रोहित। जैसे स्वतन्त्रता बलिदान चाहती है वैसे ही निर्माण भी बलिदान चाहता है। केवल प्रक्रियामें अन्तर है।"

हरीन्द्र वहीं लेटा था। सुना तो उठ पड़ा। और शोभनके पैरोंपर गिर पड़ा। "तुम ठीक कहते हो शोभन दा! रोहित, हम सब एक ही पथके पथिक हैं चाहे भीतर रहकर चलें या बाहर रहकर। आज मुझे भी

नये जीवनकी झाँकी मिली। मैं अब मरना नहीं चाहता रोहित! मरना नहीं चाहता!"

× × ×

वह हफ़्ता वैसे ही बीत गया। हरीन्द्र खाटपर पड़ा छतकी लम्बाई-चौड़ाईमें अपने पिछले जीवनके स्वप्नोंमें वर्तमानको नापता। वह सोचता आखिर अब आगे क्या? क्या करे वह? इसी तरह पड़ा रहे? स्वस्थ मन एक जगह निकम्मा पड़ा नहीं रह सकता। वह कुछ न कुछ करना चाहता है। पर क्या करे? इधर मृणालकी सेवा और शोभन दाकी देख-रेखने जहाँ उसे स्वस्थ बनाया वहाँ उसमें विभिन्न प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ भर दी थीं। घूम-फिरकर उसकी निगाह मृणालपर आकर टिक जाती। वह उसमें अपने मनको केन्द्रित पाता। जैसे उड़ता हुआ कोई कबूतर दरबेमें आकर बैठ जाता हो। पत्नी और बच्चोंकी यादकी विह्वलता लहरकी तरह उठती और मृणालकी आँखोंकी विशाल गम्भीर चिन्तनकी नदीकी धारमें बह जाती। कभी वह सोचता आखिर मृणाल क्या सोचती है उसको? कैसा मानती है? क्या सचमुच जैसा वह सोचता है उसके सम्बन्धमें वैसा ही वह भी मानती है? शोभन दाने इसका विवाह अभी तक क्यों नहीं किया या मृणाल खुद इतनी स्वतन्त्र है कि शोभनको अब कुछ करनेकी ज़रूरत ही नहीं? पढ़ी-लिखी युवती, एक अथाह झील-सी गहरी, जिसका पानी मदकी तरह ऊपर छलछलाता है पर क्या मृणाल सतहके पानीकी तरह ही है उसके बीचमें, उसके तलमें भी तो वह अपनेमें है ही। वह क्या है?"

इसी तरहकी बातें वह सोचता रहता। उस दिन वह दिन भर मृणाल-को नहीं देख पाया। खानेकी व्यवस्था नौकर कर गया। दवाके समय दवा पीनेकी ताकीद कर दी गयी। शोभन दा कुछ दिनोंके लिए बाहर चले गये थे। कुन्तल उस ओर झाँकती भी नहीं थी, जैसे डरती हो। नौकर उसीके कहनेसे आकर पूछ जाता। गुप्ता भी जाने कहाँ था।

रोहित भी जैसे तिरोहित था। हरीन्द्र एकाकी सोचते-सोचते परेशान हो गया।

एक बार उसके मनमें स्वयंचालित वेदना उठी। उसने निश्चय किया उसे अपनी पहली जगह चला जाना चाहिए। वह अब वहीं रहेगा। वह उठकर खड़ा हो गया, जैसे जा ही रहा हो। खड़े होकर उसने कुर्तेके बटन लगाये। पाजामेकी सिलवटें ठीक कीं। जूता पहना। लकड़ी उठायी। तो क्या दवा वह ले चले? क्या होगा दवाका अब? ऐसे ही ठीक हूँ। वह खड़ा ही रहा। फिर उसे लगा: क्या वह उस जगह अब रह सकेगा? जङ्गलमें, बियाबान मैदानमें? जहाँ कभी कोई लकड़हारा, या वनका अफ़सर, कोई सिपाही ही दिखायी दे पाते हैं? नहीं, नहीं, अब वहाँ रहना मुश्किल है। क्या करेगा वह अकेला पड़ा? क्या करेगा? खायेगा क्या? वही जड़-मूल, पत्ते, खट्टे आम, जंगली बेर, तीते जामुन? ओह, आज मेरा वह मन कहाँ गया? वह गुस्सा, वह घृणा, नफ़रत, मनुष्यको न देखनेकी प्रतिज्ञा! वह बीमारी, वह मर जानेकी धुन! न जाने क्या हुए वे सब? कितना बुरा हुआ! जैसे उन पुरानी बातोंको वह बुलाकर मनमें सहेजने लगा, और बाहर चल दिया। कल्पित घृणासे गली मुहल्लेके लोगोंको देखना शुरू किया। फिर भी उसे लगा जैसे वे सब अब उसे उतने बुरे नहीं लगते। वह चाहने लगा सब बुरे लगने लगें, सब स्वार्थी, निकम्मे, बदमाश, आवारा दिखायी दें। उसने पिछली बातें याद करके दाँत पीसे, आँखें चढ़ायीं, गुस्सा भरा।

एक बालक गोरा मोटा भोला जो बेफ़िक्रीमें भरा उसकी लकड़ीसे आकर टकराया तो उसके जीमें आया वह लकड़ी उसके दे मारे। उसने लकड़ी तानी और मारने ही वाला था कि ज़रा सहमा-सा लड़का निरीह आँखोंसे उसे देखने लगा। एक अजीब स्नेहसे उसने हरीन्द्रको देखा। हरीन्द्रकी उठी लकड़ी जुम्बिश खा गयी। जैसे साँपका उठा हुआ फन बैठ गया।

हरीन्द्रने कठोरतासे पूछा, "तू कौन है?" लड़केने ज़रा देर उसे देखते

रहनेके बाद उत्तर दिया, "मैं लड़का हूँ, लड़का, माँ मुझे बहुत प्यार करती है। तुम मुझे मारोगे ? मारना मत, भला !"

उस लड़केने फिर लकड़ी छुई, उसपर हाथ फेरने लगा। बालकके लहजे, कहनेके ढंगने हरीन्द्रको मौन बना दिया। वह चुपचाप आगे बढ़ रहा था। पैर भारी हो रहे थे। जैसे सपाट सड़कपर नहीं रेतमें चल रहा हो।

सड़कके मोड़पर जाकर वह खड़ा हो गया। सामने पानकी दुकानपर काफ़ी भीड़ थी। लोग हँस-हँस कर पान खा रहे थे। जैसे उनकी मस्तीका तूफ़ान उड़ रहा हो। हरीन्द्र सोचने लगा, "क्या जीवन इतना सुखी है ? कितना हँस रहे हैं ये लोग। और मैं....!"

देर तक 'मैं' शब्द उसके मस्तकमें गूँजता रहा। उसने साँसमें पम्प करके कठोरता भरी और कुछ दूर चला ही था कि सामने गुप्ता आता दिखाई दिया। इस समय वह और दिनोंसे अधिक ख़ुश नज़र आ रहा था। मोटे और साँवले शरीरमें सुर्खी झाँक रही थी। पैर लपक-लपक कर पड़ रहे थे। कुरते की बाँहें चढ़ाये धोतीका एक कोना हाथमें दबाये शक्ति की तरह आ रहा था। अचानक हरीन्द्रको देखा तो जैसे दौड़ती साइकिलमें ब्रेक लग गया।

"अरे, हरीन्द्र बाबू, आप कहाँ जा रहे हैं ? आप भी ख़ूब हैं ! डाक्टर क्या इधर रहता है ? चलिए, मैं बताऊँ। चलिए। पीछे मुड़ना होगा। आप रास्ता भूल गये हैं।"

"मैं रास्ता नहीं भूला हूँ, गुप्ता ! मेरा यही रास्ता है !"

"यानी ?" इतना कहते हुए उसने हाथ पकड़ा। हरीन्द्र फिर भी अड़ा खड़ा था।

"क्या मतलब ?"

"कुछ नहीं।"

"तो चलिए। मुझे भी उधर ही जाना है। न होगा आपके साथ ही शोभन दाके घर चला चलूँगा। कई दिनोंसे गया भी नहीं हूँ। नाराज़ तो होंगे लेकिन उनकी नाराजी तो मुझे वरदान है हरीन्द्र बाबू! वे देवता हैं, देवता। लेक़िन वे तो, सुना, बाहर गये हैं न? मैं भी कैसा भुलक्कड़ हूँ।" इतना कहकर उसने हल्केसे अपने गालपर एक थप्पड़ मारा। और हरीन्द्र-की ओर बिना देखे उसका हाथ पकड़ कर चला तो दुकानके पानवालोंने रोक लिया। हाहा-हूहूके साथ पान खाये।

एक पान हरीन्द्रने भी खाया तो गुप्ता बोला, 'पान तो बस, चिरंजी लगाता है। क्या कमाल है! दोस्त, ज़रा चूना दो।' इसके बाद रातको होने वाले नाटकको देखनेका आग्रह पूर्वक निमन्त्रण पाकर गुप्ता चला।

हरीन्द्र जैसे सब भूल गया। वह गुप्ताके साथ क़दमसे क़दम बाँध कर चलने लगा। उसने देखा डाक्टरके साथ मरीज़ भी हँस-हँस कर बातें कर रहे हैं। एक सेठ छड़ीपर दोनों हाथ टिकाये कुर्सीपर बैठा व्याख्यान झाड़ रहा है। पास एक बीमार बुढ़िया मरनेके क़रीब होती हुई भी ज़िन्दा रहनेके लिए डाक्टरसे दवा माँग रही है। बीमार कराहते-खाँसते हुए भी पास-पड़ोस, गली-मुहल्लेके लोगोंकी बातें कर रहे हैं। और डाक्टर है जो दवाके साथ सान्त्वना, सहानुभूतिके साथ स्वास्थ्य बाँट रहा है। हरीन्द्रको देखते ही डाक्टरने पास बैठा लिया। अब गुप्ता निधड़क नगरपालिकाके चुनावकी बातें कर रहा था। मोटा सेठ जब हँसता तो लगता जैसे झरना कलकल करके बह रहा हो—'खिल-खिल खिल-खिल!'

बुढ़िया पुराने ज़मानेकी बातें सुना रही थी। पास बैठा एक बीमार बीड़ी माँग कर पी रहा था। जिसकी आँखें आ गयी थीं, वह हथेलीसे पोंछता हुआ भी साथीसे गुप-चुप बातें कर रहा था। और डाक्टर था जो फूलकी तरह खिलकर लोगोंमें सुगन्ध भर रहा था।

हरीन्द्रकी ओर बिना देखे ही डाक्टर कह रहा था, 'बस, ठीक हो गये हैं आप। जाइए, अब दवाकी ज़रूरत नहीं है। सब कुछ खाइए, घूमिए,

फिरिए। सेठजी, आपको कोई बीमारी नहीं है। ज़रा चला-फिरा कीजिए। न हो नगरपालिकाका चुनाव लड़ डालिए। भारी शरीर हल्का हो जायगा, क्यों गुप्ता ?'

"जी डाक्टर साहब ! आप ठीक कहते हैं। इन्हें रेसमें दौड़ानेकी ज़रूरत है !"

सेठके मुँहसे फिर हँसीका झरना फूट पड़ा।

"हमें कौन खड़ा करे है डाक्टर साहब, आप वोट दोगे ?"

"क्यों नहीं। हो जाओ तो एक जिमनेज़ियम खुलवा देना।"

"पक्की रही। भूख ठीक कर दो। आपकी बात पक्की रही।"

"देहका मांस' सब कम करो। भूख लगने लगेगी।"

"और दुकानमें कौन बैठेगा डाक्टर साब ?"

"दुकानपर भी बैठो चुनाव भी लड़ो।"

"पक्की रही।" सेठ फिर हँसा तो मांसमें छिपी आँखें दूर रखे दियेकी तरह चमक उठीं।

हरीन्द्र जितनी देर बैठा रहा उसने अनुभव किया जैसे इन बीमारोंमें ज़िन्दा रहनेके लिए एक उतावलापन है, एक बेचैनी है ? इसी बीचमें गुप्ता और पान ले आया। लोगोंने पान खाये।

हरीन्द्र अब इसलिए बेचैन था कि वह क्या सोचे !

: ३ :

डॉ० रांगेय राघव

गुहा मानव चला गया

"मैं नहीं जानती।" कुन्तलने आलमारीमें कपड़े रखते हुए धीरेसे कहा, मानो वह इसमें अधिक दिलचस्पी नहीं ले रही थी।

शोभन दा घूमने लगे। कमरेकी निस्तब्धता मानो उनके भीतरकी हलचलका ही मिथ्या प्रतिबिम्ब थी—कि जैसे आजका सभ्य मनुष्य है: भीतर कोलाहल, बाहर स्मितमय दिखावा युगका प्रतिनिधित्व मानो सौन्दर्यकी अनपेक्ष प्रतारणामें जन्मा है और छलावेके रूपमें हुआ है उसका विकास।

शोभन दाकी इस अवस्थाको कुन्तल समझ गयी। क्योंकि उसने सदा ही उन्हें एक विचित्र विस्मयसे देखा है। मानो पुरुष एक ऐसी आसक्ति है जो आवेशोंकी दोलामें झूलती है किन्तु जिसका मूल तादात्म्य विकेन्द्रीकरणमें ही सन्निहित है। आकाशका शून्य और पुरुषकी महत्त्वाकांक्षा, दोनों ही उस जिजीविषाके अहंकारकी अभिव्यक्तियाँ हैं। एक असीमकी है, दूसरी परिधि-बद्धकी। दोनोंकी होड़ ही इन समस्त कलाओंको जन्म देती चली जा रही है, जिसमें स्त्री धरतीकी माटी बनकर अपने अनेक रूपोंमें प्रतिबिम्बित होती हुई भी अभी तक अपना स्थान ठीक नहीं बना सकी है।

इस समय कुन्तलके अनुसार शोभन दा सोचते हैं कि उत्तरदायित्व राष्ट्रका सम्बल है, और किसी भी प्रकारकी नकारात्मकता मूलतः उस जड़वादसे जन्म लेती है जो व्यक्तित्वको सीमित कर लेता है, अपनेको

विस्तार नहीं देना चाहता। परन्तु सम्भवतः शोभन दा केवल यह सोच रहे थे कि हरीन्द्र कहाँ गया होगा ? क्यों चला गया वह !

पूछा : "मीनलके जानेके बाद गया वह या पहले ही ?"

"बादमें ही।"

"रोहित कभी इधर आया था ?"

"नहीं; उसपर सन्देहकी आवश्यकता नहीं। वह इधर दिखा ही नहीं।"

"और गुप्ता ?"

"गुप्ताने उसे अन्तिम बार डाक्टरके यहाँ छोड़ा था।"

"तो फिर !" शोभन दा चुप हो गये। उन्हें घृणा हुई हरीन्द्रसे। प्रलय झेलकर भी जीवनके प्रति आस्तिक भावना रखनेवाले मनुका देश है यह। हमारे पूर्वजोंने सहस्राब्दियोंके मननके उपरान्त समझा था कि मनुष्य अपने एक जीवनमें पूर्ण नहीं। हमारी ही संस्कृतिके एक श्रमणने जीवनका सबसे बड़ा सत्य प्रस्तुत किया कि पहला आर्य्यसत्य दुःखकी सत्ताकी स्वीकृति है। क्या इस चिरन्तन सत्यकी छाया अब भारतसे उठ जायेगी ! जाति उठती है, गिर जाती है, मिट जाती है। केवल हम ही तो हैं जिन्होंने अपने अभावात्मक दुःखको स्वीकार करके आततायियोंको एकके बाद एक करके मिट जाते हुए देखा है !

हठात् रोहितका चेहरा आँखोंके सामने घूम गया। वह इस प्राचीन मर्यादाको उपहासास्पद बताता है क्योंकि उसे यह वनस्पति जीवनका प्रतीक लगता है। आनेवाला आया : कोई पत्ते तोड़ ले गया, कोई डालें काट ले गया। परन्तु वृक्ष लू और बर्फ़में भी खड़ा रहा, आकाशमें अकस्मात् आ छानेवाले मेघोंके सहारे जीता हुआ। यह भी क्या जीवन हुआ ? जीवनको गति चाहिए, ओज चाहिए। रोहित हुमकते वक्षों और बजती धमनियोंका कम्पन चाहता है। और वास्तवमें यह है क्या ?

शोभन दा बर्ट्रेण्ड रसेलकी व्यग्रतासे भर उठे। हरीन्द्रके जीवनका

सार क्या है ? त्याग। किस लिए ? देशके लिए। देश क्या है ? व्यक्तियों-का समूह। उनमेंसे किसने कहा कि त्याग कर तू, अपने आपको होम दे ? किसीने नहीं। फिर क्यों किया यह उसने ? लघुता जिसे प्रिय नहीं होती वह व्यक्तित्वकी परिधि तोड़कर देश, साहित्य, कला और संस्कृतिके नामों-के छद्ममें यश प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। सबसे बड़ा है वह आवेश जिसमें गाँधीकी तरह, बुद्धकी तरह आदमी अपनेको गला-गलाकर अपनी महत्त्वाकांक्षाको तृप्त करता है। महत्त्वाकांक्षा ही तो अहंकार है ! क्यों हठात् कोई सोचता है कि हम जो हैं हमें उससे अच्छा होना है ? होना अपने आपमें सर्वकालिक है। निरन्तर अविच्छिन्न बहते समयमें स्पर्धारत दौड़ नहीं, वह तो एक प्रवाह है। उस काल-प्रवाहको खण्ड-खण्ड करके उसमें युग बनते हैं, मनुष्यके लघु और सापेक्ष अहंकारकी तृप्तिके लिए और वह निर्माणकी रिरिंसा—रमण करनेके आनन्द—की इच्छामें अपनेको बहलाता है, अपने क्षुद्र मानससे अकूल और अछोर सृष्टिका रहस्य अपनी मुट्ठीमें बाँध लेना चाहता है। विशाल चट्टानपर रेंगनेवाली एक छोटी-सी चींटीकी इतनी स्पर्धा वह अखिल ब्रह्माण्डको नाप डाले ! सारे यूरोपने बर्बरतासे आँखें खोलीं तो परमात्मासे वैसे ही विद्रोह किया जैसे मिल्टनके लूसीफ़रने। अनन्त आकाशमें विजय यात्रा करके वह पृथ्वी ढूँढ़ने निकला। और क्या देखा उसने ? दान्तेका नरक ! और उसका मापदण्ड क्या था ? ईसा ! मनुष्योंमें महान्, परन्तु अनवद्य विकासमें एक बौना। बौना, वैसा ही जैसा कि अरस्तू था, कोपर्निकस था, गैलीलियो था....मार्क्स था....!

शोभन दा जैसे चौंक उठे।

"आ सकता हूँ ?"

शोभनने देखा : रोहित।

"आओ रोहित !"

वह आया, बैठ गया।

"कुछ चाय-वाय ?" कुन्तलकी ओर देखते हुए उसने कहा।

"मिल जायेगी।" कुन्तलने मुसकराकर कहा। रोहितको सन्तोष हुआ। सम्भवतः वह सोच नहीं पाया कि मनीषाका अन्त तृष्णा है, और ज्ञान मिलता है जब मुट्ठीमें रोटी निचोड़ी जाती है, कभी लोहूकी बूँद-सा, कभी ईमानके पसीने-सा।

"जानते हो?" शोभन दाने कहा।

रोहितने प्रश्नसूचक दृष्टिसे देखा।

"वह हरीन्द्र⋯⋯"

"वह तो चला गया न? आपका नौकर मुझसे उसका पता पूछ रहा था। उसके रहते हुए मुझे यहाँ आना अच्छा नहीं लगता था।"

कुन्तलको मानो आश्रय मिला। उसकी रायमें वह आदमी था ही इस योग्य कि भले आदमी उससे बात भी न करें। हर बातमें व्यङ्ग करता था! कचोट और अभावका विष था उसमें। निरन्तर घृणा ही उसका सम्बल था। बोली: "हाँ, वे चले गये!" फिर शोभन दाकी ओर देख कर कहा: "आपको उनकी बहुत चिन्ता हो रही है।"

"क्यों?" रोहितने कहा: "एक बात पूछ सकता हूँ?"

"पूछो।" शोभन दाने कुर्सीपर पाँव रखकर कुहनीको घुटनेपर दबा हथेली पर गाल रखते कहा। उस समय वे दार्शनिक जैसे लग रहे थे। रोहितने कहा: "वह मुझे घृणाकी आँखसे देखता था शोभन दा! ठीक है न?"

"मैं नहीं जानता।"

"क्यों नहीं जानते? मैं क्या भूल गया हूँ कि मीनलने मुझसे कहा था मैं मनुष्य बनना सीखूँ?" उसके स्वरमें तिक्त-सा कुछ छलक आया था। वह कहता गया: "मनुष्यता कहाँ समाप्त होकर कहाँसे प्रारम्भ हो जाती है यह मुझे बता सकेंगे आप?" फिर आप ही हँसकर कहा: "सोचता था राष्ट्रकी सेवा करूँगा, उसे बलिदान चाहिए, परन्तु अब ऐसा सोचना मैंने बन्द कर दिया है!"

"क्यों?" शोभन दाको धक्का-सा लगा। कल तक जो उद्विग्न-सा

उनसे सलाह लेने आया करता था, वह आज अपने ही किसी निष्कर्षपर पहुँच कर जड़ हो गया ? कहा : "रोहित, मुझे तुम कुछ डाँवाडोल दिखाई देते हो।"

"नहीं", रोहितने कहा : "सबसे बड़ा रुपैया, बड़ा बाप न भैया! शोभन भैया! नौकरी नहीं छोड़नी है—यह ब्रह्मसत्य है, बाक़ी सब जगन्मिथ्या है। क्योंकि सत् और असत्का द्वन्द्वात्मक विकास होता है और अन्त उसका भौतिकवाद है। कभी-कभी नेचर एक लीप, उछाल, ले लेती है; मैं वही ले गया हूँ।" उसने कुछ मुखर तरीक़ेसे हँसते हुए कहा, "और अब मैं भारतीय संस्कृतिके शताब्दियों-सहस्राब्दियोंके चिन्तनके निचोड़पर आ पहुँचा हूँ कि जाने-अनजाने पाप मनुष्यसे हो ही जाते हैं। जो हो जाते हैं, उनका फल अवश्य मिलता है। मनुष्य कभी शुरू हुआ हो, तब उसकी ब्रह्मासे डाइरेक्ट डीलिंग थी, अब बीचमें यमदूत है, मिस्टर चित्रगुप्त हैं, और महामहिम यमराज हैं, फिर शंकर महाराजका ईश्वर है और आखिर क्या है ? दुअन्नीकी खद्दरकी टोपी ओढ़ ली, और हाथमें लोटा, बग़लमें सोटा, तीन लोक जागीरीमें!"

कुन्तल खिलखिलाकर हँस पड़ी। शोभन दा भी मुसकरा दिये। रोहितके चेहरेपर घृणा उभर आयी।

कुन्तलकी हँसी अब होंठोंसे गचककर गालोंपर आ गयी थी। बोली : "क्या बात है ? हो गयी किसीसे ? कुछ योजनामें····"

"हा हा हा····पूछो!" रोहितने शोभन दाकी ओर हाथ उठाकर कहा : "देशका निर्माण बताते हैं। हो सकता है भाभी ? निर्माण किसका ? कौन चाहता है निर्माण कराना ? निर्माण उस देशका जिसकी संस्कृतिकी नींव रिश्वतपर रखी है! भोग, राग, पूजा-पाठ जिसका आडम्बर है, जहाँका भगवान भी बेईमान रिश्वतख़ोर बना दिया गया है वहाँ कोई आदमी शरीफ़ बनकर रह सकता है ? है कोई इसका इलाज ?

आज यदि जीवित रहना है तो झूठ बोलो; ऊपरसे उजले रहो। भाभी! नैतिकता कहीं नहीं। लोग काम नहीं करना चाहते। आज़ादी! आज़ादी-की यह कल्पना थी किसीकी?"

"हाँ," शोभन दाने पाँव नीचे उतारते हुए कहा, "यूरोपके व्यक्ति-वादने यह असन्तोष दिया है। वह भारतपर चमक-दमक बनकर छा गया है। विनोबा उसीके विरुद्ध तो चल रहे हैं।"

"माफ़ करना शोभन दा! कुछ मैंने भी पढ़ा है। पैग़म्बरका जन्म होता है—जब वह अपने जोड़-तोड़ मिलाकर कुछ ऐसी पक्की धारणाएँ बना लेता है कि आगे सोचना बन्द कर देता है। जब मनुष्य मूर्ख हो जाता है, जब उसकी विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है, जब वह अपने अहंकारको सर्वोपरि समझ लेता है, तब वह लोक-कल्याण करने निकलता है। इसे मैं उस पागलपनकी स्टेज समझता हूँ, जब आदमी अपने नाम और अपनी धारणाके लिए जानकी भी परवाह नहीं करता। यही ईसा, मुहम्मद, बुद्ध और गान्धी थे, यही मार्क्स था। कोई था इनमें जो अपनेको तनिक भी ग़लत समझता था? बिलकुल नहीं। लेकिन मनुष्य इतनी मूर्खतापर जीवनभर अडिग बना रहे यही स्तुत्य है, क्योंकि अपनेको इतना सिड़ी बना लेना सहज नहीं। लेकिन उनके चेलोंकी क्या कही जाये? विनोबा! गान्धीने बालूमेंसे कमसे-कम तिल बोनकर तेल निकालना चाहा था। विनोबा कहते हैं कि जिस बालूमेंसे गान्धीने तिल निकाले थे वह स्वयं तिल है, और हमें उसीमेंसे तेल निकालना है। यदि मेरी बात नहीं मानते तो पूछता हूँ कि नेहरू और विनोबा कहाँ एक हैं? विनोबाको नेहरू ग्रीक दार्शनिक लगते हैं क्योंकि वे प्रत्येक सौन्दर्यके प्रेमी हैं। और नेहरूके लिए तो विनोबा हैं ही बाबा! क्या है इस युगका आदर्श? झूठ और पेटका धन्धा। अरे भाई, कुछ नाम कमा लो!"

"छिः," कुन्तलने काटकर कहा: "सबको एक लाठीसे हाँक रहे हैं।"

"हाँ हाँ," रोहितने मुखको विकृत करके कहा : "भाभी ! यही वह प्राचीन देश है जिसमें मुर्देपर बैठकर शराब पीकर देवताको सेनेकी भी धर्मप्रणाली थी। जनता आज भी मुर्दा है। और नेता उसपर बैठकर अधिकार और धनको से रहे हैं। मदान्ध प्राणी ! उन्होंने अफ़सरोंको तो कठपुतली बना दिया है।"

अब कुन्तल मुसकरायी। कहा : "बुरा न मानना ! तुम्हारा वर्ग बड़ा बे-मुरव्वत होता है। तुम पहलेसे मौजूद कोढ़ थे, नेताशाही तो खाज है जो बादमें पैदा होकर बेचैन कर रही है। असलियत यह है कि हम सब किसी ठीक रास्तेपर नहीं पहुँचे हैं। अपनी-अपनी ढफली अपना-अपना राग। तभी तो सब ऐसा विकृत हो रहा है !"

उसने शोभन दाकी ओर स्वीकृतिके लिए देखा।

"मेरी चाय !" रोहितने कहा।

"बनाती हूँ।"

"नौकर कहाँ गया ?"

"अब नये ज़मानेमें तो हर जगह छुट्टी चाहिए न भैया !" कुन्तलने व्यंग्य, खीझ और कुछ घृणासे हँसते हुए कहा, "सो हमारे घरमें भी शोषित वर्गने ट्रेड यूनियन स्थापित की है। नये ज़मानेमें तो अपने हाथसे काम करो।"

रोहितने सिर हिलाया और कहा : "वाह वाह ! आ चला घुटनों तक पानी ! सोचो इस सांस्कृतिक मर्यादा और नेहरूके गौरव देशमें कितने हैं जो रिश्वत देकर काम नहीं निकालते, कितने अफ़सर हैं जो रिश्वत नहीं लेते, और नेताओंमें भी कितने हैं जो बेईमानीको आसरा नहीं देते—तब मेरा क्या हाल होता होगा ?"

"ठीक है," कुन्तलने कहा, "हम कैसे कह दें कि हम ही ठीक हैं। हो सकता है हम इसीलिए चिढ़े हुए हों कि हमारे पुराने अधिकार छिने जा रहे हैं। जब-जब नयी व्यवस्था आती है, पुरानी व्यवस्थामें सुख पाने-

वाले, सदा उसे दोष देते हैं। दुनिया बहती चली जाती है, पीढ़ियाँ सरक जाती हैं। आये हैं तो हम अपनेको जीवित रखनेके लिए रहें, वे अपनेको। झगड़े-टण्टे चलते ही रहेंगे। इसीलिए क्या जिन्हें महान् माना जाता है उनपर कीचड़ डालना चाहिए?"

कुन्तलने दियासलाई उठायी और कहा : "अरे!"

"क्यों क्या हुआ? शोभन दाने पूछा।"

रोहितने कहा : "मुझसे पूछो भैया! प्राचीन संस्कृतिमें मायावादी भारतीयोंमें उद्योग और निर्माणके नामपर नया कल्ट जागा है कि छकान-चक्क कल्ट! साठकी जगह चालीस तिलियाँ होंगी! है न भाभी?"

"सच! अभी ही तो बक्स खोला है।"

"बात यों है," रोहितने कहा : "मज़दूर वक्त निकाल देता है, काम कम करता है। स्थितिको सँभाल सकती है केवल सरकार। मगर सरकार किनकी? पाँच सालके कबूतरोंकी। तो पूँजीपतिने सोचा कि कर दो तीली ही कम!

रोहित और कुन्तल दोनों ठठाकर हँसे। शोभन दा भी मुसकान न रोक सके। कहा : "अरे हर समयमें ऐसा ही होता है। मनुष्योंके समुदाय-में बुरे अच्छे दोनों होते हैं। वर्ना इतिहास-पुराण किसी अच्छेका उदय बताते हैं तो क्यों कोई बुरा मिल जाता है। तुम भारतीय संस्कृतिका ग़लत अर्थ लगाते हो...."

शोभन दा आरामकुर्सीपर लेट गये और बोले : "तुम भी ग़लत नहीं हो रोहित। लेकिन सत्यका केवल एक ही पहलू तो तुमने छुआ है।"

कुन्तल मिट्टीके तेलकी बोतल ले आयी।

"यह स्टोव झिकझिक है। बिजलीका चूल्हा क्यों न ले लो?"

"वह लिया था," शोभन दाने सरलतासे हँसकर कहा और फिर कुन्तलकी ओर देखा।

कुन्तल भी हँसी।

"क्यों क्या हुआ?"

"फिर तुम शोर मचाओगे," शोभन दाने कहा।

रोहितकी उत्सुकता जागी।

"वह हमारा नौकर एक दिन उसपर अपनी बाटाकी रबरकी चप्पल भींग जानेपर सुखाता पाया गया।"

"मैं कहता हूँ," रोहितने कहा : "यह सरकार ही विनोबाकी सबसे बड़ी दुश्मन है, और यह बाबा ऐसे भोले हैं कि इन्हें पता नहीं चलता।"

"तुम्हें तो," कुन्तलने स्टोवमें तेल डालते हुए कहा, "विनोबाकी घबड़ाहट पैदा हो गयी है। गुप्ता होते तो अच्छा रहता। वे कहते संसार मूर्ख है। तुम तो भारतसे प्रारम्भ करते हो, वे संसारसे करते हैं! और हरीन्द्र बाबू तो भगवानको भी समेट लाते हैं।" वह फिर हँसी।

शोभन दाने हाथोंसे आँखें मींडीं और जमुहाई ली। रोहित देखता रहा। कुन्तलने स्टोवमें स्पिरिट डालकर दियासलाई लगायी। शीघ्र ही नीली और हरी लौ उठी। और फिर मानो उसने शून्यका हाहाकार पकड़ लिया और वेगसे पुकारने लगी। कुन्तलने पानी चढ़ा दिया और बैठ गयी।

कमरेमें घोष व्याप्त हो गया, जैसे अनवरत गिरते किसी दूरके महाप्रपातकी वह एक प्रतिध्वनि थी—दूर, सुदूरसे आती हुई। किन्तु उसने वातावरणमें अपनी सत्ताकी अभिव्यक्ति की थी। अब हवामें आग लग गयी थी। मानवकी विजय-यात्राका वह एक और चरण था। अग्नि जल रही थी। कभी गुहामानवने उसे देखकर देवता समझकर नमस्कार किया था। स्त्रीके गर्भकी भाँति वह अग्नि सृष्टिका मूल मानी गयी और कर्म बीज बनकर उसमें पड़-पड़कर नये-नये रूपोंमें उद्भूत होने लगा। कालान्तरमें वही अग्नि ब्रह्म बन गयी और पूर्वजन्मकी शृङ्खलाने जन्म-जन्मान्तर तक होनेवाली वेदनाकी परम्पराको दीपकी भाँति प्रज्वलित कर दिया। आत्माका अनासिक्त अन्धकार नीरव शून्यकी शुष्कतासे निरन्तर संघर्ष करता हुआ हाँफने लगा, मानो यह गति उस चन्द्रमाकी मन्थर विक्रान्त कराह

थी जो आबद्ध-सा पृथ्वीके चारों ओर घूमता चला जा रहा था, मानो यह सूर्यका अनन्त दाह था जिसके अणु विस्फोटोंकी शाश्वत विभीषिका भी उसके अज्ञात महान् भ्रमणको नहीं रोक सकी थी, मानो यह सूर्यके आकर्षक किसी केन्द्र-नक्षत्रका भीम आन्दोलन ही था जिसे मनुष्य नहीं जानते परन्तु जो सम्भाव्य है, मानो उस अज्ञात केन्द्र-नक्षत्रका परिभ्रमण ही था वह जो न जाने आकाश-गंगाके किस स्थविर और विराट''''विराट नक्षत्रके चारों ओर घूमता रहा है''''अग्नि हीका सब प्रसार है, वही अणोरणीयान् है, छोटी होती-होती अपना आकार और ताप कम करती जाती है, मेघोंमें, दीपोंमें, हृदयमें और चेतनामें। उसीको परिचालित करनेका संघर्ष मानवमें न जाने कबसे है, और कब तक चलता चला जायेगा और उसी अग्निके प्रकाशमें बैठनेवाला मानव उसके दाहको भी शीतल कर देना चाहता है! कर सकेगा वह? या भटकता रहेगा? यह छोटे-छोटे पत्थर''''मील पत्थर''''हजारों वर्ष पुराने घिसे हुए''''पैगम्बर, सन्त, महात्मा, नेता, कवि, वैज्ञानिक''''परन्तु यह उतार-चढ़ाव है ही कितना-सा''''इसका प्रसार है ही कितना''''निरवलम्ब दम्भकी अहम्मन्यता जिस प्रकार रूपकी प्रति-च्छविको एक काव्यमें बाँधती है उसी प्रकार ही तो यह''''अनिश्चय ही आजका सत्य है। जब श्रद्धा सर्वोपरि थी उसने कहलाया था—'**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**''''

किन्तु कौन-सा पथ?

कुन्तलने गैस निकाल दी। घोष बन्द हो गया।

चाय तैयार हो गयी।

जब रोहितने प्याला मुँहसे लगाया बाहर पाँवोंकी चाप सुनाई दी।

"कौन है?"

"मैं हूँ।" मीनलने हाथमें बैग लिये प्रवेश किया। माथेपर थोड़ी धूल, आँखोंमें कजरारा उनींदापन। थकन होठोंके कोनोंपर झाँकती हुई, जैसे चोंच खोले खग-शावक नीड़में-से। भौएँ किसी अज्ञातकी अँधेरी करवट-

सी। और सबके ऊपर एक क्लान्त तृप्ति, कर्मकी मर्यादाका सन्तप्त अहं, एक बार इस माटीकी देहका स्वधर्मसे लिप्त वशीकरण''''

कुन्तलने चाय बनाकर दी। मीनल जैसे कुछ कहना चाहती थी, परन्तु कोई पूछ नहीं रहा था। इतना ज्ञात था कि स्कूलके बच्चोंके साथ आउटिंगपर गयी थी। वह बच्चोंको भले ही नया-नया हो, परन्तु मीनलने कभी उसमें आकर्षण नहीं देखा। वह सब रूटीन वर्क था। उसमें स्नेह भले हो, आनन्द नहीं था। आनन्द तो भाव और अभावके संघर्षणसे उत्पन्न चिनगारी है जो समवयस्कोंमें प्राप्त होती है। परन्तु मीनल कुछ कहना चाहती थी। और कोई पूछ नहीं रहा था।

उसने चायका एक घूँट लेकर कहा, "अह चाय! चाय भी कैसा प्यारा जहर है!"

शोभन दाने धीरेसे पूछा : "मिली नहीं ?"

"क्यों नहीं ?" मीनलने कहा, "गुप्ता नहीं हैं यहाँ। वे होते तो कहती।"

"क्यों ?" रोहितने पूछा, "गुप्ताने क्या चायकी एजेन्सी ले ली है ?"

मीनलने मुसकराकर कहा : "अरे वह इतना योग्य हो जाता तो हमारे घर तो सैम्पिलकी ही काफ़ी आ जाती। लेकिन मैं तो आदिम गुहावासी मानवोंकी कहती थी। देख आयी हूँ इस आउटिंगमें। सच बड़ा अजीब-सा लगता है वहाँ! मनुष्य कितना पुराना है!"

"फिर भी कितना नया!" शोभन दाने दूसरी प्याली भरते हुए कहा, "हम क्या गुहा मानवकी भाँति ही नहीं हैं ? वे जो सन्त महात्मा होते हैं, वे ही भीतरके छिपे हुए उस गुहा मानवको जीत पाते हैं। आत्मा-का प्रज्वलित स्वरूप ही आचार्योंकी लघुताका गुरुत्व मिटा सकता है।"

हठात् बात गम्भीर हो गयी। रोहितने प्याला ज़ोरसे मेज़पर रख दिया और काँटा चुभाया, "आत्माका प्रज्वलन सत्य और शिव और

सुन्दरको अहंकारके अन्धकारमें डुबाना ही है। वरना गतिशील, निरन्तर परिवर्तनशीलको कभी पूर्णता नहीं मिली, नहीं मिल रही, कभी नहीं मिलेगी। मनुष्यका गुहामानव सदा जीवित रहेगा, वह सदैव अग्निको जला-कर महत्त्वाकांक्षाकी तृष्णामें दौड़ता रहेगा और अपनी विजय-प्रतीक अग्निकी सदा उपासना करेगा और सदा ही वह मार्ग खोजता फिरेगा और....''

कुन्तलने कहा, "चीनी और डालूँ ?"

किन्तु रोहितने जैसे सुना नहीं। कहा, "शोभन भैया ! तुम इतनी-सी बात नहीं सोच सकते कि धर्म और सत्य, रूप और दर्शनका जन्म व्यक्तिमें है; भले ही वह समाजसे सापेक्ष हो, परन्तु उसे क्रिया-रूप देनेवाला जन-समाज उससे बहुत नीचा है। आप कहेंगे कि समुदाय अब अधिक जाग्रत है, परन्तु बुद्धिजीवीकी तुलना करो।

शोभन दाने कहा, "सत्य पूर्ण है, उसे छाँटो मत।"

"वह सत्य कितना पूर्ण है।" रोहितने कहा, "किसे ज्ञात है ? लोग अव्यक्त कहते हैं। कोई व्यक्तको ही नहीं मानता।"

"वह है।" शोभन दाने कहा, "गान्धीने उसे ही जन-जीवनके मानस-में उतारना चाहा था।"

"हूँ।" रोहितने उत्तर दिया, "लेकिन गान्धीको मैं केवल एक सेनापति मानता हूँ। गान्धी युद्धसे लदे विश्वमें जन्मा था और उसका सारा दर्शन युद्धका दर्शन था। तभी उसे अँगरेज़ोंसे युद्धकालमें इतना जयजयकार मिला और आज वह जादू ही उस नाममें नहीं रहा। जिनकी रोज़ी चले उस नामसे, उन्हें छोड़ दो !"

"क्या कहते हो !" मीनलने काटा "गान्धी और युद्ध !"

"ठीक कहता हूँ मीनल दीदी। मेरी बात तो सुनो। क्यों थी गान्धीकी अहिंसा ? क्योंकि हिंसा थी। उस हिंसासे पहले हिंसा युद्ध करती थी, गान्धीने शक्तिके अभावमें अहिंसाको अपनाया। मानो शस्त्रसे नहीं, तुम

मनुष्य हैं, अपनेको बलिदान देकर लड़ेंगे। देखें आततायीकी बर्बरता कब तक रहती है। याद है न? सिकन्दर महान् विजयी था, क्यों? क्योंकि उसने लड़ाईके तौर-तरीक़े बदल दिये थे। बाबर, नेपोलियनने भी यही किया। यही करना चाहा मार्क्सने। किन्तु उसने केवल युद्धके दलोंमें भेद किया था। गान्धीने वस्तुको दलगत न रखकर जातिगत रखा। युद्धका तरीक़ा बदला। वह उस समय कुछ वैठ ही गया, क्योंकि लोगोंके पास हथियार न थे, और वास्तविक युद्ध आर्थिक था, जिसके लिए समाजमें विप्लवकी गुंजायश नहीं थी। वरना अहिंसाकी आवश्यकता ही क्या थी? और यही युद्ध-प्रवृत्ति उन सबके चिन्तनका आधार है जो निर्माणका, क्रान्तिका, जन-कल्याणका हौसला रखते हैं। अभाव व्यक्तिसे हटकर जनताका मूर्ख अहम्भाव बना कि व्यक्तिको झट पैग़म्बर बना दिया जाता है। नया युद्धकर्ता विनोबा है। मूल प्रवृत्तिमें विनोबा अहंकारका लय नहीं, पुनः प्रतिष्ठा है नये तौर-तरीक़ोंसे। पर चूँकि वह मूल प्रवर्त्तक नहीं, शिष्य है, उसके हाथ-पाँव भी छोटे हैं। जनतन्त्रमें जब चुनावके लिए व्यक्ति खड़ा होता है तब वह यह मानकर चलता है कि वह औरोंपर शासन करनेके योग्य है। यह अहंकार नहीं तो क्या है? जब निर्वाचन ही अशिक्षा और अन्धकारपर आधारित है तो प्राचीन देशकी घृणित जाति-व्यवस्था क्यों न पनपे? जाति ख़तरेमें कब पड़ती है? जब गुण्डेको ताक़तकी ज़रूरत होती है और उसे जनताको बरगलानेका दूसरा कोई हथकण्डा नज़र नहीं आता! संसारके सारे सम्प्रदाय चलानेवाले धर्मगुरु, बुद्ध, पैग़म्बर जो दल बनाके रहे, वे सब पेटके लिए न सही अपने यश और अहंकारकी तुष्टिके लिए ऐसा करते रहे। ईसाने ऐसा नहीं किया और बर्नार्ड शॉने ठीक ही कहा है कि ईसाइयतके नाटकमें ईसा धीरोदात्त नायक था, और पीटर था खलनायक, उसीने तो पोपवादको जन्म दिया!

मीनलने कहा, "वाह ख़ूब रहा! और जनतामें उन्नति न होगी? उसपर आपको कोई विश्वास नहीं?"

रोहितने हाथ फैलाकर कहा, "जनता ! क्या है जनता ? फ़राऊन और वेद निर्माणके कालके मनीषी और साधारण जनकी बुद्धिमें उतना ही अन्तर था जितना आजके मनीषी और जनसमाजमें। समाजमें बुद्धि बढ़ती है परन्तु बुद्धिजीवी भी तो वहींका वहीं रुका नहीं रहता। यह खाई कभी नहीं पटेगी। और सुख कभी नहीं आयेगा। सोचता हूँ—बीसवीं सदी ! अनेक वैज्ञानिक आश्चर्य ! सत्ताके सूक्ष्मतम अणुका विस्फोट ! लेकिन ! स्थैर्य कहाँ ! भारतमें वनस्पति जीवन ! अमेरिकामें धधकती अग्नि ! रूसमें ऊपरसे चमकता सिन्धु, किन्तु भीतरसे अँधियारा ! यूरोप, एक गिरती कराहभरी दीवार ! क्यों ? पूछता हूँ, क्यों ? क्योंकि दासयुगके बाद मनुष्यने अभी तक कोई मार्ग पाया नहीं ! दासयुगके अन्तने जिस मानवीयताको जन्म दिया, अभी तक उससे आगेकी नयी चीज़ नहीं खोज पाये। हमारी मान्यताओंके आधार हज़ारों वर्ष पुराने हैं। ईसाको हुए २००० वर्ष हो चले। मुहम्मदको गये १४०० वर्षके लगभग। मूसाको और भी हजारों वर्ष। ज़रतुष्ट्र ईसासे बहुत पुराना। वैष्णव चिन्तन, महावीर, कन्फ़्यूशियस, सब हज़ारों वर्ष पुराने। केवल एक व्यक्ति मार्क्सने प्रयत्न किया कि मनुष्यको इन सहस्रों वर्षोंसे आगे बढ़ा दे, आगे ! किन्तु उसका मूल चिन्तन, मूल देन क्या है ? कुछ नहीं। वर्गवाद ! वर्गवाद उतना भी व्यापक नहीं जितने वे पुराने विश्वास हैं। आत्मा ! आत्माका प्रज्वलन तो कभी भी हो सकता है। उसपर क्या देश-कालकी मर्यादा नहीं। प्रज्वलनका अर्थ ही कुछ नहीं। रूसकी पार्लियामेण्टमें सदैव एकमत रहता है, पर वे क़लाबाज़ीसे अपनी बात साफ़ बदल जाते हैं।"

शोभन दाने सिर हिलाकर कहा, "देश-कालसे अलग करके देखनेकी आवश्यकता ही क्या है ? सृष्टिसे अहंको अलग मत करो; उसे भी जिजीविषा, जीवित रहनेकी इच्छाका ही रूप क्यों नहीं मान लेते ?"

"हमें जीवित रहनेकी ज़रूरत ही क्या है ?" रोहितने कुण्ठासे पूछा।

"अपने आपसे पूछो। हरीन्द्र होता तो मैं उससे पूछता : मरनेका

यत्न करके भी मर क्यों न गया ? है कुछ जिसका जीवन-मरणपर अपना एकाधिकार है····" शोभन दाने दूर देखते हुए कहा। सामने अनन्त आकाशमें उड़ती एक चील जैसे पंख फटफटा रही थी। उड़े जा रही थी। और अन्तमें उसे उतरकर बैठना कहाँ था ? किसी पेड़पर। भले ही अपनी महत्त्वाकांक्षा तृप्त करनेको वह पेड़की चोटीपर ही बैठ ले क्योंकि वहाँसे अनजाने ही शिकार अच्छा दीखता है। शिकार यानी भूख, यानी पेट, यानी श्रम, यानी कर्म, यानी फलाफल। फिर वही चक्र····

"अब तो तबीयत ठीक हो गयी उनकी ?" मीनलने पूछा।

"तुम्हें नहीं मालूम दीदी ?" कुन्तलने कहा, "वे तो चले गये।"

"कहाँ ?" मीनल चौंक उठी।

"गुहा मानव थे," रोहितने कहा, "किसी गुहामें चले गये !"

मीनलके नयनोंमें तिरस्कार उफन आया।

"तुम मनुष्य तो नहीं हो !" मीनलने कहा।

"हाहाहा····," रोहितने हँसकर कहा, "नाराज़ क्यों होती हो मीनल ? सारा भ्रम तो गुहामानवके बारेमें बन गये रोमाण्टिक भ्रमके कारण है। वह सामूहिक जीवन व्यतीत करता था, कोई भी वस्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति न थी, इसलिए वह बड़ा भोला था—यही न प्रचलित प्रवाद है ? पर कभी बन्दरोंको देखा है ? बन्दर चोरी करता है, परस्पर लड़ता है। दो बन्दरियों-की एक बन्दरके पीछे ईर्ष्याभरी लड़ाई देखी है ? काम, क्रोध, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, यह सम्पत्तिने पैदा नहीं किये, मनुष्यके भीतर थे। सम्पत्तिने अहंकारका विकास किया, अहंकार मनुष्यके 'समस्त' का प्रतिनिधि है कि जिस स्वर्ग-नरकको उसने नहीं देखा उसका उसने न जाने किस अतीतमें ही सृजन कर डाला था। गुहामानवकी विकृति प्रकृतिका अपना त्रिगुणात्मक रूप थी, वह है और रहेगी। उसे सन्तों-महात्माओंने घोर अहंकारके बलपर छिपाया या तुम चाहो कह लो दबाया, उससे शायद तुम्हें तुष्टि हो सके। वह गुहामानव बर्बर था, सृष्टिके रहस्य-

को खोज लेनेका दम्भ उसमें भी था, और वही अज्ञात भयसे अज्ञातको भी मूर्त्त करके उपासना करता था अपने ही परिवेणोंमें बाँधकर। और हम सभ्य मानव भी बर्बर हैं; वही, वही है हमारा भी रूप। हरीन्द्रमें यह और भी तीव्र था, क्योंकि अपने मनसे किये हुए त्यागका वह बदला चाहता था। बाल-बच्चोंकी मौतको वह अपने यशके लिए प्रयोग करना चाहता है। वह चाहता है लोग उसके आगे सिर झुकायें! क्यों? ऐसा बर्बर है उसका अहं! वही अहं जिसने गुहामानवोंके समाजमें एक सर्दारकी व्यवस्थाको जन्म दिया था। लेकिन उस सर्दारको शरीर-बलकी आवश्यकता थी, आजके सर्दार होते हैं नेहरू और विनोबा! इनके साधन ही बदल गये हैं। फिर तुम मुझे क्यों दोषी ठहराती हो? किया त्याग! पर अब चुप रहो। मरना है तो ढिंढोरा क्यों पीटते हो? कोई तुम्हें महान् नहीं कहता तो खिसियाकर गाली क्यों देते हो? ईसाने तो गाली नहीं दी। महावीरने तो गाली नहीं दी। मैं समझता हूँ विकासके इस पक्षमें इन दोसे बड़ा त्यागी आज तक कोई नहीं हुआ। पर वैसे मैं यह नहीं मानता कि इनमें बर्बर मानव विनष्ट हो चुका था। देवत्वका उदय एक मृगतृष्णा है, और इसीलिए जो हम आज मार्ग ढूँढ़ रहे हैं, यह भूल है, मार्ग जंगलमें चरते हिरन नहीं ढूँढ़ते, तुम क्यों ढूँढ़ते हो? हरीन्द्र मार्गपर चला, अब चला नहीं जाता तो गाली देता है।"

"परन्तु," मीनलने विक्षुब्ध स्वरसे कहा, "तुम्हारे कोषमें 'दया' शब्द ही नहीं है! सहानुभूति भी कुछ होती है। इसीका नाम मनुष्यता है।"

"दया!" रोहितने कहा, "मेरे मातहत हैं, मैं उनपर दया करता हूँ। मैं क्या करता हूँ? मैं तो पुर्जा हूँ। दया मेरी कुर्सी करती है। दयामें तो वही है न जिसके बारेमें मैं अभी तक कह रहा था—अहंकार! मीनल दीदी, बहुतसे लोग अपनी दया सन्तुष्ट करनेको पशु-पक्षी पाल लिया करते हैं!"

उसके स्वरमें तिक्त घृणा थी। मीनलने चिढ़कर कहा, "तुम्हारे पास

कोई भावना नहीं है रोहित ? कहते हैं आदमी जैसा नमक खाता है वैसी ही उसकी बुद्धि हो जाती है । तुम नौकरशाह हो अँग्रेज़ी पढ़े । वही तुम्हारी बुद्धि है । मैं होती तो कभी न जाने देती ऐसे दुःखी मनुष्यको ।"

कुन्तलने आशंकासे देखा । शोभन दा एकदम शान्त ।

कुन्तलने बात बदलनेको कहा, "और चाय लोगी ?"

"नहीं ।" अभी भी मीनलका स्वर दीप्त था ।

"तुम चली गयीं," कुन्तलने कहा, "तो हम हरीन्द्रकी देखभाल न कर सके, यही न कहती हो ? पर वे पाँच बार तुम्हें ढूँढ़ने तुम्हारे कमरेकी ओर बढ़ सके, ज़रूरत थी तो मेरी ओर नहीं आ सकते थे ? उनकी यह तृष्णा क्यों थी कि हम सब स्वयं उनकी सेवामें खड़े रहें ? वे स्पेशल वार्ड-की तमन्ना क्यों रखते थे ? जनरल वार्डमें इलाज करानेसे तो मौत ही उन्हें भाती थी ?"

शोभन दाने एक बार दोनोंकी ओर देखा । मीनलका मुख आरक्त हो उठा । रोहितके मुखपर एक विनीत परन्तु हिंस्र मुसकान थी । मीनल कह उठी, "कुन्तल भाभी !" भाभी शब्दपर उसने काफ़ी ज़ोर दिया । लोग कहते हैं कि स्त्री बड़ी स्वार्थभरी होती हैं । वह कौमार्य्यमें केवल अपनी चिन्ता करती है और विवाहके बाद पतिकी भी, क्योंकि पतिसे उसका अटूट स्वार्थ-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । बाक़ी सबसे दरारें खींचना उसीका काम है । मैं इसका तुमको अपवाद समझती थी । लेकिन अब...."

"नहीं समझोगी—यही न कहना चाहती हो ?" कुन्तलने तीखे स्वरसे कहा, "उससे मेरा कुछ बिगड़ेगा नहीं । परन्तु पति ही स्त्रीका अन्तिम मार्ग है, जिस दिन यह जान लोगी...."

"कुन्तल !" हठात् शोभन दाने उसकी बात काट दी । सब चौंक उठे । शोभन दाके लिए वह स्वर अप्रत्याशित रूपसे उठा हुआ था । परन्तु वे शीघ्र ही फिर पुराने शोभन हो गये ।

कहा, "और चाय हो तो इधर डालो न प्यालेमें ?"

कुन्तल चुप खड़ी रही। मानो उसने सुना नहीं। फिर धीरेसे कहा, "ठीक कहते हैं आप। नहीं कहूँगी। मार्ग जिसे मिल गया वह मार्गसे बँध भी तो गया है, यह मुझे नहीं भूलना चाहिए था। दुनियामें बहुतसे लोग हैं। मुझे किसीसे क्या ? मैं तो जो कर सकती थी, किया। पर किसीमें अपने घाव दिखाकर गाली दे-देकर भीख माँगनेकी आदत हो तो मैं क्या कर सकती हूँ ! तुम दया दिखाती हो, दिखाओ !"

"मैं दया नहीं दिखा रही थी," मीनल हाँफ उठी।

"मीनल !" रोहितने स्वर खींचकर कहा।

उस एक क्षण लगा जैसे मीनल एक भयानक अग्नि-सी थहर उठी। शोभन दाने देखा और कहा, "कुन्तल, ज़रा चीनी देना।"

कुन्तलने चम्मच चीनीमें ज़ोरसे गड़ा दिया और व्यंगसे मीनलकी ओर देखकर कहा, "वह तो कर्तव्य ही था न दीदी, या और कुछ ? इतनी पीड़ा है तुम्हारे हृदयमें ? शायद यही सब देखकर गौतम सिद्धार्थने भी घर छोड़ दिया था !"

"मैं भी छोड़ दूँगी।" मीनलने उठते हुए कहा। और उसके मुँहसे घृणासे निकला, "घर....."

कुन्तलने अवाक् होकर देखा। मीनल अपने कमरेमें चली गयी थी। रोहित व्याकुल-सा था, किन्तु शोभन दा नीचे सिर झुकाये कुछ सोचते हुए गम्भीर बैठे थे।

: ४ :

अमृतलाल नागर

राहोंका बिखराव

मीनल गयी; कमरेमें बैठे दोनों पुरुषोंके मनोंपर गलते हिमालय और ज्वारके समुद्रका बोझ डाल गयी।

मीनल गयी; दरवाज़ेसे निकली गोया कुन्तलके कलेजेसे तीर-सी आर पार हो गयी। वह तड़प उठी। उसे लग रहा कि मीनलको इस हदतक नाराज़ कर वह सहसा अपराधिनी बन गयी है। वह अपराधिनी नहीं है फिर भी बन गयी है; वह सहम भी गयी है और सहमना नहीं भी चाहती।

पतिकी गम्भीर मुद्रा देखकर वह महसूस करने लगी कि वे उसे मन ही मन कोस रहे हैं। परिस्थिति और मीनलके प्रति उमड़ता हुआ रोष अपनेपर, अपने पतिपर आ गया। इन्हींके कारण यह नौबत आयी। हरीन्द्र आया—वह कुरूप, क्रूर, घृणाकी गन्दगीमें रहनेवाला कीड़ा! अपनेको बड़ा टेररिस्ट लगाता है। इनका दोस्त, इनका क्लासफ़ेलो—इन्हींके कारण घरमें घुसा और हमारे सुखी जीवनमें गहरी दरार डाल गया। रैस्केल! मीनल उसके लिए घर छोड़कर जा रही है और वे पत्थर-की तरह बैठे हैं। जभी संकट आ पड़ता है तभी ये निकम्मे होकर सोचने बैठ जाते हैं।

पतिकी ओर देखकर कुन्तल और उत्तेजित हो उठी, बोली, "बहन घर छोड़कर जा रही है और आप बैठे फ़िलास्फ़ीका बच्चा जन रहे हैं। अब नहीं सहा जाता मुझसे! मैं भी ज़हर खा लूँगी या डूब जाऊँगी।"

उसका अन्तिम वाक्य आँसुओंकी दलदलमें फँस चुका था पर वह कमरेके बाहर चली गयी।

रोहित मीनलके जानेसे बेकल था, अचानक कुन्तलके क्रोधसे पहले तो स्तब्ध हुआ फिर उसकी बातसे वैसे ही अचानक जोरसे हँसी भी आ गयी।

शोभनकान्त मेहता, मीनलके शोभनदा, पत्नीके इस तरह क्रुद्ध होकर जानेके बाद भी खामोश बैठे रहे। रोहितके अट्टहासपर केवल भवें और माथेकी रेखाएँ उठकर ही रह गयीं, घुटनोंपर बंधे हाथोंकी उँगलियोंने हरकत कर कमरेकी अनुकूल स्वर-तरंगोंका स्वागत किया। रोहित हँसते हुए कह रहा था, "भई शोभनदा, कमाल हो गया! इतने बरसों हज़ार फ़ब्तियाँ ईजाद करनेके बावजूद हम इतनी बढ़िया उपाधि तुम्हारे लिए न खोज पाये थे। भाभी जिन्दाबाद! तुम सचमुच फ़िलास्फ़ीकी सदाबहार जच्चा हो। हःहःहः!"

शोभनने आज रोहितको उत्तेजनाके अतिरंजित रूपमें पाया। वह किसी ताज़ा अपमानके घावको उछल-उछलकर हर किसीकी छू-छूसे बचा रहा था। आम तौरसे ठण्डा और सन्तुलित रहनेवाला शोभनका अन्तर इस समय ज्वारके समुद्रकी गर्मी अनुभव करने लगा। व्यंग तक करनेसे आम तौरपर बचनेवाले शोभन दा रोहितकी बात और धीमे पड़ते अट्ट-हासोंकी उत्तेजना चुकते ही अपने कड़क गम्भीर धीमें स्वरमें रोहितका वातावरण गुंजायमान करने लगे।

रोहित हँस-बोलकर पूरी तरह थक गया था। बातों और ऊपरी तौर-पर व्यक्ति होते हुए तमाम भावोंमें विद्रोहकी मर्दानगी निभाते हुए भी वह अन्दरसे खोखला और बेदम हो चुका था। उसे शोभन दाकी आवाज़ बिजली-सी कड़कती हुई लगी। वे कह रहे थे, "तुम्हारे इस आनन्दकी कुरूपताके आगे हरीन्द्र बहुत सुन्दर है। मैं सन्तुष्ट हूँ कि मेरी बहन मनुष्य परखना जानती है।"

जहरके टूटे दाँतोंवाले काले नागकी तरह रोहित निकम्मी फुफकार

छोड़कर रह गया। शोभन दा फिर बोले, "एक सिरेसे सारे महापुरुषों-को कोस गये। यह न सोचा कि इससे तुम्हारे ही चरित्रका खोखलापन उभरकर आयेगा। हुँह, पूरबको जाना है और पश्चिमकी ओर घोड़ेका मुँह कर रखा है! मैं तुम्हारी तरक्कियोंकी भविष्यवाणी करता हूँ रोहित, अगर यही बुद्धि रही तुम्हारी तो जल्दी ही ए. एस. पी.से थानेदार, फिर हवलदार और फिर चौराहेवाले कांस्टेबल बना दिये जाओगे।"

रोहित अन्दर ही अन्दर उबलता रहा। उसने सिगरेट सुलगा ली। शोभन दा फिर चुटकी काटते हुए बोले, "तुम्हारे कर्म और उनका फल देखकर मेरी यह धारणा पुष्ट हो गयी कि बुद्धिमानोंके वंशमें जब संयोगसे मूर्ख पैदा हो जाता है तो आम तौरपर औसत मूर्खोंसे ज्यादा बड़ा मूर्ख साबित होता है।"

रोहितके लिए अब असह्य हो गया। सहसा सिगरेट पानीभरी ऐश ट्रेमें डाल उत्तेजित हो खड़े होते हुए कहा, "पर-उपदेश कुशल बहुतेरे मिस्टर मेहता, हो सके तो अपनेको सँभालिए! मिसेज मेहता सन्तान पानेके लिए गुप्ताको अपना हाथ बहुत दिखलाया करती हैं और आपकी बहनकी सद्बुद्धि भी आप ही लोगोंको मुबारक रहे! एक रोगी मनकी युवतीके प्रति मेरा आकर्षण खत्म हुआ इसे मैं अपने किसी शुभ ग्रहका उदय होना मानता हूँ।" और रोहित तेज़ीसे बाहर निकल आया।

कुन्तल बरामदेमें ही खड़ी थी। कमरेसे बाहर निकलनेके बाद अन्दर-की बातोंने उसके पैर बाँध दिये थे। उसने दोनों मित्रोंकी गर्मागर्म बातें सुनीं, उसने रोहित द्वारा अपने और गुप्ताके सम्बन्धका रहस्योद्घाटन भी सुना और उसके चेहरेपर तमतमाहट आ गयी। मन सँभल भी नहीं पाया था कि रोहित दरवाजेका पर्दा उठाकर सामने आ गया।

नज़रें चार हुईं। रोहितने फ़ौरन मुँह फेर लिया और तेज़ीसे चलने लगा! कुन्तलने उसका रास्ता रोक ऊँचे कड़कते स्वरमें कहा, "गुप्ता

भाई साहबके साथ मेरा रिश्ता जोड़कर चले कहाँ रोहित बाबू ? आपको मेरे सामने भी वह आरोप दुहराना होगा।"

रोहित बिना उसकी ओर देखे, बिना उत्तर दिये कतरा कर तेज़ीसे चला गया। कुन्तल उत्तेजित अवस्थामें पतिके पास कमरेमें चली गयी, परन्तु पतिसे सामना होनेपर एक-ब-एक उसका दिल धड़क उठा। चोरीके धनकी तरह उस भावको छिपाते और अपना आवेश बढ़ाते हुए वह चीख़कर बोली, "तुम्हारे मित्रोंको क्या मेरा और मीनीका मनमाना अपमान करनेकी छूट भी मिली हुई है ? एक आया, मेरी सोने-सी गृहस्थीमें आग लगाकर चला गया, दूसरा मुझपर ऐब लगा गया, मेरी मीनलका अपमान कर गया ! मैं पूछती हूँ क्या यही आपके समाजकी सभ्यताका नमूना है ?" कहते-कहते उसकी आँखोंमें पानी छलछला उठा।

सरोवर-सी भरी-भरी आँखें और अन्तरके क्रन्दनसे फड़कते हुए कुन्तलके होंठ शोभनके मनमें दया उपजाने लगे। शोभनकान्त उठे, कुन्तलने आँचलसे अपना चेहरा ढँक लिया। शोभनने आहिस्तासे उसके कन्धेपर हाथ रखते कहा, "बीमारकी चिड़चिड़ाहटका बुरा नहीं माना जाता बेबी ! रोहित अपनी सांसारिक असफलतासे दुखी और कुण्ठित है। देख लेना, ठण्डे मनसे किसी भी समय आकर वह तुमसे क्षमा-याचना कर लेगा। मैं जानता हूँ।"

"लेकिन मैं उन्हें अब क्षमा कभी नहीं कर पाऊँगी। उन्होंने मेरा ही नहीं गुप्ता भाई साहबका भी अपराध किया है।"

"अब यह तुम पागलपनकी बातें कर रही हो। क्रोधकी दीवानगीका तर्क कुछ और होता है, समझदारीका कुछ और। अच्छा भूलो इस तमाशेको। मीनी कहाँ है ?"

सुबुकते और आँसू पोंछते हुए कुन्तल मीनीका नाम सुनकर अपराधिनी-सी बन गयी। मीनलकी खैर-खबर लेनेके लिए ही वह अपने पतिपर

नाराज़ होकर कमरेसे बाहर गयी थी, पर उसके पास जानेके बजाय वह बरामदेमें ही खड़ी रह गयी।

शोभन उसके चेहरेकी सकपकाहट देख तुरन्त बोले, "परेशान होनेकी ज़रूरत नहीं, इसीलिए मीनलके जानेपर मैं चिन्तित नहीं हुआ था। जानता हूँ हरीन्द्रको तलाश करने वह अवश्य जायेगी।"

"मेरे कारण आज यह सब उत्पात...."

"भूलो, भूलो यह सब। हर इन्सानका मन एक-सा नहीं होता। मीनलमें दुखी, रोगी और शरणागतकी सेवाका भाव कूट-कूटकर भरा है। यह संस्कार उसने मुझसे ही पाया है। तुम सात वर्षसे हमारे साथ रहते हुए भी लोक-सेवा भावसे न बँधीं। तुम केवल मेरी और मेरी वजहसे मीनलकी सेवा तक ही अपने-आपको सीमित कर लेती हो—तुम्हारा संसार केवल मुझ तक ही सीमित है। मैं यह जानता हूँ।" कहकर उन्होंने कुन्तलको अपनी बाँहमें समेटकर उसके उभरे वक्षको अपनी छातीका नर्म स्पर्श दिया। उनके मन-को ठण्डक पड़ी, इस तरह मानो उन्होंने रोहितके लांछन द्वारा परायी बाँहोंमें पहुँचायी गयी अपनी नारीको अपने पास समेट कर सुरक्षित कर लिया।

कुन्तल पतिकी बाँहमें सचमुच सिमट आयी। उनकी छातीसे लगते ही कन्धेपर सिर टेक कर उसने अपना मुँह गड़ा लिया। कुरते बनियाइनके बावजूद शोभनकान्तको अपनी पत्नीकी साँसोंकी गर्मी अपने कलेजेमें मह-सूस हुई। कुन्तल मानो अपने पतिके हृदयमें समा जानेके लिए बढ़ी आ रही थी। दुबले-पतले शोभनकान्त नारी मनका इतना उद्दाम वेग सम्हाल न पाये, उनके क़दम लड़खड़ाये। उस लड़खड़ाहटपर तत्काल पर्दा डालनेके लिए उनका पुरुष सँभला और उन्होंने दोनों हाथोंसे उसके दोनों बाज़ुओं-को बड़ी मुलायमियतसे थामते हुए उसे अपनेसे तनिक परे रखनेका प्रयत्न किया। कुन्तल भी सँभल गयी। गर्दन उठाते ही दोनों हाथोंसे उसका मुँह थाम उसके लजाते सौन्दर्यको बड़े प्यारसे निहारा और फिर उसके

कपोलपर एक छुई-मुई-सा चुम्बन सँवार कर बोले, "यू आर रिएली ए बेबी माई डियर ! जाओ, देखो मीनल गयी या अभी कमरेमें है ? मेरे ख़यालमें वह मिस गोयलके बँगलेपर चली गयी होगी ।"

कुन्तलके कमरेसे जानेके बाद शोभनकान्त मेहता सन्तुष्ट मनसे बैठ गये। उनके ध्यानमें इस समय उनकी बहन मीनल नहीं थी, हरीन्द्रकी चिन्ता भी नहीं थी; वे तो इस ख़यालसे ही सन्तुष्ट थे कि उनकी पत्नी कुन्तल—उनकी 'बेबी'—अब भी दुखी होनेपर उनकी छातीमें मुँह छिपाती है। कुन्तल उनकी आश्रित है, पत्नी तो है ही। इस प्रकार कुन्तलके प्रति विचार करते हुए वे आत्मगौरव बढ़ा रहे थे।

कुन्तल लौट आयी। शोभनने बड़े विश्वासभरे स्वरमें पूछा, "नहीं है ?"

"बैठी हैं, कुछ लिख रही हैं। मैंने बात भी करना चाहा पर वह बोलती नहीं। वो तो यही समझती हैं कि हरीन्द्र बाबू मेरी वजहसे ही गये हैं। अब ये तो मुझसे होनेसे रहा कि लैलाको भी प्यार करूँ और उसके कुत्तेको भी।"

"बेबी ! बेबी ! समझदार बनो डार्लिंग। किसी शरीफ़ आदमीके लिए इस तरहके शब्दोंका प्रयोग ! छी-छी !"

कुन्तलने साधिकार अपने आदरणीय गुरु और अभिभावक (हाँऽ, पति भी) की बात काट दी। उनसे सटकर सोफ़ापर बैठते हुए लापरवाहीसे बोली, "उहँ जी।....मुझे तो सचमुच एकको छोड़कर और दूसरा शरीफ़ देखनेको नहीं मिला।"

"कौन है वह भाग्यशाली ?" गुदगुदीभरे स्वरमें शोभनने मुसकराते हुए पूछा।

"होगा ऐसा ही कोई भाग्यशाली जिसने मुझे सौभाग्यशाली बनाया।" कुन्तलकी बातसे भी अधिक बातके अन्तमें उसका मदभरी नज़रें उठाकर

अपने पुरुषको देखना उत्तेजक था। शोभनकान्त प्रेमातिरेकमें उसके सिर-पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए आँखें मूँदकर भावमग्न हो गये।

चढ़ते दरियामें मौजोंका थम जाना भला क्योंकर मुमकिन है? पर कुन्तल यह महसूस करती है कि उसके हर जोशकी परिणति इसी प्रकार होती है यद्यपि उसके गुरु पतिकी व्याख्यानुसार यही मनोवेगकी चरम परिणति है। सभ्यता आन्दोलनोंका बाह्य विस्फोट नहीं चाहती; कुन्तलके पतिका कथन है कि रसकी अनुभूति उसकी बाह्य चेतनामें नहीं वरन् उसके अन्दर आन्दोलनमें है। पतिकी बातमें पूर्ण आस्था रखते हुए भी कुन्तलको कभी अन्तरस्थ रसानुभूतिका मज़ा नहीं मिला। इस समय भी वह अपने मनके चढ़ते वेगको लेकर जड़ होने लगी। पतिके कोमल स्पर्शसे बँधी हुई कुन्तलको सहसा यह इच्छा हुई कि उसका पति उसे मारे, खूब—खूब ही!

उसने पास बैठे हुए पतिको बाँहसे हल्का-सा धक्का दिया। शोभनने मानो समाधिसे आँखें खोलीं और रसमग्न दृष्टिसे उसे देखा। मद अलसाई कुन्तल बोली, "कहीं भाग चलो!"

शोभन हँस पड़े। तभी बाहर मोटरके रुकने और दो बार हार्न देनेकी आवाज़ आयी। कुन्तल स्वस्थ होकर खिड़कीपर जाकर देखने लगी। सड़कपर कोई गाड़ी खड़ी तो ज़रूर थी पर उसकी परिचित गाड़ियोंमेंसे न थी। शोभनने पूछा, "किसकी है?"

"अपनी नहीं है··· (हँसकर) याने अपने किसी मिलनेवालेकी नहीं है।"

शोभन इस बातपर मुसकराये। पास पड़ी हुई एक पत्रिका उठाकर उसपर दृष्टि गड़ाते हुए बोले, "अपनी गाड़ी चाहिए बेबी?"

कुन्तलकी आँखोंमें चमक आयी, पर शीघ्र ही पुतलियोंको मानसे फिराती हुई बोली, "ऊँऽ! पूछकर फ़ायदा ही क्या? कभी मेरे मनका तो करोगे नहीं।"

"अच्छा इस बार मैं अपनी बेबीके लिए कार ले दूँगा। गुप्ता आये तो उससे कह देना। वह कोई अच्छी-सी सेकेण्ड हैण्ड कार ख़रीदवा देगा। असलमें यहाँ कारकी ज़रूरत ही नहीं है''''लेकिन ख़ैर।"

तभी कुन्तलने देखा हाथमें बैग लिये हुए मीनल बाहर जा रही है। एक बार उसकी इच्छा हुई कि वह अपने पतिसे कह दे या स्वयं आवाज़ देकर या दौड़कर मीनलको जानेसे रोक ले; पर उसने यह सब न किया। उसकी इच्छा हुई कि मीनल चली जाये।

मीनल बँगलेके फाटकके बाहर पहुँच गयी। उसने एक बार मुड़कर देखा। कुन्तल फ़ौरन ही उसकी नज़रसे क़तराकर दीवारकी ओटमें हो गयी। गाड़ी चली गयी। कुन्तलने तब सोचा कि गाड़ी टैक्सी होगी, जिसे मीनलने आधे बँगलेके किरायेदार और पड़ोसी, एक नगर अधिकारीके यहाँसे टेलीफ़ोन कर सीधे स्टेशनसे मँगाया होगा।

इस शहरमें टैक्सियाँ नहीं चलतीं। स्टेशनपर दो-तीन गाड़ियाँ ऐसी अवश्य हैं जो उनके मालिक-मैकेनिक-ड्राइवरों द्वारा टैक्सी नामसे पुकारी जाती हैं। महगाँवा बाँध तक पहुँचनेवाले कर्मचारी-ठेकेदार आदि ही कभी-कभी उनका इस्तेमाल कर लेते हैं।

गाड़ी चली गयी, मीनल चली गयी। सिर्फ़ एक बैग लेकर गयी है। उसी घृणावादी टेररिस्टके यहाँ गयी होगी! जाये—जहन्नुममें जाये!

कुन्तलको एकबार फिर महसूस हुआ कि उसे पतिको बता ज़रूर देना चाहिए। पर अब कहूँगी तो''''जाने भी दो''''मगर जंगलका मामला है, शामका वक़्त है, पहुँचते-पहुँचते रात हो जायगी। अजनबी ड्राइवर! मीनलने यह अच्छा नहीं किया'''''उसे बचाना चाहिए। इन्हें बता ही देना चाहिए।

शोभनकान्त पत्रिकाके पन्ने उलट रहे थे। कुन्तल कमरेमें चली गयी; मीनीके कमरेमें गयीं। सूना कमरा देखकर एक बारको उसका जी भर

आया। पलँगपर एक लिफ़ाफ़ा पड़ा था। उठाकर देखा, बन्द था—'भाई साहब'के नाम था।

कुन्तल जल उठी। लिफ़ाफ़ेमें ऐसा जाने क्या लिख गयी है जो सिर्फ़ उनके भाई साहब ही पढ़ेंगे ? मैंने जितना ही मीनीको प्यार दिया है उतनी ही उसने काट की है। बड़ी ढोंगी है, मीनल। कुन्तल कुढ़ गयी। बन्द लिफ़ाफ़ा उसके मनमें बार-बार झुँझलाहट जगाने लगा। मीनल जाने क्या लिख गयी हो ! हो सकता है कि अपने भाईको उसकी कोई शिकायत लिख गयी हो ! और मीनलके भाई—याने शोभनकान्त मेहता, यानी कि उसके पति—सदा अवसर आनेपर अपनी बहनका ही पक्ष लेते हैं। वह अपने पतिका स्वभाव जानती है। थोड़ी देर कुन्तल इधर-उधर ऊहापोहमें तिलमिलाती रही, फिर पड़ोसीके घर गयी। पता लगा, मीनल फ़ोन करने आयी थी। फिर लौटकर रसोईघरमें पहुँची। एक बार इच्छा हुई कि स्टोव जलाकर खाना चढ़ा दे। चार दिनोंसे रसोइया नहीं है, छोकरा नौकर तो कई रोज़से ग़ायब था ही। नौकरोंकी बड़ी क़िल्लत है। मह-गाँवामें अफ़सर लोग बढ़ते जाते हैं। उनके लिए नौकर रसोइए शहर छोड़कर भागते जाते हैं। यहाँ पहले नौकर कौड़ियों मोल थे। अब रुख मिलाकर बात भी नहीं करते।

कुन्तल स्टोवकी ओर बढ़ी, फिर बहुत दिनोंसे यों ही रखा कुकर याद आया। कौन देखभालके झंझटमें पड़े ! दो जनोंका ही तो खाना बनाना है। इन्हें आज मीनीके जानेकी ख़बर न दूँ ! पर कैसे न दूँ ? बादमें सुन पायेंगे तो क्रोधके मारे बोलना भी छोड़ देंगे !

कुन्तलने कुकरमें आग रखी, चावल-दाल चढ़ाये, तरकारी भी जैसे-तैसे काटकर एक डिब्बेमें भर दी। फिर उसने सोचा कि चिट्ठी दे ही देनी चाहिए। और अगर मीनलने उसमें उसकी कोई निन्दा की होगी तो वह बादमें उससे समझ लेगी। सुखी रहे अपने काले, कुरूप, चिड़चिड़े, रोगी प्रेमीको लेकर ! सचमुच पत्थर ही पड़ गये हैं मीनलकी बुद्धिपर जो सुन्दर

सजीले रोहितको छोड़कर ऐसे मनहूसको प्यार करती है ! रोहित ठीक ही कहता था, मीनलका मन रोगी है। लेकिन रोहित उसके लिए भी तो कहता था ! तो क्या उसने गुप्ता और कुन्तलमें कोई ऐसी बात देख ली है ? यह ज़रूर है कि गुप्ता कुन्तलको बड़ी गहरी दृष्टिसे देखता है। हाथ देखनेके बहाने वह अपने स्पर्शसे ऐसी गरमाहट देता है जिससे उसका मन जाने कैसा-कैसा हो जाता है। हालाँकि उसने इसे बढ़ावा तो नहीं दिया पर कभी इसका बुरा भी नहीं माना। गुप्ताने हमेशा अकेले उसके साथ इस प्रकारका गर्मागर्म दृष्टि-व्यवहार किया लेकिन उसने कभी उसे शह नहीं दी। फिर रोहितने यह क्या कह दिया ?

अजीब बात थी कि एकान्तमें कुन्तलको रोहितके इस इल्ज़ामपर गुस्सा न आया। रसोईघरसे निकल, मीनीका पत्र लिये वह पतिके पास पहुँची।

पत्र पढ़ते ही शोभन तनिक उत्तेजित हो उठ बैठे। उनकी तनिक-सी उत्तेजना ही कुन्तलकी दृष्टिमें अपार मालूम हुई। उन्होंने पत्र कुन्तलकी ओर गिरा दिया और गम्भीर चिन्तामें मग्न हो गये।

कुन्तल अपनी ननदका पत्र पढ़ने लगी। लिखा था, "....इस समय तो आपके उस दुखी बन्धुकी सेवा करने जा रही हूँ जो इस घरसे अचानक ही रोग और कमजोरीकी हालतमें चले गये। परन्तु वहाँसे लौटकर आने-पर भी मैं यहाँ नहीं रहूँगी। मुझे कुन्तल भाभीसे कोई शिकायत नहीं है। उनके प्रति इस समय भी मेरे मनमें बड़ा आकर्षण है। परन्तु एक बात स्पष्ट है : आजकी बातोंसे भाभीके मनका सत्य पूरी तरह प्रकट हो गया। वे मानवताके सिद्धान्तमें, दीन-दुखीकी सेवामें, विश्वास नहीं रखतीं। उन्हें व्यक्तिगत सुख, वैभव और दुनियादारीकी चाह है। उन्हें आधुनिक भद्र समाजका चमत्कार प्यारा लगता है। मुझे यह भी लगता है कि आप भी भाभीकी विचार-धाराका समर्थन मौन-भावसे करने लगे हैं। अपनी पुरानी मान्यताओंपर आपका विश्वास शायद अब थक चुका है।

"जो हो परन्तु जो मार्ग आपने मुझे दिखाया है, मैं उसपर ही चलती रहूँगी। आप तो अपने हिस्सेकी सेवा कर चुके; राष्ट्रीय आन्दोलनोंमें भाग लिया, अपने मित्रोंको, नयी पीढ़ीको आपने देश-सेवा और मानव-पूजाके लिए बड़ी प्रेरणा दी। आप यदि अब सेवा कार्यके कष्टोंसे बचकर विश्राम भी करें तो अनुचित न होगा; परन्तु मैं अपने आदर्श गुरु और बड़े भाईके बतलाये हुए मार्गपर चलती ही रहूँगी। यही आशीर्वाद चाहती हूँ।....."

पत्र कुन्तलके मनमें मीनीके प्रति घृणा जगा गया। क्रोधसे तमतमाकर बोली, "मीनीके मनमें इतना जहर भरा है यह मैंने कभी स्वप्नमें भी नहीं सोचा था। मैं आपके जीवनकी धारा मोड़ रही हूँ! मैं आपको आराम-तलब बना रही हूँ! जो कुछ कर रही हूँ सब बुरा कर रही हूँ। बुरी तो हूँ ही मैं!"

"उत्तेजनासे काम न लो बेबी। मीनीका पत्र दर्पण है। मैंने उसमें अपना रूप देखा। पहले तो बुरा लगा कि यह लड़की अब मुझे ही उपदेश दे रही है, पर बादमें सोचा कि वह मेरा ही पूर्वरूप मुझे लौटा रही है। मैं जो पहले था वही ब्रह्म रूप था, जो अब हूँ वह भ्रम है। मुझे अपने सत्य रूपको फिरसे पा ही लेना चाहिए।" शोभनकान्त शब्दोंको जमा-जमाकर उस गम्भीरतासे बोल रहे थे जो कुन्तलने अपने और उनके परिचय-के प्रारम्भिक दिनोंमें उनमें पायी थी।

शोभनकान्तकी उस गम्भीरतासे उनके आत्मीय, मित्र, परिचित, सब-कोई सहज ही में परम आदर पूर्वक आतंकित हो जाते थे, कुन्तल भी हुई थी। इस समय पतिमें उसी गम्भीरताके दर्शनकर कुन्तल आतंकसे भर उठी, परन्तु शीघ्र ही उसकी प्रतिक्रिया भी हुई। उसकी भवोंमें बल पड़ गये, क्रोध बवण्डरकी तरह उठ रहा था, मुँहसे निकलनेवाले शब्दोंके साथ-साथ मनके उस बवण्डरकी तेजी उसी प्रकार गूँज रही थी जैसे आतिशी चर्खीकी स्पीडका सर्राटा गूँजता है। कुन्तल कहने लगी, "तुम्हारे उस ब्रह्मी

रूपको पा लेनेके मतलब क्या हैं, यह मैं साफ़-साफ़ सुन लेना चाहती हूँ। अगर तुम यह चाहो कि तुम्हारी बहनकी तरह मैं भी जिस-तिस असभ्य बदतमीज़की गालियाँ सुनते हुए उसकी चाकरी बजाऊँ तो यह मुझसे हरगिज़-हरगिज़ न होगा।"

शोभनकान्त मुसकराये, ठण्डे मीठे स्वरमें बोले, "कस्तूरबाने भी गाँधीके सेवा-धर्मसे पहले ऐसी ही घृणा प्रकट की थी!"

"देखो जी, मैं तुम्हारे कहे नहीं करूँगी जब मनसे उपजेगा तब करूँगी। मैं स्वतन्त्र नारी हूँ—"

"पत्नी भी हो। तुम्हारी स्वतन्त्रतामें कर्त्तव्यका बन्धन भी निहित है।"

"पतिका भी कर्त्तव्य है। यदि विवाह किया है तो गृहस्थी चलाओ। मेरी आशा आकांक्षाएँ हैं, तुम्हें वे पूरी करनी होंगी।"

"मैं अपने कर्त्तव्यसे कब डिगा हूँ?" शोभनके स्वरमें क्रोध झलका।

"अब डिग रहे हो।" कुन्तल स्वच्छन्द मनसे मोर्चा ले रही थी। अन्तरकी घुटन सारे दिमाग़ी सेन्सरोंका क़त्लेआम कर फूट पड़ना चाहती थी। विवाहके बाद कुन्तलके इस घरमें आनेपर मीनीने सभ्यताकी तमाम मिठासके बावजूद उसे पहले भी अनेक बार नीचा दिखानेकी कोशिश की है। मीनी छुटपनसे अपने भाईकी बड़ी लाड़ली शिष्या रही है। मीनीने चुनौतियाँ दे-देकर अपने भाईपर अपना अधिकार सिद्ध किया था। कुन्तलके सारे पुराने घाव एक साथ हरे हो गये थे। उन्हीं टीसोंसे कुन्तल इस समय बेहोश थी, अभय थी, बोलती जा रही थी, "तुम चाहते हो कि लोक-सेवाके नामपर मैं अपने घरको अस्पताल बना दूँ और तुम्हारी और तुम्हारी बहनकी महन्तीपर अपने सुख-स्वप्न निछावरकर तुम्हारे अस्पताल-की नर्स बन जाऊँ।"

"यह तुम्हारे लिए परम गौरवकी बात होगी।"

"मुबारक हो उसे जो इसका भूखा हो, मुझे नहीं चाहिए यह गौरव।"

कुन्तल सोफ़ासे उठ खड़ी हुई और तेज़ीसे दो क़दम चल दीवालकी ओर बढ़कर रुक गयी; सामने बुद्धकी मूर्ति सजी थी।

"तब तुम्हें क्या चाहिए ?" शोभनका प्रश्न उसी समय कानमें पड़ा जिस समय उसकी दृष्टिके सामने भगवान् बुद्धकी मूर्त्ति आयी थी।

कुन्तलका हठ उसकी छातीमें फूल उठा; बुद्धकी मूर्तिसे यों आँख मिलायी मानो शोभनको ही देख रही हो और वहीं देखते हुए दृढ़ स्वरमें कहा, "मैं माँ बनना चाहती हूँ। मैं अपने बच्चोंसे एक गृहस्थी बनते देखना चाहती हूँ।"

"तुम्हारा यह भाग्य-दोष है। मैं क्या करूँ ? मैंने तुम्हारे इलाजमें तो यथाशक्ति कोई कसर नहीं रक्खी।—या है कोई शिकायत तुम्हें ?"

कुन्तल थक गयी। वह निरुत्तर थी। शोभनकान्तके शान्त मुख-मण्डलपर विजयका तेज़ दमका। एक क्षण रुककर वे बोले, "व्यक्ति समाज-से विद्रोह कर सकता है, पर ऐसा करनेका अधिकार केवल उसी व्यक्तिको है जो समाजको अपना ही विराट् रूप मानकर उसकी पूजा-सेवा करता है। तुम्हें विद्रोह करनेका हक़ नहीं क्योंकि तुम अभी ना-समझ हो।"

कुन्तलका मन अपने ही अन्दर चीख-चीखकर कह रहा था, "मुझे विद्रोह करनेका हक़ है। मैं ठगी गयी हूँ। तुम और तुम्हारी बहन और सारे आदर्शवादी लोग हिपॉक्रेट हैं—दम्भी हैं। अपनी कमज़ोरियोंको आदर्शसे ढँकते हैं। इन्होंने मुझे ठग लिया। मुझे जीवनमें कुछ न मिला। कुन्तल पतिकी ओर पीठ और बुद्धकी ओर मुँह किये पूर्ववत् खड़ी थी।

शोभन दो-चार क्षण रुक फिर दो-चार क़दम कुन्तलकी ओर बढ़कर अपने हाथकी उँगलियोंपर दृष्टि टिकाये कहने लगे, "यों मैं जातिवाद या कुलवादका हामी नहीं, पर सदियोंके व्यवहारसे उसमें जो शक्ति उत्पन्न हुई है उसे अवश्य मानता हूँ। तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि तुम एक ऐतिहासिक ब्राह्मण कुलकी वधू हो। तुम जानती हो सन्त नरसी मेहता मेरी ही जातिके थे। स्वयं हमारे कुलके कई पुरखे गुजरातकी रियासतों-

में मंत्री रहे। हमारे यहाँ अनेक विद्वान् और त्यागी पुरुष हुए हैं। पतिके सम्बन्धसे अब तुम भी ब्राह्मण हो और ऐतिहासिक कुलकी वधू हो। कहनेका तात्पर्य यह है कि जाति वर्णवर्ग आदिसे मुक्त नये समाज-का निर्माण करनेमें तुम हृदयसे मेरा सहयोग दो।''

कुन्तल उसी तरह खोई हुई खड़ी थी, केवल सिर झुक गया था और वह अपने आँचलके कोनेमें गाँठोंपर गाँठें बाँधती जा रही थी। क्षणिक मौन-के बाद पतिका स्वर फिर सुनाई दिया। वे कहने लगे, ''रातका मामला है। मीनी हठमें समय-असमय भी न देख पायी। मैं समझता हूँ कि मुझे भी जाना चाहिए। मैं चार दिनकी अर्जी लिखकर रख जाऊँगा, तुम कॉलेजमें भिजवा देना।''

कुन्तल मौन रही।

''यह कोई आवश्यक नहीं कि मैं वहाँ चार दिन ही ठहरूँ। मीनी और हरीन्द्रको लेकर शीघ्र ही लौट आऊँगा....।''

कुन्तल मौन रही।

''चाहो तो तुम भी चलो....''

''मुझे नहीं जाना तुम्हारे साथ।'' कहकर कुन्तल तेज़ीसे चली आयी।

× × ×

शोभन चले गये। अकेले घरमें द्वार बन्द कर निढाल, लुटी-सी पलँग-पर पड़ी हुई कुन्तल बीच-बीचमें गर्म साँसें छोड़ती रही। उसे आँसू नहीं, आग भड़का रही थी। उसे शोभनसे घृणा हो रही थी। उसपर आधा-रित कुन्तलकी आस्थाका क़िला इस समय ढह गया था। उसे शोभनमें दोष ही दोष दिखलाई दे रहे थे: ''ये भाई-बहन दोनों दम्भी हैं—दोनों ही मनसे बीमार हैं। तभी आध्यात्मिक प्रेमकी दुहाई देते हैं। नीच! नीच!! मुझे धोखा दिया है। अपनेको महान् समझते हैं। मैं इनकी महत्ताको धूलमें मिला दूँगी। मैं भी महान् हूँ। मैं इनकी तरह अपनी

इच्छाओंको कमज़ोरी मानकर त्याग और तपस्याकी आड़में अपने आपको धोखा न दूँगी। मैं अपने सुखको भी देखूँगी और समाजके सुखको भी। मैं इन ब्राह्मण सन्तानों, इन बड़े कुलवालोंको दिखला दूँगी कि मैं भी……।"

'किर्र किर्र !' दरवाज़ेकी घण्टी बड़ी ज़ोर-ज़ोरसे बजने लगी। कुन्तल झुँझलायी पर उठी, दरवाज़ा खोला। मस्त मौला गुप्ता सामने हँसता हुआ खड़ा था।

"आज सई साँझसे ही दरवाज़े बन्द हो गये, क्या बात है ?"

"दरवाज़े बन्द कर आना। कोई है नहीं।"

"कहाँ गई हमारी मीनल दीदी और शोभन दा ?"

"आपके टेररिस्ट साहब बीमारीकी हालतमें भाग गये हैं। उन्हें मनाने—"

"अरे वो माल खा-खाकर गैंडा हो गया है ससरा। डाक्टरने मेरे सामने ही कहा कि तुम अब भले चंगे हो। मुझे, कुन्तल, उसकी सूरतसे नफ़रत है। कम्बख़्त सबको तुच्छ और अपनेको बड़ा भारी शहीद और जाने क्या-क्या लगाता है। अच्छा, खैर भाड़में डालो उसको। मुझे इस समय ऐसी भूख लगी है कि जो भी मेरे सामने पड़ जायेगा उसे ही खा जाऊँगा।"

कुन्तल हँस पड़ी, मन ताज़ा हो गया। रसोईघरकी ओर बढ़ते हुए बोली, "तो क्या मुझे ही खा जाओगे ? पचा न सकोगे गुप्ताजी !"

"अजी मैं बनिया हूँ मैडम, बनिया। बनिया हर मुनाफ़ेको बड़ी ख़ूबी-से पचा जाता है।"

बुरा तो क़तई न लगा पर आज दो बार दो पुरुषोंसे उनके जातीय अभिमानकी बात सुनी, यह विचार अवश्य आया। कुन्तल जन्मसे दो जातियों और दो प्रदेशोंकी थी, पिता पंजाबी खत्री और माता बंगाली कायस्थ थीं। रसोईघरमें गुप्ताके साथ प्रवेश करते हुए बोली, "अरे अब जातियोंकी बात उठाना ही फ़िजूल है। दस-बीस बरसमें शायद इस

देशमें दस-पाँच प्रतिशत ही ऐसे रह जायेंगे जो अपनी जाति बतला सकेंगे वरना सारा देश एक नये रंगमें रँग जायगा।

"बात तो आपकी एक सौ एक नये पैसे यथार्थ है भाभी जी—जाने दीजिए सन्नाटेमें आपको भाभी-वाभी कहकर नहीं पुकारूँगा—"

"क्या मतलब ?" थालीमें आटा निकालकर रखते हुए कुन्तल तनिक नाराज़ होकर बोली।

"देखिए साहब, ये आँखें-वाँखें तो दिखाइए मत। आप चूँकि समझदार हैं इसलिए सच-सच कह दिया। दुनियादारीके कारण मजबूर हूँ वरना जीसे पूछिए तो हर स्त्रीको—ख़ास-तौरसे हर सुन्दर स्त्रीको बहन-जी, भाभीजी कहकर अपनी सहज भावनाको पहचाननेके बजाय उसे झूठी सभ्यताकी भूल-भुलैयामें फँसा देना मुझे शुद्ध बेईमानी, ख़ुद अपने ही साथ अन्याय लगता है। आप हमारी भाभी या बहन न होकर दोस्त नहीं हो सकतीं ?" कहकर वह स्टोव सुलगाने लगा।

यह कुन्तलके जीकी बात थी; चुप रही, आटा गूँधती रही।

स्टोव आग पकड़ चुका था। उसकी लौका फूल खिलानेके लिए पम्प करते हुए गुप्ताने कहा, "मेरी बातका ज़वाब नहीं दिया आपने ?"

"क्या ?"

"यही कि हम दोस्त नहीं हो सकते ?"

कुन्तलका चेहरा अनायास ही आरक्त हो उठा, आवाज़पर भी लाज-की सतरंगी छाया पड़ी, "हो क्यों नहीं सकते ?" जैसी साधारण बात कहते हुए भी कुन्तलको लगा कि जैसे वह अपने दिलका बहुत बड़ा राज खोल रही हो।

स्टोवपर लौका फूल खिल आया था। गुप्ताने एक कनखीसे उसे देखते हुए दूसरी कुन्तलके चेहरेपर डाली। पूड़ी बेलते हुए कुन्तल भी उसकी ओर खामोशीसे ताक रही थी। दो चोर कनखियाँ मिल गयीं;

एक सिहरन हुई; लौका फूल बोलने भी लगा था; कमरा स्टोवकी गूँजसे भर गया। कुन्तलने हठ-पूर्वक अपने चोरको कस लिया।

'किर्र-किर्र।' दरवाज़ेकी घण्टी फिर बज उठी। दोनों ही चौंक पड़े। कुन्तल जानेके लिए व्यस्त होती हुई घबराहटभरे स्वरमें बोली, "शायद वो लौट आये हैं। तुम दरवाज़े अन्दरसे बन्द कर लो—या—अन्दर भंडार-घरमें छिप जाओ।"

नारीकी घबराहटने नरको जगा दिया। जाती हुई कुन्तलको सहसा अपने आलिंगनमें खींचकर गुप्ता भरी-भरी साँसमें धीरेसे बड़बड़ा उठा, "तुम मेरी हो! मेरी हो!"

कुन्तलके चेहरेपर गुप्ताकी वासनाके फूल बेतहाशा बरसने लगे। घबराहट और नये अनुभवकी उलझन होते हुए भी कुन्तलको यह कठिन आलिंगनपाश, यह बर्बरता अपूर्व ठण्ढक पहुँचा रही थी। सात वर्षसे विवाहित जीवनका सुखानुभव करनेवाली कुन्तलको लगा कि जैसे जीवनमें पहली बार उसका कौमार्य मसला गया हो। चोरीके सुख और उसके भयसे धड़कते हृदयको सँभालनेका प्रयत्न करते हुए कुन्तलने दरवाज़ेकी कुण्डी खोली। अपनी अफ़सरी पोशाकमें रोहित खड़ा था। उसे देखकर कुन्तल अत्यधिक भयभीत हो उठी—"कहीं यह गुप्ताको आते देखकर ही न आये हों!"

रोहितने कहा, "मैं तुमसे और शोभनसे क्षमा माँगने आया हूँ कुन्तल। विशेष रूपसे तुमसे क्षमा माँगता हूँ। उस समय मेरा मन क्षुद्र हो गया। मैंने तुम्हारी जैसी पवित्र देवीपर लांछन लगाया। मैं क्षमा चाहता हूँ।" रोहितने झुककर कुन्तलके चरण स्पर्शकर हाथ जोड़े।

कुन्तल पानी-पानी हो गयी: "अरे! अरे! यह क्या करते हैं आप?—"

रोहित बोला, "कुख्यात डाकू चेतसिंहका दल महगाँवामें डाका डालनेकी योजना कर रहा है। हम उसे घेरने जा रहे हैं। पता नहीं लौटकर

आऊँ या न आऊँ, तुमसे माफ़ी माँग ली, जी हल्का हो गया। शोभनसे भी तुम्हीं कह देना। जीता रहा तो आकर मिलूँगा।" कहकर रोहित लौटने लगा।

कुन्तल रोहितके सहसा इस प्रकार आने और यह सब कुछ कहकर जानेकी बातको लेकर स्तब्ध हो गयी थी। दो क़दम चलकर रोहित फिर उसकी ओर मुड़ा, बोला, "शोभनसे कह देना कि आदमीका बनाया हुआ पहला चन्द्रमा आज शून्य मण्डलमें पहुँच गया। पूछना कि वह मानव सभ्यताके इस नये अध्यायको कैसे देखता है। कैसा अजब करिश्मा हुआ है। इससे मनुष्यके विचारोंमें कितना ज़बरदस्त अन्तर आयेगा इसे यदि जीता रहा तब तो देखूँगा ही वरना....।"

"तुम ज़रूर लौटोगे रोहित भाई। विजयी होकर लौटोगे।"

कुन्तल प्रार्थनाकी तरह अपनी शुभ कामनाएँ अर्पित कर रही थी, और प्रार्थनाके बीच ही स्टोवमें लगा लौका फूल सहसा ध्यानमें आ गया। रोहितका आना-जाना हवाके झोंकेकी तरह उस लौको डाँवाडोल कर गया था।

: ९ :

इलाचन्द्र जोशी

जीवनकी खोज

हरीन्द्र चला जा रहा था, धीरे-धीरे पहाड़के ऊपर। बाँजके पेड़ोंकी क़तारोंके बीचसे होता वह ऊबड़-खाबड़ रास्ता साँपके-से बाँकपनके साथ बल खाता हुआ ऊपरको बढ़ा चला जा रहा था।

बिलकुल अजीब-सा उसका हुलिया बना हुआ था। कुरते-पाजामेके स्थानपर कसकर बाँधी हुई चार गज़िया धोती थी, ऊपर लम्बा चोग़ा-सा था जिसमें बटनोंकी जगह डोरीने ली हुई थी। बाल वैसे ही लम्बे और रूखे थे; दाढ़ी बढ़ी हुई, भुरभुरी। हाथमें डण्डा था और पाँवोंमें लोहेकी नाल जड़ा नागरा जूता। कन्धेसे लटकता झोला वही था जो शोभनदाका घर छोड़ते समय साथ ले लिया था।

बाँजकी सूखी पत्तियाँ धरतीपर बिछी होनेसे रास्ता कुछ बिछला हो गया था। इसीलिए हरीन्द्र ज़रा सँभल-सँभल कर चल रहा था। उसके सामने कोई निश्चित लक्ष्य नहीं था; पर मनमें ज़िद थी कि इस ओर ही बढ़ता जायेगा, और यह इत्मीनान भी था कि कहीं न कहीं आश्रय मिल ही जायेगा।

"आश्रय ? आश्रय ही तो था वह जहाँसे भाग कर आया है !" उसके चेहरे पर एक धुआँ-सा छा गया, पर सहसा अगले ही क्षण एक विचित्र मुसकराहट-सी खेली : यह सोचकर कि यदि शोभन, रोहित, गुप्ता, मीनल या कुन्तलमें-से कोई उस हुलियेमें उसे देख ले तो क्या समझेगा ! रोहित तो बड़े मीठे लहजेमें कड़वेसे कड़वा व्यंग्य भी कसना शुरू कर देगा।

"रोहित !" रास्तेपर पड़े हुए एक बड़ेसे पत्थरसे हटकर चलते हुए हरीन्द्र मन ही मन बोला, "उसके व्यंग्योंसे मुझे भय किस बातका ? मैं उससे किस दृष्टिसे छोटा, गिरा हुआ या नीचा हूँ ? हा: हा: हा: !" रोहितकी फ़िलॉसफ़ी बघारनेकी नयी आदतको याद आते ही खीझ और घुटनके बीच उसकी तिरस्कारभरी हँसी रोके नहीं रुकना चाहती थी।

"हा: हा: हा: ! यह रोहित भी आज फ़िलॉसफ़र बननेका दम भरने लगा है ! इस अणु-युगमें फ़िलॉसफ़ी कितनी सस्ती भी हो गयी है ! हर आदमी दूसरेको उपदेश देते हुए दूसरेके मनकी खुरदुरी जमीनपर अपने कोरे किताबी ज्ञानकी रगड़ द्वारा एक ऐसी चुटपुटिया जलाना चाहता है जो कुछ चिनगारियाँ फेंक सके और साथ ही बच्चोंके खेलनेकी आतिशबाज़ी-की तरह थोड़ी-सी चटकनेकी आवाज़ भी पैदा कर सके। ज्ञानके कूड़ेसे भरी किताबोंको रटनेके कारण इन सब लोगोंको ज्ञानका अजीर्ण हो गया है। शोभन, रोहित, गुप्ता ये तीनों इस युगके ढोंगी बुद्धिवादियोंके प्रतिनिधि हैं और बुद्धिके अजीर्णकी खट्टी डकारोंसे इन लोगोंने कुन्तल और मीनलपर भी छुतहा प्रभाव डाल दिया है। ये लोग नारीको नारी न समझकर, उसे अपनी कुण्ठाके शिकंजेमें कसकर, उसका सारा नारीत्व निचोड़कर उसे केवल सूखी और निर्जीव कठपुतली बनाकर छोड़ देना चाहते हैं। कुन्तलको तो ये जल्दी ही चाटकर साफ़ कर जायँगे। और मीनल ? वह एक ही अजीब पगली नारी है !...." और उस पहाड़ी वाता-वरणके सन्नाटेमें मीनलकी याद आते ही हाँफ़-हाँफ़कर चलता हुआ हरीन्द्र सहसा न जाने मनके किन गलियारोंमें खो गया।

"आ-आ-आऽऽ ! ले-ले-ले-ले-ले-ए-ए।—" पहाड़के ऊपर दक्खिनकी ओरसे कहींसे यह आवाज़ आयी। मनुष्य मात्रके लिए घृणासे भरे और मनुष्योंके जीवनसे ही भागकर आये हरीन्द्रने कई दिन बाद पहली बार मनुष्यके गलेसे निकली हुई आवाज़ सुनी। एक क्षणको उसके पाँव ठिठके। स्पष्ट ही कोई चरवाहा जंगलमें चरने आयी अपनी गाय या भैंसको लक्ष्य

करके उससे उसीकी भाषामें बात करनेका प्रयत्न कर रहा था। उसके बाद फिर वही पहलेका सन्नाटा छा गया। चारों ओरके लाखों करोड़ों झींगुर शरत् कालकी पीली सुनहली पहाड़ी धूपमें जैसे उस सन्नाटेका जाल बुनते चले जाते थे।

तभी शायद उसी चरवाहेका कण्ठ फिर फूटा। पहले उसने एक लम्बा अलाप खींचा : "ओ-ने-ने-ने-ने-ने-अ-ओ-ओ-ने-ने-ने-ने!" और उसके बाद ही वह गाने लगा : "**हाय मेरी बाट सुवा भूलि गै!**" हाय मेरी प्यारी रास्ता ही भूल गयी! जिस रागमें गाना शुरू हुआ वह तो हरीन्द्र नहीं जानता था, पर गीतके सुर पहाड़ी कन्दराओंको गुँजाते हुए उसके कानोंके छिद्रोंसे होकर मनकी अँधेरी गुफाओंको भी एक अपूर्व लय और तानसे झंकारते जैसे ध्वनिको एक निराले प्रकाशमें परिणत कर रहे थे। अँधेरेकी अभ्यस्त उसकी आँखें उस प्रकाशमें चौंधिया तो नहीं गयीं पर मुँद-सी अवश्य गयीं। और हठात् उस वातावरण और उन सुरोंके प्रकाशमें उसकी मुँदी हुई आँखें उपेक्षित अन्तर्मनमें क्या न क्या झाँकने लगीं।

गीतका सुर तीव्रसे तीव्रतर होता चला जा रहा था। अर्थ कुछ न समझनेपर भी हरीन्द्रको लग रहा था जैसे युग-युगसे छिन्न-भिन्न जीवनका बिखराव ही उसके भीतरकी सारी घृणा थी, जीवनकी मूल कड़ी तो वही गीत है। एकबारको ठहरकर उसने सब समझना चाहा, पर जैसे इसके लिए वहाँ न अवसर था न अवकाश ही। चरवाहेने गीत गाते-गाते बाँसुरी बजाना आरम्भ कर दिया था। उस गीतके बाद इस बाँसुरीकी लम्बी खिंची हुई राग-वेदनाका उस वातावरणके साथ ऐसा मेल बैठ रहा था कि हरीन्द्रका रोआँ-रोआँ एक अनजानी पुलकसे किलक उठा। उसकी दृष्टि बाँज और देवदारके पेड़ोंके पार जाकर मीठी और सुनहली धूपमें रँगे सामनेके अन्तरिक्षपर जा टिकी। और उसे बचपनमें शोभन और रोहित आदिके साथ ही स्कूलकी किसी किताबमें पढ़ा चण्डीदासका वह पद याद आया—

"सजनि केवा शुनाइलो श्याम नाम !
कानेर भीतर दिया मरमे पशिलो गो
आकुल करिलो मोर प्राण !"

सखी, मुझे यह श्यामका नाम किसने सुनाया ! वह अमृत-मधुर नाम मेरे कानोंके भीतरसे होकर मेरे मर्ममें बैठ गया है और उसने मेरे प्राणको आकुल कर दिया है !

हरीन्द्रको सारी प्रकृति, सारा जीवन अन्तरके एक नये प्रकाशमें, नये ही परिप्रेक्षणमें दिखायी दे रहा था जिसकी अनुभूति इतने लम्बे जीवनके असंख्य अनुभवोंके बीच पहले कभी नहीं हुई थी। शोभनके यहाँ रहते और बीमारीकी अवस्थामें बार-बार मीनलको देखकर उसे जो लगा था वह यही था, इस बातकी चेतना-सी उसके अन्तरमें कुहकी। पर किसी भी अनुभूतिका कोई स्पष्ट रूप उसके सामने नहीं आ रहा था। उसे केवल यह लग रहा था कि उसका अपना मन न जाने किस आश्चर्यजनक रासायनिक प्रतिक्रियासे क्याका क्या हुआ जा रहा है, इतने वर्षोंके कठोर जीवन संघर्षके अनुभवोंकी तलखी न जाने किस जादूके प्रभावसे गायब होती चली जा रही थी।

चढ़ाई पार करके हरीन्द्र ऊपर पहुँचा तो उसने देखा कि वहाँकी भूमि प्रायः समतल थी और एक काफ़ी फैले हुए घेरेकी सीमामें बँधी थी। वहीं एक छोटा-सा देव-मन्दिर था और उससे लगा हुआ एक लम्बा-सा एक-मंज़िला मकान खण्डहरके रूपमें पड़ा हुआ था। हरीन्द्र उस भूमिके परले किनारेपर जा खड़ा हुआ। सामने पश्चिमकी ओर देवदारुओंसे घिरे दो दूरस्थित त्रिकोणात्मक पहाड़ोंकी मिलन रेखाके ऊपर हिमालयके बर्फ़ ढँके शुभ्र शिखर गुम्बदोंकी तरह खड़े थे। उनके ऊपर गहरे नीले आसमानमें साँझका सूरज एक बड़े कन्दीलकी तरह शरत्का सुनहला प्रकाश बिखेर रहा था। नीचे, बहुत नीचे, एक पहाड़ी नदी बड़े-बड़े पत्थरोंपर टकराने वाली फेनिल लहरोंके साथ अनमने भावसे बही चली जा रही थी। दूरसे

उसका भैरव गर्जन कोमल कान्त कलकल ध्वनिमें बदलकर मृदु मन्द गुन्जन-से कानोंको गुदगुदा रहा था। नदीके दोनों छोरोंपर धानकी भरी लहकती फ़सल पिघले हुए सोनेकी दो बड़ी-बड़ी झीलोंकी तरह फैली हुई थी। हवाके झोंकोंसे उन झीलोंमें ऐसी लहरें उठ रही थीं जैसी सचमुचकी झील-में भी सम्भव नहीं थीं।

हरीन्द्र सामने, ऊपर, नीचे और दायें-बायें सब देख-देखकर मुग्ध मौन खड़ा था। मनुष्योंसे दूर, जीवन और प्रकृतिके आँचलके किनारे! वह केवल आँखोंका देखना ही नहीं था, विश्व-प्रकृतिके अन्तर्प्राणके स्पन्दन-जैसे उसके अपने प्राण-स्पन्दनको छूकर पलमें अपने भीतर समेट लिया था। धीरे-धीरे उसकी आँखोंसे आँसू बह चले। वह खड़ा रहा, देखता रहा, खोता गया, खोया रहा।

कितनी देर वह इस स्थितिमें रहा इसका स्वयं उसे ज्ञान न हुआ। आकाशका कन्दील हिमालयकी सामने वाली चोटीके गुम्बदपर कलग़ीपर चढ़े सोनेके सिरमौरकी तरह आकर बैठ गया था। एक कौआ तीखे स्वरमें काँव-काँव करके चीख़ मारता हुआ सारे सन्नाटेको चीरकर निकल गया। पीछे देवदारुओंके बीचसे कोई तीतर बार-बार "तित्तितीरी-तित्तितीरी!" की पुकार लगा रहा था। तब एकबारगी हरीन्द्रका ध्यान टूटा। नीचे, बहुत नीचे, न जाने कहाँसे, एक आदमी किसी दूसरेको लक्ष्य करके बोल रहा था, "लछु दा, राम-राम!"

"राम-राम, दाजी, राम राम!" दूसरेने उत्तर दिया "सब आनन्द मंगल?"

हरीन्द्र मन्दिरकी बग़लवाले खण्डहरकी ओर मुड़ा जो पीछेसे कँटीली झाड़ियों और तीरनुमाँ जंगली फूलोंके गुच्छोंसे घिरा था। भीतर आकर एक अँधेरे कमरेमें उसने कन्धेसे झोला उतारकर रख दिया और लाठी एक कोनेमें खड़ी कर दी। उसके बाद गर्द और मिट्टीसे भरे फ़र्शपर कम्बल बिछाया और धम्मसे उसपर बैठ गया। तभी दूर कहीं किसी चरवाहेकी

बाँसुरी क्षणभरके लिए फिर बजी। हरीन्द्रको बैठनेपर लगा जैसे जीवन-भरकी कठिन यात्राके बाद विश्रामके सुखका पहली बार अनुभव हुआ हो।

× × ×

वह मन्दिर एक पुराना और परित्यक्त ग्राम-मन्दिर था। देखनेसे ही लगता था कि मन्दिर और उसकी बग़लवाला खण्डहर दोनों मिलकर कभी किसी विशेष महत्त्वका स्थान रहे होंगे। अब खण्डहर तो खण्डहर था ही, मन्दिरकी भी छतपर लम्बी-चौड़ी स्लेटोंकी तरह बिछे हुए पत्थरोंके बीच-बीचमें घासें उगी हुई थीं और भीतर मूर्तिके नामपर एक ढहते चबूतरेपर मझोले आकारका सिन्दूर पुता पत्थर ही रह गया था। सिन्दूरके झँवासे रंगसे प्रत्यक्ष था कि उसकी भी पूजा कोई भूला-भटका भक्त ही कभी आकर करता हो तो होती होगी।

पर जबसे हरीन्द्रने वहाँ आसन जमाया तबसे धीरे-धीरे उस मन्दिरकी प्रतिष्ठा फिर बढ़ने लगी। वह भैरव बाबाका प्राचीन मन्दिर था। उधरसे आने-जानेवाले चरवाहों और जंगलसे घास-लकड़ी काटकर लानेवाली ग्रामीण युवतियोंने उसे वहाँ रहते देखा तो उन्हें लगा कि उस मन्दिरका कोई धनी-धोरी आ पहुँचा। फिर तो उसके ज्ञान और माहात्म्यकी भी तरह-तरहकी अफ़वाहें प्रचारित होने लगीं। प्रारम्भमें कुछ दिनोंतक वह जनता-की इस धारणाका खण्डन करता रहा। पर जब उसने देखा कि उसके विरोधका कोई फल नहीं होता, बल्कि उस 'विनम्रता' से उसकी महिमाका प्रचार और अधिक बढ़ता चला जाता है, तो उसने विरोध करना छोड़ दिया।

उस दिन हरीन्द्र पच्छिमकी ओर वाली सीमा-रेखाके पास फिर आ खड़ा हुआ था। आये दिन ही साँझको और कभी-कभी सबेरेको भी, वह यहाँ आ जाया करता था। यही जैसे उसकी पूजा-उपासना और ज्ञान-चिन्तनका रूप और स्थान था। देर तक वह उत्तर-पच्छिमकी ओर आँख लगाये हिमालयकी शोभा देखता रहा। फिर नीचे नदीकी दोनों तरफ़

वाले धानके खेतोंमें फ़सल काटे जानेके दृश्यमें खो रहा। फ़सल क्या कट रही थी, पूरा मेला लगा हुआ था। तीन-चार जगह हुड़के (डमरू) बज रहे थे और फ़सल कटनेके गीत गाये जा रहे थे। काटने वाली अधिकांश स्त्रियाँ काला लहँगा और काली ही अँगिया पहने थीं, सिरपर अधमैला सफ़ेद चदरा था। हुड़केकी ताल और लयके अनुसार वे हँसिये चला रही थीं और बालियोंके गुच्छोंको बड़े क़रीनेसे सजा-सजा कर रख रही थीं। ऊपर खड़े हरीन्द्रको वह सारा दृश्य ऐसा लग रहा था जैसे पाताल लोककी कोई बन्द गुहा उसकी आँखों आगे उघड़ गयी हो।

धीरे-धीरे अँधेरा होने लगा और फ़सलका कटना बन्द हो गया। सबने अपने-अपने चदरेकी गुड़री बनाकर सिरपर रखी और उसके ऊपर बालियोंका गट्ठर साधकर क़तार बाँधे गाँवोंकी ओर चल दीं। कुछ टोलियाँ नदीके उस पार जाने लगीं और कुछ इस पार आने लगीं। साँझका अन्तिम तीतर अपनी प्रियतमाकी खोजमें कहीं "तित्तितीरी! तित्तितीरी!" बोला तो हुड़कोंकी "द्राँ-द्राँ-दुक्कि! द्राँ-द्राँ-दुक्कि!" आवाज़ दूर जा चुकी थी। अँधेरा बढ़ता जा रहा था, और उसके साथ ही सन्नाटा भी। थोड़ी ही देर बाद सामने शरत्की पंचमीका खण्ड चाँद चमका। हरीन्द्र सारा दृश्य देखते-देखते जैसे अब भर उठा और वहीं पास पड़े एक भारीसे पत्थर पर बैठ गया। नीचे बहती नदीका स्वर असंख्य झींगुरोंकी झनकारके साथ मिलकर सृष्टि-व्यापी मौनको अधिक परिस्फुट कर रहा था और सामने पश्चिम आकाशमें शुक्रतारा किसीकी सुहाग बिन्दीकी तरह दिप्-दिप् करके जल रहा था।

हरीन्द्रको सब कुछ नया, अनदेखा, अनजाना, अनपरखा और अनसमझा लग रहा था। जीवनमें संघर्ष, निराशा और घृणा ही नहीं, इतना सुख, इतनी पुलकानुभूति भी है! उसे अपने इतने बरसोंका सारा जीवन एक दुःस्वप्नकी तरह लगने लगा। किस महाकल्याणकी साधनाके लिए वह और उसके साथी चटगाँवकी पहाड़ी खोहोंसे लेकर मध्यप्रदेश और

हिमाचलकी तराइयोंके जंगलोंतक भटकते-छिपते रहे ? क्यों शहरोंमें चोरों-का-सा गुप्त जीवन बिताते रहे ? कौनसे महास्वप्नको उन्होंने सिद्ध कर डाला ? इसमें सन्देह नहीं कि जिस कायरताकी स्थितिको उस समय देश पार कर रहा था उसमें एकाध गोरेकी हत्याका साहस भी बहुत बड़ी बात थी। पर, अन्ततः उस महावीरताकी उपयोगिता क्या सिद्ध हुई ? देशके स्वतन्त्र हो जाने पर अपनी उसी कृच्छ्र साधनाका तो मूल्य चाह रहा था वह ! किन्तु झूठ, ढोंग और विकृत अहम्की छलनाके सिवा कुछ भी तो उसके हाथ न लगा ! पहले इन बुराइयोंके उदाहरण छिटपुट रूपमें मिलते थे, आज उन्होंने सामूहिक रूप धारण कर लिया है। बार-बार उसने देखा है कि ज्ञानके अजीर्णसे ग्रस्त बुद्धिवादियोंका जीवन एक निरर्थक दुःस्वप्न, एक सड़ी-गली, गन्दी और घिनौनी-सी चीज़ मालूम होने लगा है। इस गन्दगी और बदबूसे घिना कर ही तो वह भागकर चला आया था। मीनलकी बात कुछ और थी; पर अन्य सब ? रोहित तो व्यंग्यसे उसे पलायनवादी ही कहता होगा !

सहसा हरीन्द्रके कान खड़े हुए। पीछेसे आते पत्थरके छोटे-छोटे रोड़ों-के खसर-खसर शब्दने उसका ध्यान तोड़ा। पंचमीकी अस्फुट चाँदनीके प्रकाशमें उसने देखा : तेज़ डगें भरती एक नारी मूर्ति उसीकी ओर चली आ रही है।

वह एक किसान युवती थी। उसके पास पहुँचकर सहज लजाती बोली, "महाराज, आज मेरी सेवा ग्रहण करें !"

हरीन्द्र कुछ कहे कि उससे पहले ही वह आगे बोली, "यहाँ ठण्डा है। कुटियामें चलें। मैं दीआ जला दूँगी।"

हरीन्द्रने अवाक् विस्मयके साथ उसकी ओर देखा, फिर उसके हाथ-में थमी थालीकी ओर। थालीमें रोटियाँ थीं, कोई हरे पत्तों वाला साग था, और एक बड़ेसे कटोरेमें शायद नये धानके चिउड़ेकी खीर थी। उसने एक बार फिर उस युवतीकी ओर देखा, दो क्षण कुछ सोचा, और

फिर कहीं खोता-सा उठकर चुपचाप उसके आगे-आगे खण्डहरकी तरफ़को चल दिया।

भोजन करते उसकी निगाह युवतीकी ओर फिर गयी। वह एक तरफ़-को खड़ी थी। दीएके मन्द प्रकाशमें उसकी काली मखमली अँगियाके ऊपर मूँगोंकी माला जैसे भीतरकी आगसे और भी चटक कर छोटे-छोटे अंगारोंकी तरह दहक रही थी। जो चाँदीकी हँसुली वह पहने थी वह सान पर चढ़े खंजरकी तरह चमक रही थी। उसका स्वस्थ और गठा हुआ शरीर, तनिक गोलाई लिये हुए लम्बे मांसल गाल, घनी काली धनुषा-कार भौंहें और कटीली आँखोंकी उससे भी काली बरौनियाँ बाहरकी चाँदनी और भीतरके दीएके प्रकाशमें उसे एक अजीब-सा मोहक रूप प्रदान कर रही थी।

"क्या नाम है तुम्हारा ?"

"श्यामली।"

मुँहमें कौर देते हरीन्द्रने फिर कहा, "बैठ जाओ न !"

श्यामली फ़र्शकी लिपी हुई मिट्टीके ऊपर धीरेसे बैठ गयी। हरीन्द्र कुछ सोचता-सा धीरे-धीरे खाता रहा।

"खीर कैसी बनी है महाराज ?"

"अच्छी बनी है। तुमने ही बनायी है ?"

श्यामलीके मोतीसे सफ़ेद दाँत चमक उठे, "हाँ; नयी फ़सल कटी है न ! वही नये धानोंका चिउड़ा है।" उसके मुख पर तनिक लाज भरी मुस्कान थी, पर उसके कथनमें संकोच या जड़ताका नाम भी न था। वह कुछ तिरछी झुकी हुई बैठी थी। परस्पर सटे हुए पाँवोंको पच्छिमकी ओर मोड़ लिया था।

"तुम्हारा ब्याह हो गया है ?" एक झटकेके साथ हरीन्द्रने सहसा छा।

नीचेकी ओर देखती हुई और चटाईकी एक उखड़ी सींकके साथ

उँगलियोंसे खेलती हुई श्यामली बोली, "बचपनमें हुआ तो था !" उसका चेहरा गम्भीर हो आया था।

"क्या मतलब ?" मुँहका कौर जल्दीसे निगलकर उत्कण्ठासे हरीन्द्रने पूछा।

उसी तरह सिर नीचा किये श्यामलीने बताया, "वह तभी न जाने कहाँ लापता हो गया।" दो क्षण वह चुप रही, फिर सिर उठाकर अजीब से भावसे बोली, "माँसे यही सुना है।"

'ओह !' और हरीन्द्रने थालीकी ओर हाथ बढ़ाते हुए ग़ौरसे उसके मुखका ठीक-ठीक भाव जाननेका प्रयत्न किया। उसे लगा जैसे उसके चेहरे पर सहज मुस्कानके सिवा और कुछ न था।

जब हरीन्द्र खा-पी चुका तो उसने थाली उठा ली और 'जाती हूँ' कह कहकर चल दी।

हरीन्द्र बैठा था, बैठा रहा।

पर दरवाज़ेके बाहर दो-चार ही क़दम जाकर फिर लौट आयी और लजाती-सी बोली, "मेरी मनोकामना पूरन हो जायेगी न महाराज ?"

हरीन्द्र कुछ चौंका। गम्भीर होते सिर हिलाकर उसने 'हाँ' कह दिया, फिर उठकर उसके पीछे-पीछे देहली पर आकर खड़े-खड़े सोचने लगा कि आखिर इस विचित्र लड़कीकी मनोकामना क्या हो सकती है ?

× × ×

फ़सल कटे काफ़ी दिन हो चुके थे। हरीन्द्र एक-दो बार निरुद्देश्य भावसे आस-पासके गाँवोंमें जाकर चक्कर लगा आया था। घर-घरमें धान कूटे जा रहे थे, चिउड़ा तैय्यार किया जा रहा था, धानकी खीलें बड़े-बड़े कड़ाहोंसे उतारी जा रही थीं, नये रस-भरे गन्ने चूसे जा रहे थे, और बच्चोंको केले खिलाये जा रहे थे। दीपावलीके आगमनमें घर-घर दीवारोंकी पुताई और फ़र्शकी लिपाई हो रही थी, हर साँझ ऊँचे

खम्भोंकी चोटियों पर लाल कपड़ों ढँके आकाशदीप विश्व-प्रकृतिके आगे पृथ्वीकी महत्त्वाकांक्षा सँजो रहे थे।

हरीन्द्रको सब कुछ नया, सब कुछ ताजा लग रहा था। एक असीम उत्सुकताने उसके तन-मनको छा लिया था। उसे अपने भीतर अनन्त अवकाशका अनुभव हो रहा था। काम उसे कुछ था नहीं। कभी किसी जंगलमें घूमा करता, कभी किसी पहाड़की चोटी पर चढ़ जाता, कभी वहाँ बहुत नीचे जीवनके अनन्त प्रवाहको अपनेमें समेटे लिये जाने वाली नदीके तटपर बैठ कर उसके फेनिल रूपको देखते हुए उसका तर्जन-गर्जन सुनता रहता। शरद्-कालकी पीली पहाड़ी धूप चारों ओर सपनोंका सुनहरा जाल फैलाकर जीवन-लक्ष्मीको अनन्त काल तक फँसाये रखनेकी माया रचे हुए थी। किसी प्रसंगमें एक दिन उसने मीनलके मुँहसे टेनि-सनकी 'लोटस ईटर्स' कविता सुनी थी। दीर्घकालीन संघर्षसे थके और ऊबे हुए पथिकोंको वह जो चिर-सन्ध्यामयी स्वप्नभूमि मिल गयी थी उसे वे अनन्त काल तक छोड़ना नहीं चाहते थे। उन लोगोंकी अनुभूतिसे हरीन्द्र अपने मनका तादात्म्य पा रहा था।

दीवाली आयी। घर-घरमें मंगल मनाया जाने लगा। रातमें हरीन्द्र-ने देखा: नदीके किनारेके आसपासवाले मकानोंसे लेकर ऊपरकी चोटियों-के मकानों तक मिट्टीके दीओंकी पाँतियाँ आकाशके तारोंसे होड़ लगा रही हैं, और अन्धकारसे निरन्तर प्रकाशकी ओर बढ़नेकी सहज मानवीय उत्सुकता सैकड़ों-हज़ारों प्रकाश-बिन्दुओंके रूपमें अपनेको व्यक्त करनेके लिए व्यग्र हो रही है।

खड़ा-खड़ा हरीन्द्र देख रहा था और सोच रहा था। तभी अपनी दो-तीन हमजोली लड़कियोंको साथ लिये श्यामली आयी। मन्दिरके भीतर और बाहर दस-पाँच दीप जलाकर उसने हरीन्द्रकी उस कोठरीकी छतपर भी पाँच दीप जलाये और पाँच भीतर भी। हरीन्द्रको लगा जैसे

युग-युगसे अँधेरी पड़ी उसकी कोठरी किसी अनजानेका आकस्मिक स्नेह पाकर भीतर और बाहर जगमगा उठी है ।

श्यामली अपने हाथमें मशालके रूपमें तेलसे भींगी एक चैली लिये हुए थी । उसके प्रकाशमें उसका सुन्दर, स्वस्थ, गोरा चेहरा एक नया ही सौन्दर्य बिखेर रहा था । हरीन्द्रसे रहा न गया । सहज भावसे बोल उठा, "वाह, आज तो तुम बहुत ही अच्छी लगती हो श्यामली ! सचमुच तुम बहुत सुन्दर हो !"

सुनते ही स्वस्थ लाजके झीने आवरणसे श्यामलीका चेहरा और भी दिप उठा । बड़े अन्दाजसे अपनी सहेलीकी ओर मुँह फेरती हुई वह झेंप मिटानेके लिए तत्काल बोल उठी, "को मरी थैंक !" इसका कौन मर गया ! हरीन्द्र नहीं जानता था कि यह एक प्यारभरी गाली थी । दोनों सखियाँ आँखें नचाती हुई एक-दूसरेको देखतीं और मन्द-मन्द मुसकराती हुई कनखियोंसे हरीन्द्रकी ओर देखतीं ।

"मैं सच कह रहा हूँ श्यामली !" हरीन्द्र और अधिक भाव-प्रवण स्वर-में बोला ।

श्यामली "खिल्ल !" करके हँसती हुई, सहेलीका हाथ पकड़ बिना कुछ बोले हरीन्द्रकी ओरसे मुँह मोड़कर सीधे चली गयी । हरीन्द्र अपना-सा मुँह लिये खड़ाका खड़ा रह गया और देर तक उसी ओर ताकता रहा जिधर श्यामली आँखोंसे ओझल हुई थी ।

ऊपर स्याही पुते आकाशमें दिप्-दिप् करते तारे जल रहे थे । दूर सामने उस पारवाले घरोंमें तेलकी कमीके कारण कई दीए बुझ चुके थे, पर काफ़ी दीए अब भी जल रहे थे । हरीन्द्र देर तक बाहर ही खड़ा रहा । और फिर एक लम्बी साँस खींचते हुए कोठरीमें चला गया । कोठरीमें एक दीआ बुझ चुका था, चार अब भी जल रहे थे ।

वह निरुद्देश्य भावसे पलथी मारकर एक तरफ़ बैठ गया । सबेरे बाहर ही दो पत्थरोंके चूल्हेमें आस-पासके ठूँठोंकी टहनियाँ जलाकर एक हँड़ियामें

पूजाको आये नये चावल चढ़ाये थे। उन्हींसे पेट भरा था। तबसे कुछ और खाया नहीं था। किन्तु खाली पेटकी उस हालतमें भी वह खानेकी बात नहीं सोच रहा था। उसकी आँखोंके आगे श्यामलीका यौवन, मस्त भाव और हलकी लाज-भरी दुष्ट मुसकानसे रँगा हुआ चेहरा नाच रहा था। निष्फल संघर्षोंमें जिस जवानीको वह खो आया था वही एक बार फिर सिर उठाकर कल्पके अन्तमें शेषनागकी तरह अपने सहस्र फनोंको हिलाने लगी थी। सारी घृणा, सारा दर्शन और सारी सेवा-ममता भूलकर उसके मनका चोर केवल "श्यामली! श्यामली!" की रट लगाने लगा था।

बहुत देर तक वह न जाने क्या-क्या सोचता उसी तरह बैठा रहा। सहसा उसने देखा कि सामनेकी ओर नीचेसे कोई प्रकाश संचारिणी दीप-शिखाकी तरह ऊपरको चला आ रहा है। दूसरे ही क्षण श्यामलीका गर्दन तकका हिस्सा उसे दिखायी दिया—चेहरेपर वही दुष्टता-मिश्रित स्वस्थ लाज भरी मुसकान थी—और तीसरे क्षण समूची श्यामली, नखसे शिख तक, दिखायी दी। उसका मुख एक अपूर्व प्रभासे दिप रहा था और प्रकृतिकी सारी सुषमा जैसे उसकी देहके अंग-अंगपर सिमट आयी थी। साक्षात् लक्ष्मीकी तरह विश्वको वैभव-विमुग्ध करनेके लिए वह बढ़ी चली आ रही थी।

हरीन्द्रके पास आकर उसने सामने थाली रख दी। उसमें जलेबीकी तरह पेंच खाया हुआ सूजीका बना एक पहाड़ी पकवान था जिसे 'सिंगल' कहते हैं। साथमें दो-चार और देहाती मिठाइयाँ थीं।

"महाराज खाओ, मैं पानी ले आती हूँ!"

नीचे एक सोतेसे पानी लेकर वह आयी और बाहर हीसे वह लोटा उसने हरीन्द्रके आगेको बढ़ा दिया। स्वयं वह दरवाज़ेके बाहर ही खड़ी रही।

"भीतर आकर बैठो न श्यामली", हरीन्द्रने प्रेम-भरे स्वरमें कहा, "बाहर ठण्डमें क्यों खड़ी हो?"

"मैं यहीं ठीक हूँ।" श्यामली संक्षेपमें बोली। मशाल उसीके हाथमें थी। हरीन्द्र चुप हो रहा। श्यामलीसे कितनी बातें करनेके लिए वह भीतर ही भीतर व्याकुल हो रहा था, पर उसके रूखे उत्तरने जैसे उसके मुँहपर ताला लगा दिया। मन मारकर दो-चार टुकड़े उसने मुँहमें डाले और फिर पानी पीकर थाली आगे सरका दी।

"आज क्या खाना अच्छा नहीं बना महाराज ? यह सिंगल तो पड़ा ही रह गया!" श्यामलीके स्वरमें इस बार उदासी भरी थी।

"यह सिंगल नहीं डबल है श्यामली !"

श्यामली व्यंग्य तो नहीं समझी पर तिक्तता ज़रूर समझी, बोली, "तुम तो नाराज़ हो गये महाराज ! अब मुझे आसीरबाद कैसे मिलेगा !" उसकी आवाज़ ही भर्रायी हुई नहीं थी बल्कि वह हताश भाव मशालके प्रकाशमें उसके चेहरेपर भी साफ़ झलक आया था।

हरीन्द्र पिघल उठा। अपनी घुटन और उत्सुकताको पीता हुआ धीरेसे बोला, "नहीं श्यामली, ऐसा नहीं है। तुम्हारे लिए आशीर्वाद तो सदा ही है!"

दरवाज़ेपर ही पत्थरोंके बीच एक सन्धिमें मशाल अटकाकर श्यामली भीतर आयी, बायें हाथसे हरीन्द्रके चरण छूकर उसने उस हाथको अपने सिरसे लगाया, फिर जूठी थाली उठाकर मशाल लिये हुए चुपचाप चली गयी।

यह सारा रहस्य हरीन्द्रकी समझमें कुछ न आया और वह बहुत देरतक आकाश-पातालकी कल्पनाएँ करता रहा।

× × ×

उस दिनके बाद श्यामली नित्य ही किसी न किसी समय एक बार आती और हरीन्द्रके चरण छूकर आशीर्वाद लेकर चली जाती थी। हरीन्द्र बहुत बोलता नहीं था : चुपचाप सब समझनेकी चेष्टा करता सोचता रह

जाता था। आज वह आयी है, कलको भी आयेगी : इतना उसे विश्वास था।

एक दिन तीसरे पहर वह पूरब तरफ़ वाले देवदारु वनकी ओर घूमता हुआ निकल गया। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्तेपर कई चढ़ाइयाँ पार करनेके बाद एक गुफाके पास पहुँचकर वह तनिक सुस्तानेकी सोच ही रहा था कि सिरके ऊपर किसी पेड़पर "तित्तितीरी ! तित्तितीरी !" की तीखी आवाज़ हुई और साथ ही "धाँय !" करती कहींसे गोली आयी और एक तीतर ख़ूनसे लथपथ उसके पाँवोंपर गिर पड़ा। उसके लिए शोक मनानेको सारे जंगलके कौवे गला फाड़कर "काँव-काँव" करते हुए उड़कर भागे।

किस शिकारीने उस पक्षीको कहाँसे मारा इस उत्सुकतासे हरीन्द्र इधर-उधर देख ही रहा था कि पीछे कहीं दो व्यक्तियोंके बोलनेकी आवाज़ सुनायी दी। एक नारी कण्ठ था और एक पुरुष कण्ठ। दोनों सहज स्वरमें, न बहुत धीमी और न बहुत ऊँची आवाज़में, परस्पर बातें कर रहे थे। नारी कण्ठ श्यामलीका-सा लगता था। हरीन्द्रकी उत्सुकता बढ़ी और वह उसी ओरको टकटकी लगाये देखता रहा जिस ओरसे आवाज आ रही थी। स्पष्ट ही दोनों तेज़ चालसे चल रहे थे और आवाज़ निकट्से निकटतर आती चली जा रही थी।

देवदारुके पेड़ोंकी सघनताके भीतरसे इधर-उधर झाँकते हुए हरीन्द्रने देखा, श्यामली सिरपर घासका गट्ठर लिये तेजीसे नीचेको उतर रही थी और उसके साथ-साथ साधारण सैनिकोंकी-सी वर्दी पहने एक ख़ूबसूरत-सा जवान गलेमें कारतूसोंकी माला डाले और हाथमें एक छोटी-सी बन्दूक लिये चल रहा था। कुछ ही क्षणों बाद दोनों ठीक उस स्थानपर पहुँच गये जहाँ लहू-लुहान तीतर दम तोड़ चुका था।

शिकारी बड़े उल्लाससे अपने शिकारकी ओर लपका। श्यामली दूर ही से हरीन्द्रको देखकर मुसकराती हुई बोली, "पायलागी महाराज !"

हरीन्द्रने कुछ मन्द पड़े हुए स्वरमें उत्तर दिया, 'प्रसन्न रहो।'

श्यामली जब लहू-लुहान तीतरके पास पहुँची तो देखकर उसकी आँखोंमें आँसू आ गये। "शिव ! शिव !" बेचारेकी साँस अभी तक चल रही है !' बायें हाथसे सिरपर रखे हुए गट्ठरको सहारा देती हुई और दायें हाथसे चदरेके आँचलसे आँसू पोंछती हुई वह बोली, "क्या इसे जिलाया नहीं जा सकता महाराज ?" कातर स्वरमें उसने पूछा।

"हँः हँः ! वह तो अब मर चुका है" करुण हँसी हँसते हुए हरीन्द्र-ने कहा।

"ऐसा निशाना मैंने साधा था कि वह बच ही नहीं सकता था", गर्व-भरे उल्लाससे शिकारी बोला। तीतरको उठाकर उसने अपने झोलेमें डाला। और फिर आदेशभरे हुए-से स्वरमें श्यामलीसे बोला, "चलो, अब चलो।"

श्यामली गीली आँखें पोंछती उसके पीछे-पीछे चलने लगी। हरीन्द्रने उस शिकारीको आज पहली बार देखा था। वह नहीं जानते थे कि वह कौन है, कहाँ रहता है, क्या करता है और श्यामलीको आदेश देनेका अधिकार उसने किस सम्बन्धके कारण पाया है। वह दोनोंसे कुछ अलग हटकर एक प्रायः समानान्तर पगडण्डीसे चलने लगा।

"छिः छिः, मर्द बड़े ही निठुर और निर्मोही होते हैं," श्यामली मटक-मटककर चलती हुई बोली। इसबार उसका गला साफ़ था और स्वरसे दर्दके बजाय एक व्यंग्य और परिहासका-सा आभास फूट रहा था।

"औरतोंको कैसे समझाया जाये कि शिकारीको शिकार खेलनेमें क्या मज़ा मिलता है।"

"मर्दोंके दिलमें तनिक भी दर्द और दया नहीं होती," अपनी पिछली बातको नये लहज़ेमें सुनानेके उद्देश्यसे श्यामली बोली।

"दर्द और दया ये औरतोंके चोंचले हैं। मर्दोंको तो संगदिल होना चाहिए, संगदिल ! जानती हो संगदिल किसे कहते हैं ?"

"नहीं।"

"संगदिल कहते हैं उस आदमीको जिसका दिल पत्थरका हो।" कहकर तुरन्त उस जवान शिकारीने गाना शुरू कर दिया।

पार का भिड़ा को छे वे नानी
रूम-झूम बिणाई बजूंछे !

पहाड़के उस पार तुम कौन सुन्दरी हो जो रूम-झूम शब्दमें बिणाई बाजा बजा रही हो?

"पत्थरका दिल रखनेवाले भी क्या पहाड़के उस पार बिणाई बजाने-वालीकी खोजमें रहते हैं?" श्यामलीने चुटकी लेते हुए पूछा।

हरीन्द्रने दूर ही-से देखा कि ऐसा कहते हुए श्यामलीके चेहरेपर उल्लास चमक रहा था और आँखोंमें रस छलक रहा था।

"मेरे हाथमें अगर बन्दूक न होती तो इस समय मैं बाँसुरी बजाता," शिकारी अपनी ही तरंगमें कहता गया।

दोनों पगडण्डीपर बड़ी तेजीसे चले जा रहे थे। श्यामली शिकारीके पीछे-पीछे कभी दौड़ती, कभी कूदती-फाँदती और कभी फुदकती-सी चली जाती थी। रास्तेमें एक छोटा-सा नाला पार करना था। लकड़ीके एक कच्चे पुलके सहारे उसे पार करके दोनों एक तंग और सर्पिल पगडण्डी पकड़कर चढ़ाई पार करते हुए हरीन्द्रकी आँखोंसे ओझल हो गये।

हरीन्द्र अपनी लाठीके सहारे एक दूसरे रास्तेसे होकर धीरे-धीरे अपने खण्डहरकी ओर बढ़ने लगा। रास्तेमें सोचने लगा: "तब क्या श्यामलीकी यह मनोकामना पूरन होने जा रही है?" फिर भी रहस्यमयता घटनेके बजाय बढ़ती जा रही थी। इतने दिनों तक श्यामलीके सम्बन्धमें न जाने क्या-क्या विचार उठते रहे। आज एक साधारण-सी घटनासे उसके सब हवाई सपने उड़कर विलीन हो गये। उसके कानोंमें अभी तक ये शब्द गूँज रहे थे: "औरतोंको कैसे समझाया जाये कि शिकारीको शिकार खेलनेमें क्या मज़ा मिलता है!" एक शिकारकी परिणति वह देख चुका

था। तब क्या दूसरे शिकारकी भी वही परिणति होगी ? सोचकर आतंक-से वह सिहर उठा : वह जो जीवनका अधिकांश स्वयं आतंकवादी रहा था !

× × ×

श्यामली उस घटनाके बाद भी उनसे नियमित रूपसे आशीर्वाद लेने आती थी। एक दिन उसने हरीन्द्रको बताया कि गाँवसे छह मील दूर नदीके किनारे कार्तिकी पूर्णिमाका बड़ा मेला लगनेवाला है। उसने आग्रह किया कि वह उस मेलेको अवश्य देखें। पूर्णिमा आयी तो हरीन्द्र सबेरे ही हाथमें लाठी लेकर और कन्धेसे झोला लटकाकर निकल पड़ा। रास्तेमें उसे खयाल आया कि झोलेकी कोई आवश्यकता नहीं थी और वह केवल अभ्यासवश उसे उठा लाया था।

दो घण्टे बाद जब वह थका-थकाया मेलेके स्थानपर पहुँचा तब वहाँकी चहल-पहल देखकर वह रास्तेकी सारी थकान भूल गया। कुछ लोग अभी तक नदीमें नहा रहे थे, कुछ मन्दिरमें फूल चढ़ा रहे थे। मन्दिरका घण्टा निरन्तर बज रहा था। रंगे-बिरंगे कपड़ोंसे सुसज्जित छैल-छबीले बाँके जवान हुड़का बजाते हुए गाते थे और नाचते थे। स्त्रियाँ नाकके ऊपरी सिरेसे लेकर सिरके बालों तक लम्बा टीका लगाये या तो क़तारोंमें खड़ी बाँके छैलोंका गाना सुन रही थीं और नाच देख रही थीं, या स्वयं अपनी टोलियाँ बनाकर गोल घेरेमें नाचती-गाती थीं। चारों ओरसे हुड़कोंकी "द्वाँ-द्वाँ-दुक्कि, द्वाँ-द्वाँ-दुक्कि"की आवाज़ और समवेत गानका स्वर सुनायी देता था। जहाँ-तहाँ दुकानें लगी हुई थीं और लोग सौदा खरीदते थे, खाते थे, गाते थे और इधरसे उधर चले जाते थे। पहाड़ी नदीके तर्जन-गर्जनके साथ मानवीय स्वर-प्रवाह मिलनेसे एक निराला समाँ बँध रहा था।

हरीन्द्र एक जगह दर्शकोंकी क़तारके बीचमें खड़ा हो गया। सहसा उसने देखा कि जिस टोलीके पास वह खड़ा हुआ था उसका नेता या संचा-

लक वही शिकारी था जिसके साथ उस दिन श्यामली चली जा रही थी। आज उसका हुलिया ही बदला हुआ था! वह सिरपर सफ़ेद चिट्टी पगड़ी, गलेमें हरे रंगके नक़ली या असली रेशमका रूमाल, बदनमें नीले ब्लेज़रका कोट, नीचे लंकलाटका चूड़ीदार पाजामा, गुलाबी रंगके मोज़े और भूरे रंग-का फ्लेक्स शू पहने था। वह मस्तीके साथ मग्न भावसे हुड़का बजाता हुआ किसी नयी पहाड़ी तर्ज़में गाता था और आशु कविकी तरह नये-नये पद जोड़ता जाता था। उसकी मण्डलीके शेष सब लोग समवेत रूपमें गाने व नाचनेमें उसका साथ दे रहे थे।

पास ही स्त्रियोंकी जो क़तार दर्शकके रूपमें खड़ी थी उसपर एक सरसरी नजर फेरते हुए हरीन्द्रने देखा कि श्यामली मुग्ध भावसे उस शिकारी गायकको अपलक आँखोंसे देख रही थी। एक अजीब उल्लाससे उसका चेहरा तमतमाया हुआ था और उसकी आँखें अस्वाभाविक पुलकसे छलक रही थीं।

शिकारी छैला गा रहा था :

"माया काटी उड़ि जाँछे घुगुतीकी चार"

तू प्रेमका बन्धन काटकर फ़ाख़्तेकी तरह न जाने कहाँ उड़ जाती है!

देर तक हरीन्द्र वहीं खड़ा रहा और सम्मोहित श्यामलीकी पुलकित आँखोंका मुग्ध भाव देखकर अपने अन्तरमें उठनेवाली हूकको दबाने और सहलानेका पूरा प्रयत्न करता रहा। वह आशा कर रहा था कि श्यामली एक-न-एक बार वहाँसे ज़रूर हटेगी और तब वह उसे अलग ले जाकर उससे दो-एक बातें करेगा—उसके हितकी। पर न शिकारी स्थान बदलता और न श्यामली अपने स्थानसे टससे मस होती थी। बार-बार श्यामलीकी ओर शिकारीकी चार आँखें होती थीं और हरीन्द्रको लगता था जैसे श्यामलीको लक्ष्य करके ही शिकारी नये-नये पद जोड़ता हुआ उनके द्वारा उसीके प्रति अपने मनका भाव व्यक्त करता जाता है।

जब काफ़ी देर हो गयी तब एक लम्बी साँस खींचकर हरीन्द्र वहाँसे हटा और नदीके किनारे-किनारे चलते हुए एक अपेक्षाकृत एकान्त स्थानमें एक पत्थरके ऊपर बैठ गया। सामने पहाड़ी नदी हहर-हहर करके बड़े-बड़े पाषाणोंसे टकराती हुई फेनिल तरंगोंके साथ बही चली जा रही थी। कुछ देर तक उसके कानोंमें चारों ओरका सम्मिलित कोलाहल गूँजता रहा। वह ठीकसे न तो कुछ सोच पाता था, न समझ पाता था और न सुन पाता था। जब कुछ स्थिर हुआ तब सोचने लगा कि इस पहाड़ी अंचलमें जीवन-का सहज रूप इस पहाड़ी नदीकी ही तरह बहा चला जा रहा है, सन्देह नहीं; पर यहाँ भी शिकारी हैं और यहाँ भी जीवनके सहज प्रवाहके बीचमें नदीकी गतिको रोकनेवाले इन पाषाणोंकी ही तरह विकारके उपकरण मौजूद हैं। पर इन विकारोंसे भागनेसे कैसे काम चलेगा? जीवनकी इस यथार्थताको उसी रूपमें स्वीकार करनेके सिवा और क्या चारा है?

एकाएक न जाने टेलीपेथीकी किस अदृश्य तरंगसे हरीन्द्रकी आँखोंके आगे मृणालका रूप नाचने लगा। उसे लगा जैसे इस युगकी नग्न विकृ-तियोंके बीचमें पली उस नारीसे उसका जन्म-जन्मका परिचय है—हालाँकि इस जन्ममें उन्होंने उसे केवल इने-गिने दिनके लिए शोभन और उसके साथियोंके बीचमें देखा था। आज अकस्मात् उस पहाड़ी नदीके किनारे लगे हुए मेलेके बीच बिना किसी प्रत्यक्ष कारणके उसका समग्र—भीतरी और बाहरी—व्यक्तित्व उनके अन्तरकी आँखोंके आगे जैसे डमरूकी तालमें नाचने लगा! मनुष्यका यह रहस्यमय चंचल मन न जाने कब कहाँ किस असम्भावित कल्पनाका छोर छू बैठता है, यह जानना कठिन है। यह सोच-कर वह मृणालके मानस-चित्रको मिटानेका प्रयत्न करने लगा, पर वह किसी भुतहा मकानमें बसी हुई छायात्माकी तरह मिटना ही नहीं चाहता था। तंग आकर हरीन्द्र उठ खड़ा हुआ। "कौन मृणाल! कहाँकी मृणाल! दो दिनका भी ठीक परिचय जिससे न हुआ हो उसका माया-चित्र अकस्मात् प्राणोंको इस तरह छा बैठे, यह वास्तवमें मनकी बड़ी चिन्तनीय दशा है।"

यह सोचते हुए हरीन्द्र फिर अनचाहे उसी ओर बढ़ा जहाँ वह शिकारी छैला श्यामलीको अपने नाच-गानसे रिझा रहा था। श्यामलीकी आँखें उसी तरह मोह-मुग्ध थीं और अस्वाभाविक दीप्तिसे चमक रही थीं। देख-देखकर हरीन्द्रके भीतर शूलकी-सी पीड़ा उठने लगी। वहाँसे हटकर वह इधर-उधर चक्कर लगाने लगा।

चार बजेके क़रीब मेला धीरे-धीरे टूटने लगा और लोग इधर-उधर बिखरकर अलग-अलग रास्तोंसे होकर अपने घरोंको जाने लगे। उस बिखरावके बीचमें हरीन्द्रकी आँखें इधर-उधर किसीको खोज रही थीं। और तब उसने देखा कि श्यामली एक अपेक्षाकृत सुनसान पगडण्डीसे होकर उसी शिकारी छैलाके साथ वापस चली जा रही थी। हरीन्द्र भी उसी रास्तेकी ओर बढ़ा और उन लोगोंसे काफ़ी पीछे हटकर धीरे-धीरे चलने लगा। श्यामली उसी तीतरकी तरह चहक रही थी जिसे बादमें शिकारीने लहू-लुहान अवस्थामें धराशायी कर दिया था। वह बड़ी तेज रफ़्तारसे हँसती किलकती हुई बोल रही थी। शिकारी कभी हँसने-खेलनेकी-सी आवाजमें और कभी हुड़केपर थाप मारकर उसकी बातोंका उत्तर देता था।

जब हरीन्द्र अपनी कोठरीमें पहुँचा तब अँधेरा होने लगा था। वह बहुत थक गया था—तनकी थकान और मनकी थकान। पहुँचते ही फ़र्शपर चारों खाने चित् पड़ गया। चाहता था कि बेख़बर सो जाये, और फिर अनन्त काल तक वह बेहोशी न टूटे। पर नींद नहीं आ रही थी। एक तो मनकी चंचल स्थिति, दूसरे पेटमें भूखकी ज्वाला। आज न वह श्यामलीके आनेकी आशा करता था, न वह आयी। झोलेमें कुछ पहाड़ी बेर थे, दस-पन्द्रह खाकर वह पड़ रहा।

दूसरे दिन सबेरे ही श्यामली आयी। आज वह नये कपड़े पहने थी और सिरसे पाँव तक सजी हुई थी। चेहरा कुछ उदास-उदास-सा दिखायी देता था। हरीन्द्रके दोनों पाँव छूती हुई भरे हुए गलेसे बोली, "महाराज,

आज मुझे तुम्हारे आसिरबादकी सब दिनोंसे ज्यादा ज़रूरत है" और दो बूँद आँसू उसने हरीन्द्रके नंगे पाँवोंपर टपका दिये।

बहुत दिनोंसे दबा हुआ हरीन्द्रके अन्तरका रोदन बाँध तोड़कर उमड़ पड़ा। भर्रायी हुई आवाजमें बोले, 'जाओ श्यामली, तुम्हारी मनोकामना पूरन हो! आज इतनी घबरायी हुई क्यों हो?'

'कुछ नहीं, यों ही। अच्छा जाती हूँ महाराज!' कहकर आँखें पोंछती हुई वह चल दी। पीछेकी ओर एक बार मुड़कर भी उसने नहीं देखा।

हरीन्द्र केवल मूढ़ दृष्टिसे उस ओर देखता ही रह गया।

× × ×

दूसरे दिन हरीन्द्रने सुना कि कल श्यामली एक आवारेके साथ भाग-कर चली गयी। इसके आगे फिर उसने किसीसे कुछ नहीं पूछा। तीसरे दिन तड़के सबेरे स्वयं हरीन्द्र भी लाठी और झोला लेकर वह खण्डहर छोड़ कर चल दिया। कहाँ गया इसका पता भैरव बाबाके उस प्राचीन मन्दिरका कोई भी भक्त न लगा सका।

: ६ :

राजेन्द्र यादव

●

खुले पंख : टूटे डैने

मीनलको एक अजब अभ्यास हो गया था। सुबह जैसे ही अखबार उसके हाथमें आता कि वह यों ही बन्द आँखों उसे बीचसे खोल डालती और सीधे "व्यक्तिगत" कॉलमपर ही आँखें खोलती। "मनुष्यका बनाया दूसरा स्पुतनिक 'लायका'को लेकर शून्यमें उड़ रहा है"—जिस दिन यह सूचना सारे मुख-पृष्ठपर छायी थी उस दिन भी उसने पन्ना बीचसे ही खोला था। जब "व्यक्तिगत" कॉलमको ऊपरसे नीचे तक अच्छी तरह देख लिया तब निगाह कहीं और गयी थी। मानो अख़बारमें वह हठपूर्वक उसी ओर, केवल उसी कॉलमको, देखना चाहती हो।

लेकिन आश्चर्य, यह भी वह जानती थी कि जो सूचना वह चाहती है वह उसे मिलेगी नहीं। बिना कहे सुने हरीन्द्र चला गया था। बहुत खोजा। इधर-उधर स्टेशन-थाने सभी जगह तो देखा था। फिर अख़बारमें निकलवाया—चुपचाप। वह अध-पगला हरीन्द्र कभी सम्पादकीयकी बग़लमें महीन-महीन छपनेवाली उन दो लाइनोंको तो क्या, अख़वार भी शायद ही पढ़ता हो—यह उसे विश्वास था। यार-दोस्त उसका कोई है नहीं जो उसे पढ़कर बता दे। पता नहीं कहाँ होगा बेचारा! फिर भी जान-बूझकर वह यह आशा बाँधे रखती थी कि एक दिन इसी तरह सहसा अखवार खोलकर वह पायेगी कि उसमें हरीन्द्रकी सूचना छपी है। तब सहसा अखबार यों ही खुला पटककर वह ख़ुशीसे ताली बजा उठेगी। मगर आज चौथा दिन होने आ रहा था। जहाँ हर बार किवाड़ खड़कनेसे वह एक प्रत्याशित-

उत्कण्ठासे चौंक-चौंक उठती थी, वहीं यह भी विश्वास उसके दिलमें जमता जा रहा था कि हरीन्द्र नहीं आयेगा···नहीं आयेगा····लेकिन····

"मीनल दीदी, प्रोफ़ेसर साहबके यहाँसे यह नौकर आया है।" अख़बार एक ओर समेटकर उसने उठनेके लिए चारपायीसे पाँव नीचे लटकाये ही थे कि दरवाज़ेपर पहुँचते विपिनने कहा।

मीनलने देखा विपिनके पीछे ही सूटकेस उठाये मक्खन खड़ा था। अचानक मीनलका मन हुआ, चौंककर खड़ी हो जाये और बाहर भागकर देखे कि क्या कुन्तल भाभी और शोभन दा भी आये हैं। लेकिन उसने विपिनके कन्धोंके पार मक्खनको देखते हुए एक हाथसे तितर-बितर बाल कानोंके पीछे किये, और गम्भीर स्वरमें पूछा, "क्या है रे मक्खन? यह क्या ले आया?" हालाँकि सूटकेस देखते ही उसने पहचान लिया था : वह उसीका सूटकेस था। फिर बातको साधारण बनाती बोली, "और भाग कहाँ गया था तू? सारा घर परेशान था।"

"हम तो घर गये रहे दीदी! यह प्रोफ़ेसर साहबने भेजा है।" सिरसे उतार कर सूटकेस धरतीपर खड़ा रखता हुआ मक्खन बोला, "कहा है, कालिजसे लौटते बखत आयेंगे। कहीं जायें नहीं।"

"क्यों?" मीनलकी भौंहें सिकुड़कर माथेसे जा मिलीं। सूटकेस भेजने-का क्या अर्थ है वह समझ गयी। गहरी साँस लेकर उसने ज़ोरसे नाकसे साँस छोड़ी, "हुँ: !" और निचला होंठ ज़ोरसे दाँतोंसे दबा लिया।

अभी भी सामने खड़ा विपिन उसे बोझ लग रहा था। पाजामा, कमीज़, स्वेटर पहने, बगलोंमें दोनों हाथ दबाये खड़ा, कभी मीनल और कभी मक्खनको भौंचक-सा ताकता विपिन उसके मनमें झल्लाहट पैदा कर रहा था। इसमें इतनी भी तमीज़ नहीं कि मेरे घरसे नौकर आया है, शायद मैं कुछ पूछना चाहूँ, कहना चाहूँ, एक तरफ़ हट जाये—बेवक़ूफ़की तरह छातीपर खड़ा है!

और सचमुच मक्खनको देखते ही उसके मनमें ऐसा ज्वार उमड़ा कि वह भूल गयी, वह शोभन दाके यहाँसे लड़कर अपने ही स्कूलकी एक प्रौढ़ टीचर मिसेज़ वर्माके यहाँ आकर रहने लगी है ! मन हुआ, मक्खनसे एकके बाद एक प्रश्न पूछती चली जाये : "शोभन दा कैसे हैं ? कुन्तल भाभी तो ठीक हैं ? उनका जुकाम और गला अब ठीक है न ? हरीन्द्र बाबूका कुछ पता चला ? मेरा ज़िक्र तो नहीं आता ?" सचमुच यह जाननेको वह बेहद उत्सुक थी कि उसके बाद घर कैसा है। वे लोग उसे किस रूपमें 'मिस' कर रहे हैं। लेकिन उसने कुछ कहा नहीं और गम्भीर 'हुँ:' करके रह गयी : तो उन लोगोंने सचमुच मुझे निकाल ही दिया।

"बीबीजी, कब चलेंगी घर ?" मक्खन पूछ रहा था, "अब तो घर बड़ा सूना-सूना-सा रहता है। कोई नहीं आता। छोटी बीबीजी दिनभर पलंगपर लेटी रहती हैं और प्रोफ़ेसर साहब रातको देर-देरतक बरामदेमें टहलते रहते हैं। हम होते बीबीजी तो आपको कभी आने नहीं देते। हम ख़ुद ही बीमार डल गये घर जाकर।"

उफ़, कैसे रोके इन उमड़ते आँसुओंको ? ज़ोरसे होंठ दाबे, खिड़कीसे बाहर देखती अपनी पनीली पुतलियोंपर जल्दी-जल्दी पलकें झपकाती रही। लेकिन एक गोला-सा था कि छातीसे उमड़ा चला आ रहा था। दो-एक बार घूंट सटककर उसे पीनेकी भी कोशिश की। जाने कैसे बाहर देखते हुए उसने बड़े घुटे स्वरमें कहा, "मक्खन, तू जा।"

मक्खन कुछ कहना चाह रहा था, लेकिन मीनलकी स्थिति समझकर चुपचाप चला गया।

मीनलको ये पल कैसे पहाड़-से लगे। ये लोग सब चले जायें तो वह रोये। भैया-भाभीने सचमुच उसे इस तरह निकालकर फेंक दिया मानो कभी सम्बन्ध ही न रहा हो कोई। मानो ऐसे ही किसी छोटे-मोटे बहानेकी वे प्रतीक्षा कर रहे हों। मुँह खोलकर आधी-आधी साँस लेती हुई वह फटी-फटी आँखोंसे बाहर देखती रही। पीछे विपिन खड़ा है, चेतनापर

इसकी छाया थी। चला जाये तो ज़ोरसे किवाड़ बन्द कर ले और फूट-फूट-कर रोये ! सचमुच ऐसी आसानीसे यों नाता तोड़ लिया इन्होंने ?

जब काफ़ी देरतक भी विपिन नहीं गया और उसके लिए अधिक सह पाना असम्भव हो गया तो वह चुपचाप खाटपर जा लेटी और आँखोंपर बाँह रख अपनी स्थिति समझनेकी कोशिश करती रही। विपिन खड़ा रहा : सहानुभूतिसे भरा-भरा, मानो वह उस परिस्थितिको पी रहा था। उसकी समझमें नहीं आ रहा था कि वह क्या करे।

× × ×

उस दिन हरीन्द्रको खोजनेके लिए टैक्सीमें वह कहाँ-कहाँ भटकी है, इसका पता लगाते हुए शोभन दा जाने कैसे-कैसे रातको साढ़े दस बजे मिसेज़ वर्माके यहाँ आ पहुँचे थे। मीनलने सारी परिस्थिति और मन:स्थिति-को साधकर अत्यन्त स्वाभाविक लहजेमें कहा था, "हमारे यहाँ कुछ मेहमान आ गये हैं मिसेज़ वर्मा, आज मैं आपके यहाँ ही सोऊँगी। खाना-पीना सब कर आयी हूँ। अब तो सिर्फ़ लेटना ही है। बहुत थक गयी हूँ।" और जब दो-एक कॉलेजकी इधर-उधरकी बातोंके बाद हरीन्द्रके बारेमें सोचते-सोचते उसे तन्द्रा-सी आयी ही थी कि मिसेज़ वर्माने जगाया, "मिस. मेहता, प्रोफ़ेसर शोभनकान्त आये हैं।"

चौंककर वह झपाक्से उठ बैठी थी। शोभन दा इस समय ? रज़ाई जल्दीसे एक ओर फेंककर वह बाहर आ गयी थी। नवम्बरका महीना था और सर्दी तेज़ हो गयी थी। पीछेवाले कमरोंमेंसे एकमें, मिसेज़ वर्माके कमरेमें, वह सो रही थी। बीचमें छोटा-सा चौक था और फिर बैठक और बाहर आने-जानेका रास्ता। बैठक विपिनका अध्ययन-कक्ष भी थी। वह इतिहासमें एम० ए० प्रीवियस कर रहा था। कुहरे-भरे ईंटोंवाले चौकके पक्के फ़र्शको पार करके सामने बैठकतक आते-आते उसका जोश आधा बुझ गया था। मानो तब नये सिरेसे उसे याद आ गया कि नहीं, उसे घर नहीं जाना है। वह न जानेका निश्चय करके आयी है।

वही अण्डीकी चादर लपेटे शोभन दा मूढ़ेपर सिर झुकाये बैठे अपराधी-से मानो उसकी राह देख रहे थे और मेज़की पासवाली कुर्सीपर कम्बल लपेटे बैठा विपिन एक मोटी-सी खुली किताबके पन्नोंको व्यर्थ घूर रहा था। शोभन दा उसीके कॉलेजमें तो पढ़ाते हैं, इसलिए वह दो बार चायके लिए पूछ चुका था, लेकिन उनका परेशान चेहरा देखकर चुप हो रहा।

"क्या है शोभनदा, इतनी रातको ?" हल्की तल्ख़ीसे मीनलने पूछा था, मानो कह रही हो यहाँ भी मुझे चैन नहीं लेने दे रहे।

शोभनने सिर ऊँचा किया। पता नहीं जाड़ेसे बचनेके लिए या चेहरे का भाव छिपानेके लिए मीनलने नाक तक चेहरा पल्लेसे ढँक रखा था। एक पल यों ही देखते रहकर बड़े अनुरोध और भर्राये गलेसे, मानो शब्दोंको बलात् ठेलकर कहते हों, वह बोले थे, "इधर आओ, मीनल !"

और जाने क्या जादू था कि मीनल खिंची चली गयी। आज तक शोभन दाके इस विचित्र, करुण, सानुरोध, विवश और टूटे हुए-से स्वरकी उपेक्षा वह नहीं कर पायी है। जाने उसकी आत्माके कौनसे अंशको ये शब्द छू देते हैं कि उसका अपनेपर वश नहीं रहता, उसकी आँखोंमें पानी भर आता है। उसे शोभन दाकी इच्छाके आगे झुकना पड़ेगा इसे वह जानती थी। उसने एक बार विपिनको देखा। साहससे बोली, "विपिन, भैया अगर बुरा न मानो तो हम लोग कुछ जरूरी बातें कर लें !"

स्पष्ट ही अनिच्छा, लेकिन प्रोफ़ेसर साहबके आदरसे विपिन बाहर चला गया।

"हूँ ! कहो ?" एक कुर्सीके पीछे खड़े होकर उसने पूछा, जैसे जल्दी कहो फिर हमें सोना है। दोनों हाथ कुर्सीकी पीठपर रख दिये।

"यह अच्छा लगता है मीनल ?" शोभन दा मीनलको तोलते हुए बोले, "मैं रोहितके यहाँ गया : वह बाहर गया है। सोचा गुप्ताके यहाँ न चली गयी हो : वह सेकिण्ड शो गया है। तुम्हारे स्कूल पहुँचा। कितनी

मुश्किलसे यहाँ तक पहुँचा हूँ। कुछ तो खयाल करो। मेरी न सही, अपनी ही ओर देखो कमसे कम!"

"शोभन दा, आप यह समझते हों कि हरीन्द्रकी वजहसे मैं आपका घर छोड़ आयी सो बात बिलकुल ग़लत है। ठीक है हरीन्द्रके प्रति आप लोगोंका व्यवहार मुझे बहुत अच्छा नहीं लगा, और यह देखकर भी मुझे धक्का कम नहीं लगा कि आपने कुन्तल भाभीको ही अपनी सारी साधना, तपस्या और आदर्शोंको सौंप दिया है। पर यह आपका व्यक्तिगत मसला है। लेकिन मुझे वहाँ बड़ी घुटन लगती है।" वह बड़े निरुद्विग्न भावसे कहती रही थी, "मुझे न आपसे शिकायत है न कुन्तल भाभीसे। लेकिन, जब आपने मुझे अपने पाँवोंपर खड़े होनेकी शिक्षा दी है तो कुछ दिन अलग रहकर भी तो देखने दीजिये न।"

स्पष्ट ही, उसके इस बेबाक जवाबको सुनकर शोभन दा हत-वाक् से रह गये थे, मानो इसकी उन्हें कभी उम्मीद नहीं थी अपनी मीनल से। थोड़ी देर वे चुपचाप देखते रहे, देखते रहे। एकाध बार कुछ कहनेकी भी कोशिश की। होंठ फड़के, मुँह खुला मगर कुछ सोचकर चुप हो रहे। कठिनाईसे कहा था, "यों तुम जानती हो मीनल मैंने अपनेको कभी भी तुम-पर लादा नहीं। लेकिन अगर····" रुककर उन्होंने चश्मा उतारा और चादरेसे काँचोंको पोंछते हुए बोले, "अगर तुम समझती हो कि हम लोगोंके साथ तुम्हारे व्यक्तित्वका हनन होता है या कोई असुविधा होती है तो मैं तुमसे कुछ नहीं कहूँगा। तुम्हारी समझमें उसका अगर यही इलाज हो तो यही करो। मुझे क़तई आपत्ति नहीं, लेकिन मैं तुमसे थोड़ी समझदारीकी उम्मीद करता था मीनल! पापाजी होते या, या तुम शादीशुदा ही होतीं तो मैं शायद आता भी नहीं····"शोभन दाका गला भर आया था और टूटकर वे फिर बोले थे, "कुछ कहो, कुन्तल तुमसे छोटी है। तुम उसे डाँटती फटकारतीं और मैं कुछ भी बोलता तो मुझसे कुछ कहतीं या चाहे जो सोचतीं, लेकिन ज़रा-सी बातपर यों घर छोड़कर···"

भीतर ही भीतर मीनल बेहद डर भी रही थी कि कहीं एकदम फूट-कर रो न पड़े; लेकिन जाने कहाँकी एक दृढ़ता उसमें आ समायी कि निस्पृह भावसे उसने कह डाला, "नहीं शोभन दा, उस बेचारीको क्यों सानते हो ? उसने ऐसी कोई बात नहीं कही। यह तो खुद मैं ही फ़ील कर रही थी काफ़ी दिनोंसे कि आपको दाम्पत्य-स्वतन्त्रतामें मेरी उपस्थिति अवांछनीय है।" बातका अन्तिम भाग उसने अंग्रेज़ीमें कहा। फिर उसने समझाया था, "सच मानो शोभन दा, मैं ज़रा भी नाराज नहीं हूँ। थोड़े दिन मुझे भी तो अलग रहकर देखने दो न ! न रहा जायेगा तो तुम्हारे ही पास आऊँगी। अपना घर है, जाऊँगी कहाँ ?" अन्तकी ओर उसका गला भर्रा ही आया था : सचमुच उसका अब घर ही कहाँ है कोई !

फिर वाक़ई वह नहीं गयी। बातचीतके दौरानमें अपनेको साधे रही। एक भी आँसू नहीं आने दिया। जब शोभन दाको बिदा करके बैठकके बाहर वाले किवाड़ बन्द करती हुई वह भीतर आयी तो माँकी रज़ाईमें घुसा बैठा विपिन सहसा चुप हो गया। बात उसीके बारेमें हो रही होगी—वह जान गयी। बिस्तरकी ओर बढ़ती, सफ़ाई देती हुई-सी नक़ली हँसीके साथ बोली, "अरे, बेकार अपनेको परेशान कर रहे हैं !" फिर किसीको कुछ पूछनेका अवसर न देकर कहा, "विपिन, तुम्हें भैया मेरे आनेसे बड़ा विघ्न पड़ा।"

"विघ्न काहेका मीनल दीदी ?" ग़ौरसे उसका चेहरा देखता विपिन बोला, "मैं तो यही कहता हूँ तुम यहीं रहो। अपना भी मन लगा रहेगा। कोई बोलने-बतलानेको भी तो नहीं है। ये माँ हैं सो चुपचुप जाने क्या-क्या सोचा करती हैं !"

मिसेज़ वर्माने लेटे ही लेटे सिर उठाकर तकियेपर फैले खिचड़ी बालों-का जूड़ा बाँधकर हल्केसे हँसते हुए कहा, "मिस मेहता, भैया भाभीसे लड़ाई हो गई है क्या ? शादी-ब्याहकी बात होगी ? हम कहते हैं कर-करा लो, कब तक रहोगी यों ?"

"अरे नहीं वर्मा बहन जी, और बात है ! बताऊँगी आपको फ़ुर्सतसे। आज तो बहुत थक गयी हूँ।" अब तक उसने रज़ाईसे अपना सारा शरीर ढँक लिया था। मुँह ढकती हुई बोली, "और कोई बात भी नहीं ऐसी !"

लेकिन दूसरे दिन जब स्कूलसे लौटकर वह मिसेज़ वर्माके साथ आयी तो उसे लगने लगा कि उसने जल्दबाज़ी कर दी। आज वह समझ ही नहीं पा रही थी कि कल सचमुच ऐसी क्या बात हो गयी जो उसे यों घर छोड़ देना ही एकमात्र रास्ता दीखा ? हरीन्द्र क्या सच ही उसके लिए इतना महत्त्व-पूर्ण था ? बहुत दिनोंसे जो वह मन ही मन अनुभव करती रही थी उसे ही एक विस्फोटके साथ बाहर प्रकट करनेका माध्यम या निमित्त नहीं था हरीन्द्र ? आज पढ़ाते हुए अन्यमनस्क भावसे कई बार अपने मनको टटोला तो पाया कि हरीन्द्रके प्रति तो उसके भीतर बस एक दया थी, दूसरोंके प्रति आक्रोश अधिक था, और कुछ नहीं। उसे हर समय लगता रहता कि कुन्तल शोभन दाके भीतर तक, बहुत भीतर तक छायी चली जा रही है : उनकी पसन्द-नापसन्द, अच्छाई-बुराईका मापदण्ड जैसे कुन्तल ही बनी जा रही है। चिन्तित मुद्रामें यही बात उसने किन्हीं अपनत्वके क्षणोंमें कुन्तलसे कह दी थी, "कुन्तल, तूने तो सच भैयापर जादू कर दिया !"

"एक बात कहूँ मीनल दी, बुरा तो नहीं मानोगी ?" अपने लम्बे-लम्बे बालोंको चौड़े कंघेसे सूँठती कुन्तलने हँसकर कहा, "तुम किसी पुरुषपर जादू नहीं कर सकीं, यह अतृप्ति ही तुमसे यह सब कहला रही है। मैं कहती हूँ कब तक इस इच्छाको दबाओगी ?"

मीनल वास्तवमें इस तरह चौंक पड़ी थी मानो अन्तर्तमका कोई गुप्त रहस्य सबके सामने अचानक खुल पड़ा हो। अरे, यह तो वह भी नहीं जानती थी ! उसे लगा कुन्तल सच कहती है। आगे उसने एक शब्द भी नहीं कहा था। मनमें एक सकुच भी जागी : उसका इस तरह सोचना-कहना अवांछनीय और अशोभन दोनों हैं।....तब ? तब क्या वह एक अति-रिक्त बोझ है ?

आज उसे बार-बार अपनेपर झुँझलाहट आ रही थी। जरा-सी बात-पर यों लड़कर चले आनेकी जरूरत क्या थी? बार-बार कुन्तल और शोभन दाका चेहरा आँखोंके आगे उभर-उभरकर आने लगा था। मन ही मन वह आशा कर रही थी आज शायद कुन्तल या शोभन दा या दोनों आयें। बार-बार वह खिड़कीसे झाँक लेती थी। मन उखड़ रहा था। सन्ध्याको मिसेज़ वर्माके साथ पासके पार्कमें घूमने गयी तो दूरसे हर आदमी उसे शोभन लगता और हर लड़की कुन्तल : और उसका दिल धड़क उठता। उस दिन रातको लेटी तो रुलाई उमड़ पड़ी।

अगले दिन वह सोच रही थी कि जरूर शोभन दा या कुन्तलमेंसे किसी एककी तबीयत खराब हो गयी है, वर्ना यह हो नहीं सकता था कि वह न आयें। कुन्तल मनकी कितनी सरल है यह वह जानती है। अगर कोई अपरिहार्य कारण न आ गया होता तो शायद उससे रहा नहीं जाता। क्यों न मैं ही स्कूलसे लौटते हुए उधरसे एक चक्कर लगा आऊँ? कोई लड़ कर तो आयी नहीं हूँ। आखिर अपना घर है। लेकिन लाख मन पक्का करनेपर भी उसके पाँव नहीं उठे और वह मिसेज़ वर्माके साथ सीधी चली आयी। कितनी चुप रहती हैं मिसेज़ वर्मा! कैसे रह पाती हैं? इनके साथ रहना हुआ तो उसका तो दम घुट जायेगा। उससे तो बिना बोले रहा ही नहीं जाता। बस, ले-दे कर विपिन ही है। सो····?

दूसरे दिन भी वह मनको समझाती रही कि शोभन दाके यहाँ एक बार चले जानेमें कोई हर्ज नहीं है। "यों ही घूमने चली आयी, सोचा देख आयें कुन्तल भाभी क्या कर रही हैं? मन ही मन रसोईके दरवाजेपर खड़े होकर वह कुन्तलसे बोली। अपने कुछ कपड़ोंकी भी तो जरूरत है। कब तक मिसेज़ वर्माके कपड़ोंसे काम चलायेगी? हो सकता है कोई खत ही आया हो! हरीन्द्रका ही खत हो!····हाँ ठीक, यह तर्क ठीक है। जब यह तर्क उसके दिमाग़में आया तो उसे ऐसा ठोस आधार अपने पाँवों-के नीचे महसूस हुआ कि बड़ी मुश्किलसे उसी समय चल पड़नेकी इच्छाको

वह रोक पायी। क्या है, ऐसी लड़ाइयाँ तो होती ही रहती हैं! इनके लिए कहीं सम्बन्ध तोड़े जाते हैं ?

और जब मानसिक रूपसे वह बिलकुल चल पड़नेको तैयार हो चुकी थी तभी मक्खन सूटकेस ले आया। तो ? सचमुच उन लोगोंने नाता तोड़ लिया ? वे इसीकी राह देख रहे थे ? कहाँ जाये वह अब ?

× × ×

यों ही बाँह आँखोंपर रखे वह लेटी-लेटी अपनी स्थिति समझनेकी कोशिश करती रही। उसके सारे सम्बन्ध क्या सच ही ऐसे कच्चे धागोंपर थे कि यों एक हल्के-से झटकेमें टूट गये ? विश्वास नहीं होता : कमसे-कम शोभन दा ऐसे निकल जायेंगे यह कभी नहीं सोचा था। कहीं इस आघात से बीमार न पड़ गये हों ? उनसे ज्यादा मानसिक दबाव—स्ट्रेन—बर्दाश्त नहीं होता। लेकिन अब वह कहाँ जाये ? क्या करे ? रोहित ? रोहितसे मिलेगी कल। बहुत सहा, अब नहीं सहा जाता रोहित ! बोलो कब तक और प्रतीक्षा करूँ ? आखिर दस-बारह वर्ष तो राह देखी। लेकिन रोहित तो अब उसे पहचानता तक नहीं। अभी यह भी तो वह खुलकर नहीं कह पायी कि मैं तुम्हारी प्रतीक्षामें बैठी हूँ रोहित ! दो-तीन पत्र आये थे; फिर पुलिसकी ट्रेनिंगमें आज यहाँ, कल वहाँ भागता फिरा। लेकिन अब उसका निर्वाह होगा रोहितके साथ ? आखिर वह किस दीवारसे अपना सिर दे मारे !

"मीनल दीदी, मीनल दीदी !" किसी बड़े झिझकतेसे हाथने उसकी कुहनी छुई तो उसे सहसा याद आया विपिन यहीं खड़ा है अभी। तो अभी यहीं बने हैं आप ?

"आप रो रही हैं मीनल दीदी !" फिर हिचकिचाती उँगलियोंने उसकी कुहनी हिलायी। स्वरमें सहानुभूति थी। एकदम मीनलके मनमें आया उठकर दो झापड़ दे जोरसे—क्यों मेरे पीछे पड़े हो ? अपना काम क्यों नहीं करते ? उसने झटकेसे बाँह हटाकर देखा : खाटकी पाटीसे टिका खड़ा

विपिन बड़ी आहत-सी सहानुभूतिके भावसे उसे देख रहा था। मीनलने ज़ोरसे दाँत पीसे, जैसे उसे इस स्थितिमें ला पटकनेका सारा श्रेय विपिनको ही है।

"इस वक़्त मुझसे मत बोलो विपिन।" उसने फिर आँखोंपर बाँह रख ली। बाँहके नीचेसे झाँकते उसके नथुने और होंठ फड़कते रहे। अब वह अपना सारा ग़ुस्सा इसपर उतार भी तो नहीं सकती : इन लोगोंकी वह आश्रिता है! एक कड़वी मुसकराहट उभरी।

हाँ, शहरके सबसे बड़े एडवोकेटकी लड़की, जो कभी खुद ड्राइव करके कॉलेज जाती थी, अपनी यादमें जो एक साड़ीको पहनकर दूसरे दिन बाहर नहीं निकली—वही मिस मृणाल मेहता आज पराये नगरमें, पराये लोगोंके बीच आश्रिता है·······!

× × ×

"अरे, रोहित रायको मार दिया!"

सुनते ही वह एकदम चिहुँककर उठ पड़ी : "कहाँ? हरीन्द्रकी खबर देखते-देखते मक्खनके आनेसे उसने अख़बार पायताने पटक दिया था। विपिन खड़ा-खड़ा यों ही उसे देख रहा था कि इस समाचारपर चौंक पड़ा। उसने अखबार उठा लिया था और पूरी ख़बर पढ़ रहा था।

"कहाँ? देखूँ?" मीनलने अख़बार उसके हाथसे छीन लिया। हाँ, काले हाशियेसे घिरी तस्वीर रोहितकी ही तो है। वह जल्दी-जल्दी हर लाइनको निगलने लगी, "नदीके कछारोंमें कुख्यात डाकू चेतसिंहका पीछा करते हुए डी० एस० पी० रोहित राय मारे गये····" उसकी समझमें ही न आया कि जिन लाइनोंको वह पढ़े जा रही है उनका अर्थ क्या है?

"रोऽऽहित!" उसके भीतर जैसे कोई धाड़ मारकर रो उठा। जैसे कोई धरतीपर बिलख-बिलखकर रोता रहा, बिखर-बिखरकर रोता रहा। लेकिन मीनल स्वयं स्तब्ध और चुप बैठी रही। उसे लगा जैसे उसे न कुछ सुनायी देता है, न दिखायी। छातीपर भारी बूट रखे जैसे कोई निर्दयता

पूर्वक पानीकी धारपर दबाये चला जा रहा है और उसकी साँस घुटी जा रही है। कहीं बहुत दूर उसके कानोंके भीतर सैकड़ों चिमटे एक साथ बज रहे हैं''''अखबार उसके हाथसे फिसल पड़ा।

''मीनल दीदी, मीनल दीदी !'' उसे बहुत दूरसे आता विपिनका स्वर सुनायी दिया, ''अरे अम्मा दौड़ो ! देखो मीनल दीदीको क्या हो गया !''

फिर उसे कुछ नहीं मालूम। बीच-बीचमें उसे ऐसा लगता जैसे उसका सिर किसीकी गोदमें रखा है, उसकी पसलियोंपर स्टेथस्कोप लगाया जा रहा है, दाँतोंको कोई चम्मचसे खोलकर दवा पिला रहा है ! कुछ टुकड़े शब्दोंके भी कानोंमें गये—''ऐसे कहीं हारते होंगे बेटी ? देख मुझे देख ! दस साल हो गये, वर्माजीकी सूरत नहीं देखी है ! अपने पैरोंपर खड़ी हुई लड़केको पढ़ाया—तू तो इतनी हिम्मतवाली होकर''''! ये घर तेरा ही है''''यहाँ रह !''

जब उसने आँखें खोलीं तो दोपहरका समय था। पासमें स्टूलपर दवाएँ रखी थीं और सामने कुर्सीपर विपिन बैठा कुछ पढ़ रहा था। मीनल बिना हिले-डुले चुप-चाप देखती रही। बारह-एक बजा होगा। उसे धीरे-धीरे फिर याद आता रहा''''! रोशनदानमें जंगली कबूतर बैठा सिर मटका रहा था।

× × ×

और मीनलको लगा जैसे वह दूसरी बार विधवा हो गयी।

हरीन्द्र आया और चला गया। जब वह आया तो मानव-द्रोही था। लेकिन उसने रोहितके प्रति मीनलके मनमें जो दबी-ढँकी भावना थी उसे मुखर शब्द दे दिये थे। मीनल जब-जब रोहितको पुलिसकी खाक़ी लक़-दक़ वर्दीमें देखती उसे लगता : नहीं, यह वह रोहित तो नहीं है जो कभी उसके यहाँ आया करता था और शोभन दाके साथ हफ़्तों कमरेमें बन्द रहता था। [illegible] अँधेरे कमरोंमें तेज़ाबकी बदबू भरी रहती थी। और अपने तन-मनको निछावर करती वह हर समय आस-पास मँडराया करती

थी । कब किस चीज़की ज़रूरत पड़ जाये ! मनमें एक बेचैनी थी कि कुल-बुलाती रहती । आखिर वह किससे कहे, 'देखो किसीसे कहना नहीं, हमारे शोभन दा और रोहितराय मिलकर बम बना रहे हैं । इससे बैंक लूटा जायेगा, इससे वाइसरॉयकी ट्रेन उड़ेगी ।' वह किसे बताये कि हमारे सोफ़ेकी स्प्रिंगोंके भीतर तीन पिस्तौलें छिपी हैं । धड़कती छातीसे वह खिड़कियोंकी सन्धोंसे देखा करती : कहीं कोई खुफ़ियाका आदमी तो इधर-उधर नहीं ताक-झाँक कर रहा । हर गुज़रते हुए आदमीको देखकर उसका दिल बैठ-सा जाता : कहीं यह भेद न ले रहा हो ? रोहित साइक्लो मशीन चलाता और वह छपे हुए पर्चोंकी गड्डी बनाती तब रोहितके कालिख लगे हाथों और पसीनेकी बूँदोंसे झलमलाते माथेको निहारकर उसका हृदय कैसा फूल उठता था । हर बार उसका हृदय पल्लेसे उलझकर रुक जाता । उँगलियोंकी पोरों तक इच्छा फड़ककर रह जाती कि उसके माथे और कनपटीको आँचलसे पोंछ दे और बहुत हल्केसे अपने होंठ माथेसे छुला दे । मन ही मन कहे : जाओ, तुम्हें अभय दे रही हूँ । कोई तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा—यह मेरे प्यारका विश्वास है ! लेकिन कर वह कुछ भी नहीं पाती थी, बस कनपटियाँ झनझनाकर रह जातीं, और गर्दन नीचे झुक जातीं, कनखियोंसे देखती और अपनी इस लुका-छिपीपर मुसकराती ! कितनी रोयी थी चुपचाप मीनल, जब रोहित पकड़ लिया गया था । निश्चय कर लिया : नहीं, वह विवाह नहीं करेगी ! वह किसीसे कुछ नहीं बोली थी और चुप-चाप अपनी पढ़ायीमें लग गयी ।

बँटवारा हुआ, पिताकी मृत्यु हुई । शोभन दा और कुन्तलके बीचमें ऑथेलोका सेतु आया और वह जैसे एक अनन्त प्रतीक्षामें बैठी किसीकी राह देखती रही, देखती रही । उसे लगता था वह आयेगा, जरूर आयेगा वह । लेकिन जो आया वह उसका रोहित नहीं था—वह तो पुलिस अफ़-सर, ए० एस० पी० रोहित राय था । बाहर और [redacted] कहीं भी तो मीनलको 'अपना रोहित' नहीं मिला ।

तब उसे लगा जैसे उसके भीतर कोई बल था जो टूट गया, कोई शिखर था जो ढह गया, कोई मूर्ति थी जो धरती फोड़कर समा गयी। इस....इस रोहितके लिए उसने अपने जीवनके सर्वश्रेष्ठ वर्षोंको खोया था....? इसके लिए प्रतीक्षा-रता युवती तपस्विनी बनी रही थी वह? तब उसने स्पष्ट मनकी आँखोंके आगे देखा जैसे किसी कफ़न ढँकी लाशपर उसने अपनी चूड़ियाँ फोड़ दी हों!

फिर धीरे-धीरे बलपूर्वक वह यह भूलने लगी कि उसने कभी किसीकी प्रतीक्षा की है, कोई उसकी मंजिल रहा है। वह तो बस, एक चिरन्तन पथिक है....!

और आज वह बीमार लेटी थी। आँखोंसे आँसू उमड़े चले आ रहे थे। रोहित मर गया....रोहित मर गया....रोहित मर गया...जैसे ख़राब रेकार्डकी सुई बार-बार इसी लाइनपर घूम रही हो....उसे पता था इधर-उधरसे आँसू बहकर कानोंमें भर रहे हैं। कानोंमें चुनचुनाहट हो रही है, लेकिन वह लेटी रही।

जाने क्यों उसके अन्तर्मनमें विश्वास था कि उसकी तपस्या कभी अधूरी नहीं जायेगी, उसके पास ऐसा कुछ है जो रोहितको, ठण्डी शिलाओंके नीचे दबे रोहितको निकालकर जीवित कर लेगा। वह मन्त्र पढ़ेगी और कफ़न फेंककर रोहित उठ खड़ा होगा, तब वह उससे लिपट जायेगी: देखो रोहित, कितने वर्ष मैंने तुम्हारी प्रतीक्षामें बिताये हैं, कबसे मैं तुम्हारी राहमें बैठी हूँ? मैं जानती थी तुम कहीं नहीं जाओगे....तुम आओगे.... क्योंकि तुम्हारे भीतर भी तो 'कोई' है जो अच्छी तरह जानता है कि कोई पार्वती, कोई अपर्णा तुम्हारी राहमें बैठी है....अपनेको सावित्री मान कर जाने कितनी बार सपनोंमें उसने भैंसेपर बैठे यमसे वाद-विवाद किया था। अपने रोहितको वापस बुला लिया था। लेकिन अब तो वह सब कुछ भी नहीं रहा।

डाकू चेतसिंहकी गोलीसे रोहित मर गया! दूर बड़ी अस्पष्ट-सी कुहासे

के पार चलनेवाली छायाका आखिरी सहारा भी टूट गया''''अब तक एक आसरा था, एक मानसिक बल था। किसीकी छातीपर सिर रखकर अपना अस्तित्व विसर्जित कर देनेका सपना जाने कहाँ छूट गया है। कभी ऐसा कोई सपना था भी, अब याद नहीं है''''

× × ×

चार-पाँच दिनमें मीनल चलने-फिरने लायक़ हो गयी।

इस बीच दो बार कुन्तल आयी, शोभन दा आये, गुप्ता आया और उसके स्कूलमें साथ पढ़ाने वाली टीचरों और विद्यार्थिनियोंका तो ताँता ही लग गया। लेकिन वह किसीसे भी अधिक नहीं बोलती और आँखें खोले या बन्द किये चुपचाप लेटी रहती। कुन्तलने उसके पाँव छुए, रो-रोकर माफ़ी माँगी : "दीदी, क्यों यों जान देनेपर तुली हो ? चलो न ?" कुन्तल को उसने छातीसे लगा लिया और स्वयं रोती रही, "कुन्तल, पगली ! तुझसे मैं नाराज़ रहूँगी ?" "ज़िन्दगी भरको मेरे दिलमें यह कील कसकती रहेगी, दीदी।" "नहीं, कुन्तल, नहीं ! नहीं रहा जायेगा तो तेरे पास ही तो आऊँगी। और मुझे जगह कहाँ है ?"—वह नहीं गयी। अपनी यह हठ उसे स्वयं चौंकाती थी।

अपनी एक चीज़ देख-देखकर उसे बड़ा सन्तोष होता था। पहले दिन जैसी एक असहाय-कातरता उसने अपने भीतर महसूस की थी, धीरे-धीरे वह निरन्तर कम होती चली गयी। अजब-सी दृढ़ता उसके भीतर आ गयी। दृढ़ता उसे शायद कहना ग़लत है : उसके चिन्तन और अनुभूति दोनोंकी शक्तियाँ धीरे-धीरे कुछ इस तरह सुन्न होती चली गयीं कि उसे अपनी चेतना 'बुढ़ियाके बालों' की मिठाईकी तरहके विस्मृति-तन्तुओंसे लिपटी लगने लगी।

उसके आगे अब कोई सपना नहीं था। उसकी अब कोई आकांक्षा नहीं थी। अब कोई अभिलाषा मरीचिका उसे अपने आगे-आगे दौड़ती नहीं लगती थी। सब जो कुछ हो रहा था बड़ा अवास्तविक और नक़ली था।

सिर्फ़ लगता था सचमुच घटित थोड़े ही हो रहा था। (एक बार उसे ऐसा लगा जैसे उसकी निगाहें कमज़ोर होती जा रही हैं। जाँचनेसे पहले डाक्टरने 'एट्रोपीन' डाला तब उसे दो-तीन दिन सब कुछ जैसा धुँधला-धुँधला दीखा था—बिलकुल वैसा ही अब दीखता था) वह जैसे कहीं बहुत दूर बैठी कुहरे और कुहासेके नीले नाइलोनी परदोंके पारसे हर चीज़को होता हुआ देखती। उसे लोग घूमते-फिरते, हाथ-पाँव-होंठ हिलाते लगते, लेकिन उनकी हर क्रियाके पीछे कोई भावना या संवेदना है—यह उसे लगता ही नहीं था। मानो सब कठपुतले थे।

अगर किसी कृतज्ञता और सकुचका वह अनुभव करती थी तो दोके प्रति—एक मिसेज़ वर्मा और दूसरा विपिन।

"मिसेज वर्मा, आपको तो सच, मैंने बड़ी ही तकलीफ़ दी। जाने किस जनमकी दुश्मन थी।" वह गद्गद होकर कहती।

"चुप! बहुत बक-बक करोगी तो मैं अब मारूँगी। मेरी अपनी बेटी होती तो उसे क्या मैं बाहर डाल देती?"—वे व्यस्त होकर अपने काममें लग जातीं।

तब अनायास मीनलकी आँखोंमें आँसू भर आते। 'अपनों' और 'परायों' का अन्तर उभर कर सामने आता। आश्चर्य होता था उसे मिसेज़ वर्माकी जीवनी-शक्तिपर। कितनी फ़ुर्ती है इनमें इस उम्रमें....और सबसे बड़ी बात, इतनी चुप कैसे रह पाती हैं? जाड़ोंमें सुबह पाँच बजे उठ जाना, फिर नहा-धोकर, पूजा-पाठ करके खाना बनाना, स्कूलकी तैयारी, सात-साढ़े छहपर विपिन और उसे खुद चाय पिला देना। अपने और विपिनके कपड़ोंकी मरम्मत, इस्त्री। सभी कुछ चुप-चुप करती रहती हैं। उम्र पैंतालीसके आस-पास होगी। बाल खिचड़ी हो गये हैं। रंग गोरा है, लेकिन अब झुरियाँ उभरने लगी हैं। दुहरा शरीर। सारा काम वह ऐसी स्वाभाविक निश्चिन्ततासे करती हैं मानो यही करनेके लिए उनमें चाबी भर दी गयी हो। कभी इन्हें आराम करनेकी इच्छा नहीं होती? जब वे

हाथमें चायका कप लेकर मीनलको जगातीं तो वह संकोचसे गड़ जाती। उससे तो, सच बात है सात-साढ़े सातसे पहले उठा नहीं जाता। मिसेज़ वर्माने मीनलको इस तरह स्वीकार कर लिया था, मानो वह युग-युगसे उनके साथ रहती आयी हो।

ठीक होनेके बाद रसोईमें उनके चूल्हेकी आगको छिपटीसे कुरेदते हुए निगाहें चुराती एक दिन मीनल बोली : "वर्मा बहनजी, अपना खाना मैं अलग बनाया करूँगी।"

"क्यों ?" उनका बेलन रोटीपर ही ठिठक गया। एक क्षण उन्होंने मीनलके चेहरेको देखा और पुनः बेलन चलाती हुई बोलीं : "अच्छी बात है।"

मीनलको विस्मय हुआ—वे इतनी जल्दी तैयार कैसे हो गयीं। वह तर्क रखना चाहती थी कि "एक दिनकी बात होती तो कुछ नहीं, अब तो यहीं रहना है।" लेकिन उन्होंने पूछा ही नहीं। विपिनके साथ जाकर शामको आवश्यक चीजें ले आयी। लेकिन अगले दिन जब उसे सारा चौका धुला-पुछा मिला तो पूछा : "यह क्या मिसेज़ वर्मा ?"

"तो तुम मेरे जूठे चूल्हेपर खाना बनाओगी ?" मिसेज़ वर्माने बिना उसकी ओर देखे ही जवाब दिया।

"चूल्हा भी जूठा होता है क्या ?" तब कहीं सहसा मीनलको ध्यान आया कि वह नागर ब्राह्मण है, और मिसेज़ वर्मा कायस्थ। अच्छा, तो यह समझकर उन्होंने उसके अलग खानेका विरोध नहीं किया। एक बार तो उसके मनमें आया कि वह उनके इस भ्रमको निकाल दे कि वह यह सब नहीं मानती। लेकिन फिर साथ खानेवाली समस्या आ जायेगी। उसमें चुप रहना ही ठीक समझा। पर यह भी तो नहीं चलेगा ?

"अच्छा तो एक काम कीजिए। मैं अलग अँगीठी मँगाये लेती हूँ।" मीनलको बड़ा आश्चर्य हुआ। अगर यही बात सच है तो इतने दिनों यह

इनके दिमाग़में क्यों नहीं आयी ? बिना नहाये वह चाय भी तो पीती हैं, उनके साथ और भी तो चीज़ें खाती-पीती है।

और फिर मीनलकी रसोई अलग पकने लगी''''शामको कौन झंझट करे, इसलिए वह पराँवठे बनाकर रख देती। मिसेज़ वर्माके बग़ल वाला कमरा उसने ले लिया। दोनों कमरोंके दरवाजोंके सामने बरामदा था, इसीमें एक ओर रसोई थी। फिर चौक। बाथरूम तथा विपिनके कमरेके बीचमें बाहर जानेकी गैलरी थी। आँगनमें ही ऊपर खुली छतपर जानेको सीढ़ियाँ थीं। सारा घर मीनल इस तरह बरतने लगी मानो बरसोंसे यहाँ रहती हो। सुबह स्कूल जानेकी जल्दी रहती थी फिर भी तीनों साथ बैठ कर खाते। "देखें मीनल दीदी, तुमने इस बार क्या बनाया है ?" विपिन कहता और माँके मना करनेपर भी मीनलके साथ खाने लगता। फिर सारा खाना इस तरह घुल-मिल जाता कि पता ही नहीं लगता कौन किसका है।

जान-बूझकर मीनल भूल गयी कि उसके कभी कहीं कोई सम्पर्क रहे हैं। उसके एक शोभन दा हैं जिनके साथ जीवनके उन्तीस-तीस वर्ष बिताये हैं उसने। जिन आदर्शोंके लिए, जिस हरीन्द्रके लिए जिन लोगों-को वह छोड़ आयी थी वे सब उसे ऐसे लगते जैसे कभी कहीं पिछले किसी जन्ममें उनसे चलता-सा परिचय हुआ था।

× × ×

और दूसरा था विपिन''''

"भाई मीनल दी, तुम्हारी यह बात हमें बिल्कुल भी पसन्द नहीं है।" जिस दिन अपनी छोटी-सी 'गृहस्थी'का सामान लेने वह विपिनके साथ गयी थी—उस दिन काफ़ी देर चुपचाप चलनेके बाद विपिन बोला था। जाने क्यों, उसका चेहरा तमतमा आया था और स्वर हकलाने लगा था। जल्दी-से उसने कहा : "एक तो वो हैं अम्मा, सो दिनभर चुप रहती हैं। दूसरी आप जैसोंमें तैसी आ मिलीं। ले-देकर एक बहन मिली है सो भी ऐसी चुप। आखिर हम क्या करें''''?

"आखिर क्या बोलूँ ?" स्नेहसे वह हँस आयी थी। उसने मार्क किया था कि विपिन जब उसके साथ रहता है तो बहुत संकुचित, अव्यवस्थित-सा तो रहता ही है लेकिन शायद बहुत खुश रहता है। मन ही मन यह भी वह महसूस करती थी कि विपिन चाहता है कि किसी तरह उसके दुखको बँटाये, हल्का करे या कमसे कम उधरसे मीनलका ध्यान हटाये रखे। इसलिए उससे बुलवाना चाहता है। अपने खोलसे निकलकर बाहर आये विपिनकी इस बेचैनीको मीनल जाने कैसे पढ़ने लगी है। बोली : "तुम बोलो तो मैं सुनूँगी····अच्छा बताओ, कॉलेजमें तुमने क्या-क्या किया ?"

बातके अन्तिम सिरेपर आकर वह फिर सुस्त हो गयी। जीभकी नोकपर आकर वाक्य रह गया, "आज शोभन दा दीखे थे क्या ? कुछ पूछते थे मेरे बारेमें ?" आखिर वे फिर आये क्यों नहीं।

"एक बात पूछूँ दीदी ?" विपिनने पूछा, "शोभन दा क्या आपको बिल्कुल भूल गये ? एकाध बार सामने पड़े तो इस तरह ठिठक गये जैसे कुछ कहना चाहते हों, फिर एकदम सिर झटककर चल पड़े ठोड़ी खुजाते।"

"रोज़ मिल जाते हैं क्या ?" मीनल सुनना चाहती थी कि वह कहे : शोभन दा बीमार हैं, बाहर गये हैं—इसलिए कॉलेज नहीं आते। उनसे उसके टूटते विश्वासको कोई तो बल मिले।

"हाँऽऽऽ।" विपिनने सिर हिलाया। दोनों चुपचाप चलते रहे। फिर जैसे अपने आप बोला : "मेरी बहन होती तो बीमारीमें उठा लाता।"

व्यथामें भी मीनल मुसकरायी : "शादीके तीन साल बाद देखूँगी कहाँ कहाँसे उठाके लाओगे मुझे।"

स्वरपर अस्वाभाविक बल देकर वह बोला : "देख लीजिए।"

सामने एक रेस्त्राँ था। विपिनने पूछा : "कुछ खायेंगी दीदी ?"

"नहीं !" मीनलके स्वरमें कुछ ऐसी सख्ती और तीखापन आ गया कि

विपिन एकदम चुप हो गया। स्वयं मीनलको अनुताप हुआ, पर बोली कुछ नहीं।

इन बीमारीके दिनोंमें विपिनने उसकी जितनी सेवा की है—शायद उसका आठवाँ हिस्सा भी उसने हरीन्द्रकी सेवा नहीं की। डॉक्टरके यहाँ से दवा लानेसे लेकर पानी पीनेको देने, या उठने-बैठनेमें मदद करने तक सब कुछ उसने ही किया। "मेरे तो छमाही इम्तहान हैं ही अम्मा, न उधर बैठा, इधर ही बैठकर पढ़ लिया करूँगा।" वह मिसेज वर्मासे कहता। रातको जब-जब उसकी आँख खुलती—विपिन टेबिल लेम्पके पास बैठा कोई किताब पढ़ता दीखता।

"कुछ चाहिए, दीदी ?" जाने कैसे वह जान लेता कि मीनलकी आँख खुल गयी है। क्यों बेचारा इतनी तकलीफ़ उठा रहा है यह ? मीनलकी आँखोंमें आँसू आ जाते। एक अपने भाई-भावज हैं और एक ये पराये लोग।

"विपिन, तुम अब जाकर सो जाओ।" विगलित कण्ठसे वह कहती।

"नहीं दीदी, ठीक है। इस किताबको ख़त्म करके चला जाऊँगा।"

"मैं कहती हूँ जाओ न, मुझे रोशनीमें नींद नहीं आती।" उसकी वाणीमें एक ऐसी अनजान उपेक्षा और तिताई आ जाती कि अपराधीकी तरह विपिन चुपचाप चला जाता। तब मीनल अपने इस व्यवहार, अपनी प्रकृतिको धिक्कारती—स्नेहके क्षणोंमें भी ज़रा-सा विरोध उससे क्यों नहीं सहा जाता ? क्यों भड़क उठती है वह यों ज़रा-सी बातपर····विपिनके प्रति कृतज्ञता और स्नेहसे भीग-भीग आते हुए भी वह मानो हर क्षण उसे बताये रखना चाहती थी कि देखो, मैं तुमसे उम्रमें सात-आठ वर्ष बड़ी हूँ, सामाजिक और पारिवारिक स्थितिमें ऊँची हूँ····मुझसे बराबरके स्तरपर आकर मिलनेकी धृष्टता मत करो····जो मैं कहूँ वही करते जाओ, बस।

विपिनको जाने क्यों वह कभी गम्भीरतापूर्वक नहीं ले पायी। जाने क्यों हमेशा उसे बच्चा समझती रही। उसके गालोंपर घने बाल उग आये

थे और मूँछें कुछ अजब बेचारगीका भाव देती हुई होठोंके दोनों सिरोंकी ओर झुक आयी थीं। अभी उसने ब्लेड यह सोचकर नहीं लगाया था कि जल्दी हजामत बनानेसे बाल कड़े हो जाते हैं। उसकी चीनियों जैसी छितरी झुकी-झुकी मूँछें देखकर मीनलको बड़ी विरक्ति होती। मन होता रेज़र लेकर खुद उसकी हजामत बना दे····! फिर अपने ऊपर झुँझलाहट भी आती : उसे क्या मतलब कोई कैसे ही रहे ? हमेशा उसे विपिन बढ़े शरीरका बच्चा जान पड़ता—जो चुप रहना सीख गया हो। आश्चर्य होता यह एम० ए० तक कैसे आ गया। अपने प्रति विपिनका रवैया देख कर उसे अजब-सी चिनचिनाहट छूटती, लेकिन फिर अपनेको समझाती—इसके कोई बहन नहीं है। शायद बहनके लिए तभी इतना प्यार है। क्यों नहीं वह भी इसे अपना छोटा भाई मान लेती ?

"विपिन, जाकर थोड़ा घूम आओ।" मिसेज़ वर्मा कभी ये शब्द कुछ ऐसे लहजे और अधिकारसे कहतीं कि सहसा ही मीनल चौंक पड़ती। जैसे मीनलके आस-पास विपिनका बहुत अधिक मँडराना उन्हें क़तई पसन्द नहीं है····लेकिन उसके बाहर जाते ही जब वे मीनलसे कहतीं, "सचमुच इसे तो बड़ी बहन मिल गयी है।" और फिर चुप होकर अपने स्वाभाविक ढंग-से मुसकरातीं तो मीनलको वह लहजा और वह ध्वनि अपना ही भ्रम लगता।

"देखो कितने बड़े घरकी लड़की है। बाप शहरका सबसे बड़ा वकील था, भैया प्रोफ़ेसर हैं····पर भैया, कौन किसका है आज कल ?" मीनलने सुना मिसेज़ वर्मा महरीसे कह रही थीं—"पर लड़की सोना है। घमण्ड तो छू नहीं गया। सारा काम अपने हाथ करती है।"

अगले दिनसे सचमुच वह अपना सारा काम खूब जोशसे करने लगी।

× × ×

कपड़ोंमें साबुन लगाकर रखा ही था कि तौलिया लटकाये ग़ुसलखाने-

के दरवाज़ेपर विपिन आ गया : "अरे दीदी, जाड़ेमें मरोगी क्या ? अभी तो तबीयत ख़राब हो चुकी है।"

"ठीक है। हैं ही कितने....?" मीनल थकी-सी मुसकरायी और मोगरी-से कपड़े और भी ज़ोर-ज़ोरसे कूटने लगी।

"अरे हटो न। मैं कूटे देता हूँ।" उसने कुछ डरी हुई निगाहोंसे चौके-की ओर एक बार देखकर कहा। भीतर घुसते हुए बोला : "हटो, हटो...." और उसने मीनलकी दोनों कुहनियोंके पास से बाहें पकड़कर कुछ ऐसे अजब ढंगसे उसे उठाया कि मीनलने ज़ोरसे कुहनी झटक दी : "छोड़ो।" और वह जल्दीसे बाहर निकल आयी। विपिन ठगा-सा खड़ा रह गया।

फिर कपड़े फटकारकर अलगनीपर सुखाते हुए वह अपनेको कोसती रही....क्यों इतनी जल्दी भड़क उठती है वह ? ऐसी क्या अनोखी बात उसने कर दी ? बीमारीमें दसों बार सहारा देकर उसने नहीं उठाया-बैठाया ? सचमुच वह बदलती परिस्थितिके साथ अपनेको बदल नहीं पा रही है; लेकिन बदलना तो है ही।

× × ×

अचानक मीनलकी आँख खुल गयी। उसे ऐसा लगा जैसे कोई काली छाया-सी उसपर झुकी है....झपटकर वह रज़ाई फेंकती एकदम सीधी बैठ गयी। कड़ककर भिंचे गलेसे पूछा, "कौन ?"

"मीनल दीदी मैं हूँ।" बड़ी सहमी-सी आवाज़ आयी : "मैं यहाँ अपना पेन तो रातको नहीं छोड़ गया ?"

हाथ बढ़ाकर मीनलने टेबिल लैम्प जला दिया और रज़ाई शरीरपर ले ली : "जाओ, इस वक्त यहाँ कोई पेन-वेन नहीं है। जाओ सीधे, नहीं तो मैं शोर मचाती हूँ।"

सिर झुकाये विपिन भिड़े किवाड़ोंको खोलता हुआ चुपचाप निकल गया। मीनल थर-थर काँप रही थी। उसकी समझमें नहीं आया, यह क्या हो गया। उसे याद आया, रातको उसके पास बैठा विपिन इसी

कमरेमें पढ़ता रहा था। उसकी बीमारीके बादसे खानेके बाद कुछ देर उसके पास बैठकर पढ़ता, फिर अपने कमरेमें चला जाता। रातको बार-बार अपनी बाहों और कनपटियोंपर मीनलको ऐसा लगता जैसे कोई उसे देख रहा है। निगाहें रेंग रही हैं। वह देखती तो झटकेसे सिर झुकाकर पढ़ने लगता!

मिसेज़ वर्मा लड़कियोंकी एक पार्टीको ऐतिहासिक स्थान दिखानेके लिए दो दिनको बाहर चली गयी थीं।

इसके बाद मीनलसे लेटे रहना मुश्किल हो गया। रोशनी उसने नहीं बुझाई लेकिन जब नहीं रहा गया तो वह सीधी आँगन पार करती विपिन-के कमरेके सामने आ खड़ी हुई। भीतर यहाँ भी रोशनी थी। एक क्षण ठिठकी, फिर धीरेसे किवाड़ खोले। विपिन मेज़पर सिर रखे कुर्सीपर बैठा था। मेज़पर किताबें बिखरी थीं। उसने किवाड़ पूरे खोल लिये और सीधे विपिनके खाटपर जा बैठी।

"विपिन!" दोनों कुहनियाँ मेज़पर रखकर उसने कड़े स्वरमें कहा।

विपिनने सिर नहीं उठाया। रुँधे गलेसे कहा: "जी!"

"विपिन सिर उठाकर इधर देखो मेरी तरफ़!" अंशतः अपनत्वभरे स्वरमें उसने फिर कहा: "विपिन!"

विपिनने सिर उठाया। उसकी आँखें लाल और मसली हुई थीं—पलकें उठ नहीं रही थीं।

"मेरी ओर देखो।" मीनल बोली: "तुमने मुझे अपनी बड़ी बहन कहा है। कहो, कहा है न?"

विपिनने सिर हिलाया। पलकें अब भी नहीं उठीं। मूँछोंके रोएँ कुछ और झुक आये थे।

"फिर?" मीनलका स्वर भीग आया: "यह सब क्या बचपना है, विपिन?"

"........"

"बोलो ? मिसेज़ वर्मा जानें तो तुम्हारी और मेरी क्या स्थिति हो ?" स्निग्ध स्वरमें कहा : "तुम चाहते हो, मैं यहाँसे चली जाऊँ ? बोलो ?"

विपिनने सिर हिलाया—नहीं । उसकी आँखोंके नीचे और गालोंके ऊपरकी खालपर करुण सलवटें उभर आयीं ।

"तो यह सब मत करो भैया ! देखो, तुम मेरे छोटे भाई हो । तुम्हीं यह सब करोगे, इसकी तो मैंने कभी उम्मीद भी नहीं की थी...." उठकर चलते हुए मीनलने प्यारसे विपिनके सिरपर हाथ फेरकर कहा : "चलो अब, सोओ । आगेसे यह सब मत करना...."

और स्विच ऑफ़ करती हुई वह चली आयी । विपिन मेज़पर सिर रखकर सिसक पड़ा ।

अगले दिन सुबह्से ही विपिनका पता नहीं था । पहली बार तो मीनलको आशंका हुई, कहीं चला न गया हो । क्या जवाब देगी वह मिसेज़ वर्माको ? उसके कमरेमें जाकर देखा । सब चीज़ें ज्योंकी त्यों थीं, उसका दिल धक्से रह गया ।

लेकिन उसके स्कूल जानेसे कुछ ही देर पहले चोरकी तरह चुपचाप विपिन आया और ग़ुसलखानेमें घुस गया । चलते-चलते अत्यन्त स्वाभाविक स्वरमें उसने कहा : "ये किवाड़ बन्द कर लेना विपिन ! तुम्हारा खाना ढँका रखा है।"

स्कूलमें दिन भर उसका मन नहीं लगा । और जाने कैसी बेचैनी-सी भीतर ही भीतर कचोटती रही । जैसे-जैसे सन्ध्या आती जाती, उसका दिल धसकता जाता । बार-बार इच्छा होती कि लौटकर जाये ही नहीं—लेकिन फिर कहाँ जाये ? मिस टण्डनको साथ ले ले ?

सन्ध्याको भी उसके आते ही विपिन चल दिया । चारों तरफ़ बड़ा बोझ, बड़ी घुटन थी; उसने व्यर्थ ही महरीको रोके रखा—उससे दुनिया भरकी बातें पूछती रही—उसके घरकी, परिवारकी । जब वह चली गयी तो रातको उस अकेले घरमें खाना बनाते हुए उसे ऐसा लगता रहा जैसे

जाने किस अनजान सागरके अकेले द्वीपपर यह घर बसा है—जिसके चारों ओर सन्नाटा है। किनारोंपर लहरें आकर टूटती हैं और लहर उठती हैं। जाने कितने युगोंसे वह यहाँ अकेली रहती आयी है। तब एक प्रश्न बार-बार उसके मनमें उठा, आखिर वह किस लिए ज़िन्दा है ? किसके लिए ? ····मनमें आया क्या करेगी खाना बनाकर ?

काफ़ी देर बाद विपिन आया। वह प्रतीक्षा कर रही थी। किवाड़ खोलते हुए मीनल बोली : "बड़ी देर कर दी। मैंने तुम्हारे लिए अभी तक खाना भी नहीं खाया।"

"मुझे भूख नहीं है, मीनल दीदी !" उसकी ओर देखे बिना ही विपिनने कहा।

"तो मुझसे कहा क्यों नहीं ? मैं अपने लिए ही क्यों बनाती ? थोड़ा तो खा लो।"

"नहीं सच दीदी, मुझे भूख नहीं है।" आजिज़ीसे वह बोला।

"ठीक है, तो मैं ही अकेली खाकर क्या करूँगी ?" वह बाहर चल दी। फिर पलटकर साधिकार पास जाकर कहा : "नाराज़ हो मुझसे न ? यों बड़ी बहनोंसे कहीं नाराज़ हुआ जाता है ? आओ, चलो।" और प्यारसे कन्धेपर हाथ रखकर वह उसे ले आयी।

चौका धुला हुआ था। गीले पत्थरोंपर विपिनके तलुए ठण्डसे सिकुड़ उठे। मीनलने पटरा दिया तो चुपचाप बैठा देखता रहा।

खाना परोसकर खुद कौर मुँहमें रखती हुई मीनल बोली : "खाओ, या यह भी मैं ही हाथसे खिलाऊँ, नन्हें-मुन्नेकी तरह ?"

निहायत अनिच्छासे विपिनने कौर तोड़ा।

"दिनभर कहाँ रहे ? कॉलेज तो गये नहीं तुम—है न ?"

विपिन कुछ नहीं बोला—चुपचाप धीरे-धीरे मुँह चलाता रहा।

"ठीकसे खाओ न, मिसेज़ वर्मा कहेंगी, मेरे बादमें लड़केको भूखा रखा !"

पहली बार विपिनके मनहूस चेहरेपर मुसकराहटका आभास झलका।

रातको काफ़ी करवटें बदलनेपर भी मीनलको नींद नहीं आयी। सुबह-का प्रश्न अभी भी उसके दिमाग़में रेंग रहा था: "आखिर वह किसके लिए, क्यों ज़िन्दा है?" जाने क्यों उसे विपिनपर क्रोध नहीं आ पा रहा था: वह रातका एकान्त, अकेले होनेका अहसास, अनुरोधपूर्वक विपिनको खिलाना···यह सब उसे किसी भूले हुए सपनेकी जागती स्मृतिसे लग रहे थे। जैसे बहुत पहले भी कहीं ऐसा ही कुछ हुआ था जो इस समय याद आ रहा था। एक बार पानी पीने उठी तो बाहर आँगनमें चटक चाँदनी खिली थी। निगाहें विपिनके कमरेकी ओर उठ गईं। बत्ती जली थी। मन हुआ देखें कहीं जलती छोड़कर सो तो नहीं गया। शायद उघड़ा पड़ा हो, ठीकसे उढ़ा दें। उसका मन हो रहा था किसीसे बातें करे। कोई करुण संगीत सुने। आज दिन भर किसीसे भी तो नहीं बोली। बड़ी विचित्र इच्छा जागी कि कल भी मिसेज़ वर्मा न आयें और वह इसी तरह अनुरोध करती हुई विपिनको खिलाये।

जाने किस जादूके सम्मोहनमें वह शॉल कन्धोंपर डालकर बाहर निकली और सीढ़ियाँ चढ़ती हुई ऊपर चली आयी। चाँदनीकी चटक कुहरेमें मिलकर बड़ी रहस्यमय हो गयी थी। सूनी छतपर एक ओर एक बिना बुनी खटियाका चौखटा पड़ा था—नीचे उसकी परछाईं थी····छातीके बराबर ऊँची मुँडेरोंकी छायाने आधी छतपर अँधेरा कर दिया। मीनलको याद आया ऐसी ही चाँदनी रातोंमें तो छतपर वे लोग मछली-मछली खेला करते थे—"बोल मेरी मछली कित्ता पानी····" दूसरी लड़की कमरपर हाथ रखकर कहती "इत्ता पानी····" कुहरेके साथ ओस गिर रही थी। मुँडेरके सहारे खड़े होकर उसने ठण्डी दीवारपर कनपटी टिका दी। सामने छतोंका सुनसान बिस्तर था। कहीं किसी कमरेकी खिड़की चमक रही थी। सब सुखसे सो रहे होंगे! गली छाया और प्रकाशमें बँटी हुई थी। दूर चौराहे-पर चौकीदार ग्रेट कोटमें ऊपरसे नीचे तक ढँका घोंसला-सा बनाकर बीड़ी

जला रहा था। बिजलीके तारोंपर चाँदनी चिलक रही थी। शुक्लपक्षमें म्युनिस्पैलिटीकी बत्तियाँ नहीं जलतीं। आसमान कुहरेमें खो गया था। ऐसी ही रातोंमें तो उनके बेले और रजनीगन्धाकी दूधिया क्यारियाँ गम-गमाया करती थीं। लॉनपर पाँव कैसे भीग जाते थे। मीनलको जैसे सचमुच कहींसे रजनीगन्धाकी खुशबू आती लगी। अभी पिछले महीने ही तो सब ऐसी रातमें पिकनिकपर गये थे। रोहित, शोभन दा, कुन्तल भाभी और गुप्ता। गुप्ताने कैम्प फ़ायर किया था। कुन्तल भाभीका हाथ देखता रहा था। हुँह! इतनी बार हाथ देखा, बताया कभी कि एक महीनेके भीतर ही मेरी तक़दीर क्यासे क्या हो जायेगी। मीनलकी आँखोंसे आँसू ढुलक आये। बूँद-बूँद दीवारपर टपकने लगी। जाने क्यों गुप्ताकी बड़ी याद आ रही थी। इस वक़्त होता तो कुछ बातें करती। उसे बोलनेका मर्ज़ है। उसकी आँखोंमें उसने कुछ ऐसा देखा है जिसे उसने चाहा भी है और कभी रोहितकी ओर देखकर झुठलाया भी है। और रोहित····?

"मीनल दीदी····।" फिर वही घुटा-सा स्वर मीनलने सुना। मुड़कर देखा उसके पास ही मुण्डेरके सहारे विपिन खड़ा था।

मानो मनके भीतरी स्तरोंमें वह इसका इन्तज़ार ही कर रही थी। उसे स्वयं आश्चर्य हुआ कि इस स्वरको सुनकर वह चौंकी क्यों नहीं। उसने कुछ नहीं कहा।

"मीनल दीदी, मुझे माफ़ नहीं करोगी मीनल दीदी····?" कई बार कुछ निगलकर विपिनने कठिनाईसे कहा और मीनलके बिलकुल निकट आ गया। अपना मुँह उसने मीनलकी ओर बढ़ा दिया : "लो मुझे मारो, मीनल दीदी।"

"पागल!" मीनलने उसकी दोनों कनपटियोंपर हथेलियाँ रखकर प्यारसे कहा : "ग़लती सभीसे हो जाती है। अब उसे भूल जाओ।"

विपिनने कनपटियोंसे उसके हाथ धीरेसे हटाकर मुण्डेरपर बाँहें फैला लीं। अपनी हथेलियोंको देखता हुआ बोला : "पता नहीं मीनल दीदी,

मुझे क्या हो गया है । न नींद आती है, न किसी काममें मन लगता है । दिमाग़की नसें ऐसी तनी रहती हैं जैसे अब तड़कीं—अब तड़कीं, हमेशा सिरसें पहिया-सा घूमता रहता है । तुम बताओ मैं क्या करूँ मीनल दीदी ?" उसने बड़ी याचना भरी निगाहोंसे गर्दन मोड़कर मीनलको देखा । "हमेशा तुम आँखोंके सामने रहती हो ।"

"ठीक है, अब तो ठीक हो गया न ? बस !" मीनलको सच ही सामने खड़े अबोध युवकपर बड़ी दया आयी । एक बार मन हुआ ज़ोरसे उसे छातीसे चिपका ले····। उसके माथे और बालोंपर हाथ फेरकर उसने कहा : "तुम मुझे बहुत प्यार करते हो न ? तुम्हारे मनको मैं जानती हूँ । लेकिन यह सब मत करो ।"

"नहीं मीनल दीदी ! तुम अम्मासे कह दो, खुद मारो मुझे : पर मुझे बता दो मैं क्या करूँ ? मुझसे अब नहीं सहा जाता ।"—विपिन सच ही ऐसी कातर असहाय मुद्रामें यह सब कह रहा था कि मीनल पिघल उठी । उसके हर शब्दमें मरोड़े खाता हृदय बोलता था । उस क्षण मीनलके मनमें आया इसे मुक्ति देनेके लिए वह क्या न दे डाले ।

और जब सहसा दोनों बाहोंमें भरकर विपिनने मीनलकी कनपटीपर जलते होंठ रख दिये तो उसने जरा भी विरोध नहीं किया । वह शान्त और निर्विकार खड़ी रही । एक अद्‌भुत वत्सल स्निग्धता उसके चेहरेपर छा गयी । विपिनके माथेपर पसीनेकी बूँदें झलमला आयी थीं । उन्हें पल्लेसे पोंछते हुए उसे लगा जैसे कभी कहीं बहुत पहले उसने किसी और-का भी पसीना पोंछा था या शायद पसीना पोंछनेकी अभिलाषाको पाला था । निरुद्विग्न स्वरसे कहा—"बस ? अब चलो, चलकर सो जाओ ।" फिर उसके कन्धेपर हाथ रखकर वह उसे इस तरह नीचे उतार लायी थी जैसे वर्षोंके बीमारको ला रही हो ।

उसके कमरेके दरवाज़ेपर खड़े होकर प्यारसे उसे भीतर धक्का देती

हुई बोली, "अब दिमाग़ शान्त कर लो। पढ़ो-लिखो। इन बातोंमें वक़्त मत गँवाओ। अच्छा अब सुबह मिलेंगे।" वह जाने लगी।

विपिनने उसके उँगलियोंकी पोरें खींचते हुए प्रार्थनासे कहा : "मीनल दीदी!"

"नहीं!" मीनलके स्वरमें पुरानी कड़क आ गयी।

"मीन...."

"मैं कहती हूँ, नहीं....।"

वह हाथ छुड़ाकर चली आयी। लेकिन अपने कमरेके दरवाज़ेपर जाकर फिर लौट आयी। विपिन मानो असमंजसमें सिर झुकाये चौखटपर ही खड़ा था।

"सोये नहीं, चलो।" कन्धेपर फिर हाथ रखकर जब वह विपिनको बिस्तर तक लायी तो वह आज्ञाकारी बच्चेकी तरह चला आया। चुपचाप लेट गया। उसे रज़ाई उढ़ाकर जब वह चलने लगी तो फिर प्रार्थनासे डरते-डरते कहा : "दीदी, थोड़ी देर बैठो।"

आशाके विपरीत मीनल निस्संकोच उसकी चारपाईपर बैठ गयी : "बोलो क्या चाहते हो आख़िर?"

करवट लेकर विपिनने अपना सिर मीनलकी गोदमें गड़ा दिया : "दीदी मैं क्या करूँ बताओ? तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो।"

मीनल उसके सिरको धीरे-धीरे थपकती रही : "विपिन! सच तुम्हें क्या पागलपन सवार हो गया है विपिन? तुम बिलकुल नहीं देखते, मैं तुमसे कितनी बड़ी हूँ? तुम मुझसे आठ साल छोटे हो। यह सब करनेकी कैसे तुम्हारी हिम्मत होती है।"

"मैं क़समसे कहता हूँ दीदी, जाने मुझे क्या हो गया है? मैं तुम्हारे बिना न रहूँगा।"

मीनलकी गालोंपर आँसू रेंगते रहे। कुछ देर चुप रहकर मीनल उसके बाल पकड़कर सिर घुमाती हुई बोली : "अच्छा, इधर देखो मेरी ओर।

देखो ।" मीनलने देखा विपिनकी पलकें नहीं उठ रही थीं । बड़ी दर्दीली मुसकराहटसे कहा : "मुझसे शादी करोगे ?"

विपिन कुछ नहीं बोला । मीनल प्रतीक्षा करती रही ।

"बस ? इतना ही जोश है न । सिर्फ़ खिलवाड़ करना चाहते हो ?" निस्तेज कड़वाहटसे वह बोली : "या अपने घर रखनेका बदला चाहते हो ?"

"दीदी····।" विपिन बोला । उसका स्वर कराह उठा, मानो कहना चाहता हो ऐसा न कहो ।

"अब भी दीदी ही कहे जाओगे ?"

"करूँगा, मैं तुमसे शादी करूँगा !" विपिनने कहा तो मीनल बड़प्पन-से मुसकरायी : बच्चा····!

"रहेंगे कहाँ हमलोग ? यहाँ तो अम्मा रहने नहीं देंगी ।" इस विकट स्थितिमें भी मीनलका तलख़ विनोद जागा ।

"अम्माको रखना होगा····मैं अलग रह लूँगा····हम दूसरे शहरमें चले जायेंगे····"

"दूसरे शहरमें कहाँ ? मेरे पास तो कुछ है नहीं । तुम्हारे पास है कुछ ?"

"मैं चुरा लूँगा अम्माके रुपये ! नौकरी कर लूँगा ।"

"नौकरी····।" अविश्वाससे मीनल हँसी : कैसा खिलौने जैसा बोले चला जा रहा है : "अच्छा, मैं तो बहुत बड़ी हूँ न तुमसे····। लोग कहेंगे····"

"जाने दो लोगोंको भाड़में । शेक्सपियरकी पत्नी भी तो उससे सात साल बड़ी थी····।" 'शेक्सपियर !' मीनल रातके सन्नाटेका ख़याल न करके सचमुच खिलखिलाकर हँस पड़ी । बड़ी विचित्र-सी बात उसके मनमें आयी । अगर मैं इस समय इससे मिसेज़ वर्माका सिर काट लानेको कहूँ तो शायद एक मिनटकी भी देर न करे । किस तरह इसने अपने आपको मेरे हाथोंमें छोड़ दिया है । जो मैं चाहती हूँ वह बोलता है ।

तब जाने कैसा एक आवेग उसकी छातीमें उठा कि उसने ज़ोरसे उसका सिर अपनी बाहोंमें भींच लिया फिर उसके माथेको चूमकर कहा : "बुद्धू ! बेवकूफ़ !"

× × ×

सुबह वह काफ़ी देरसे उठी। पता नहीं कब विपिनने दूधवालेसे दूध ले लिया था। लेटे-लेटे छतकी ओर ताकती दुनिया भरकी बातें सोचती रही। उठनेको मन नहीं कर रहा था। लेकिन दस-ग्यारहके क़रीब मिसेज़ वर्मा आयेंगी—क्या सोचेंगी घर देखकर ? दो दिनको चली गयी तो घूरा कर दिया। ग्लानिसे मीनलका तन और मन भरा था। किससे कहे क्या कहे जो उसके मनमें घुमड़ घुट रहा है—कोई सुने तो उलटा उसे ही तो गालियाँ देगा—"वो तो बच्चा था, पर तेरी अक्लपर क्या पत्थर पड़ गये थे।"

घरका काम करती जाती थी और एक-एक टुकड़ा बात उसके सामने आती-जाती थी—कभी आगेकी बात, कभी पीछेकी बात—जाने क्यों झाड़ू लगाते हुए बार-बार कलेजा उमड़ा आ रहा था।

बड़े शीशेके सामने बाल सँवारते समय टूटे बालोंका मोटा-सा गुच्छा कंघेसे निकालकर उसने देखा : अरे बाल कितने छोटे रह गये हैं ! जूड़ा भी बनाये तो मुट्ठी भरका बनेगा—चोटीका तो सवाल ही नहीं उठता। गालोंकी निकली हड्डियाँ और आँखोंके नीचेके गड्ढे उसे अब और भी बड़े होकर दीख रहे थे। उसने देखा हँसली गलेकी और हथेलीके पीछे उँगलियोंकी नसें पतली-पतली रस्सियोंकी तरह उभर आयी थीं—हँसलीकी हड्डी तो इतनी उभरी हुई है कि उसमेंसे गर्दन कछुएकी गर्दनकी तरह लगती है। वाक्य गूँजा : "मीनल दीदी ! तुम मेरे मन और आँखोंपर छाई रहती हो।" और एक अजब खिसियानी-सी हँसी उसके होठोंके कोनोंपर उभरी। सचमुच होठोंके दोनों ओर कैसी मोटी-मोटी झुर्रियाँ उभर आयी

हैं····हाथ सूखी पतली लकड़ियोंसे रह गये। अरे, वह तो वाक़ई बुढ़िया हो गयी।

कम्बख़्त हर बातपर आँखें डबडबा आती हैं। कैसी अजब स्थिति है! मरीचिकाओंके पीछे भागते-भागते उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया कि वह स्वयं क्या रही जा रही है। शरीर! शरीर भी कुछ माँगता है इस बात-को अर्सेसे वह भूल गयी है। ब्लाउज़ बाहोंपर कैसा झूल आया है।

लेकिन····लेकिन यह आख़िर वह क्या कर रही है। रह-रहकर एक ऐसा धिक्कार मनमें उठ रहा था कि वह ख़ुद अपने-आपसे डर रही थी—कहीं दृढ़ क़दमोंसे सीधे चौकेमें जाकर वह भड़ाकसे किवाड़ न बन्द करले और शरीरपर मिट्टीके तेलकी बोतल औंधा कर····ढालपर लुढ़कते हुए हर तिनकेको मुट्ठीमें पकड़नेसे पहले तिनकेकी सामर्थ्य भी तो उसे देखनी चाहिए न····फिर एक नई मरीचिका····आख़िर इस सबका अन्त क्या है?

मीनलको लगा सचमुच वह बुढ़िया हो गयी है। जाने किस अनादि कालसे जीवित रहती आयी है और कब तक बनी रहेगी। एक ऐसी अशरीरी चेतना जो सब देखती, अनुभव करती और सोचती है। अभी कल ही तो छोटे-छोटे 'लिलीपुटियन' उस फुट-भरके मैदानमें लड़ रहे थे। एकने अपना नाम अर्जुन रख लिया था, दूसरेने दुर्योधन! अपने इस खिल-वाड़को नाम दे दिया 'महाभारत!' उसने ख़ुद सब अपनी आँखोंसे देखा····कितनी एकाकी····कैसी असहाय वह जीती चली आयी है।

कंघा जब हाथसे छूटकर 'खट्'से धरतीपर गिर पड़ा तो उसे होश आया—सामने अब भी बुढ़िया मीनल खड़ी थी। "ऐ बुढ़िया हटो एक तरफ़!" सड़कपर आवारा बुढ़ियाके रूपमें उसे अपनी तस्वीर दिखायी दी····उफ़ देखो न, लोगोंने उसे कितनी जल्दी बुढ़िया बना दिया····अभी उसने कुछ भी तो नहीं जिया····कुछ भी तो नहीं देखा ज़िन्दगीमें····उसके सारे सपनोंको घोटकर मार दिया कम्बख़्तोंने। आज न उसका कोई भाई

है न भाभी····दूसरोंके टुकड़ोंपर पड़ी····हाय, अकेली भी तो नहीं रह सकती। पुरुष होती तो····हाय, एक क्षण भी तो ऐसा नहीं जिसे सचमुच उसने जिया हो और अकेले क्षणोंमें जो चेतनापर मँडराता रहे।

कंघा एक तरफ़ फेंककर वह चारपाईपर जा पड़ी औंधी····रोएँ-रोएँसे उबल-उबल कर आँसू उसके शरीरका बाँध तोड़कर फूट पड़ना चाहते थे! अब इस स्थितिपर पहुँचकर दुबारा जीवन भी तो शुरू नहीं कर सकती! आखिर किस बूते, किस सम्बलपर वह ज़िन्दगीकी राहोंमें कमर कसकर चल पड़े? ····रूप? धन····? निष्ठा····? प्रतिष्ठा····? प्यार····? और····और चरित्र····?

: ७ :

मुद्राराक्षस

ग़लत सपनोंके रथ

आईनेके सामने खड़ी मीनलको लगा वह एक धुरीपर बेवस घूम रही है, किसी कठोर चुटकीसे घुमाकर छोड़ दिये गये लट्टूकी तरह बेतहाशा चक्कर खा रही है, और उसकी धुरी आहिस्ता-आहिस्ता ज़मीनमें सूराख़ करती हुई धँस रही है, धँस रही है !

आईनेकी बूढ़ी मीनल धुँधली पड़ गयी और फिर आईना भी आहिस्ता-से खिसककर चुपचाप दो हो गया। अधजलेसे होशमें मीनलने रह-रहकर चाहा कि कुम्हारके चाककी तरह घूमती इस ज़िन्दगीका कोई पहलू धुरीसे झुककर ज़मीनसे छुआ दे और डगमगाकर सहसा यह आवर्त्त थम जाये। लेकिन मीनल धुरीपर झुकती गयी, झुकती गयी, और ज्यादा झुकी पर उसके दामनसे ज़मीनका एक तिनका भी न छू सका। तेज़ीसे घूमती ज़िन्दगी अब डगमगा उठी, पाये-पायेसे झूल गयी। लेकिन मीनल ? मीनल किसी बहुत ऊँची कीलपर बिंधी हुई घूम रही थी, डगमगाकर, डोलकर बेतहाशा घूम रही थी !

नहीं विपिन, तुम वह अर्जुन नहीं जो ऊँची धुरीपर घूमती इस मछली-को बेधकर नीचे ला सको। मीनल भी एक मछली ही है जो बिंध नहीं सकी ! स्वयंवरकी महफ़िल उखड़ गयी, मीनल ज्योंकी त्यों घूम रही है, ऊँची धुरीपर !

इन्तज़ारकी धूप आयी, सब्रतलब रातें टूटती रहीं, पर स्वयंवरकी महफ़िल जमी नहीं, अर्जुन कोई नहीं आया, मीनल अनबिंधी मछलीकी तरह धुरीपर घूमती रही। उसने झुककर चाहा कि ज़मीनसे टिक जाये,

टिककर थम जाये। पर वह सुकूनकी ज़मीन ? ज़मीन कहाँ है, कितनी दूर है, मीनल थाह न सकी। विपिन ? नहीं; विपिन ज़मीन नहीं। वह तो ख़ुद एक धुरीपर घूमता हुआ लट्टू है, ज़मीनके लिए बेताब।

तेज़ीसे घूमती हुई दो चीज़ोंके टकरानेसे चिनगारियाँ फूटती हैं ठहराव नहीं आता ! मीनलको लग रहा था जैसे उसका चेहरा टकराहटसे छिटकी चिनगारियोंसे झुलस गया हो ! झुलसे चेहरेवाली मीनल बेतहाशा घूम रही थी—स्वयंवरके लिए कभी न बेधी जानेवाली मछलीकी तरह !

उसने देखा जैसे कभी-कभी एक तस्वीर चमक उठती है : ग्रैनाइटकी विशाल चट्टानोंके नीचे जलकुण्डमें दीखता रोली लगा मीनलका धुँधला चेहरा और रुपहली मछलियोंका एक जोड़ा पानीमें फुदकता हुआ और छोटे-छोटे सफ़ेद फूलोंवाली जलघासकी नाज़ुक टहनी....!

नहीं मीनल वहाँ नहीं, मीनल अतीतकी किसी भी तस्वीरमें नहीं है। वह है तो केवल इसी ऊँची धुरीपर घूमती हुई : अपने सारे अतीत, वर्तमान और भविष्यको केवल एक धुरीपर समेटे हुए ! मीनल अतीतमें कहीं नहीं ! अतीतमें ही क्यों, मीनल समयकी सीढ़ियोंपर कहीं नहीं। समयका आयाम ही नहीं है मीनलके जीवनमें। क्योंकि समय होता है तो कुछ बीत चुकता है, कुछ बीतता रहता है, और कुछ बीतनेको तैयार सामने आता है। पर मीनलमें विगत भी कुछ नहीं, आगत भी नहीं, अनागत भी कुछ नहीं ही है ! एक बिन्दु बनाकर छोड़ दी गयी वाक्यकी रेखा भर है वह ! काश, कुछ लिख जाता उस बिन्दु रेखापर ! कुछ समा जाता इस एकरस रिक्ततामें !

जलाकर बुझा दिये गये हसरतके चिराग़पर घूम-घूमकर रह जाती धुएँकी नाकाम रेखा-सी मीनल....

× × ×

मीनल रोई नहीं, सुलगी ! भीगी लकड़ियोंकी एक लावारिस चितापर करवट ले-लेकर वह सुलगती रही ! बिना लपटके धुएँकी रस्सियोंसे जकड़ती

हुई वह सुलगती रही। स्वयंवरके उत्सवमें कोई अर्जुन नहीं आया, घूमती हुई ज़िन्दगीका कोई पहलू जमीन न छू पाया, मीनल इन्तज़ारकी धुरीपर बिंधी रही, लावारिस चितापर करवट ले-लेकर सुलगती रही····

शोभन, तुम्हें कबीर बहुत प्रिय था न! और कबीर कहता था : चन्दन काठकी एक सेज बनी जिसपर दुल्हन सोई! जगसे नाता छूट गया! लोगोंने रो-धोकर उसे चादर उढ़ा दी! चिताकी डोलीपर वह प्रियसे मिलने चल पड़ी! लेकिन शोभन, तुम्हारी मीनलको चन्दन काठकी चिता नसीब नहीं हुई! मरकर भी वह प्रियसे मिलनेका सपना नहीं देख सकती शोभन! शोभन इस डोलीको वापस लौटा लो, इस चादरको खींच लो बीरा! क्योंकि मेरा हाथ किसीने नहीं लिया, किसी वेदर्द पुरोहितने मेरी गाँठ नहीं जोड़ी! इस चितासे मुझे उठा लो शोभन, मुझे उठा लो····

लेकिन इस बिन्दुका बनेगा क्या? मीनल इस शून्यको कहाँ रखे? इस अस्तित्व-हीनताके प्यालेको मीनल कहाँ तोड़ दे? विपिन! नहीं, विपिन ख़ुद एक अस्तित्वहीनताका शीशेका प्याला है! विपिन—नहीं, नहीं, नहीं!!

× × ×

मीनलने अपने मनकी राख अपने चेहरेपर पोत ली। पहले दिन विपिनने समझा कि माँ आ गयी है इसलिए मीनल दीदीने एक पर्दा खींच लिया। दूसरे दिन वह अकेली थी, विपिन आया तो मीनल उसे स्कूलके चुटकुले सुनाने लगी। एक साँसमें हँसी और हँसीसे गुथे चुटकुले और फिर हँसी। विपिन फीकी निगाहोंसे मीनलको देखता हुआ हँसीमें साथ देता रहा। सहसा मीनलने हँसते-ही-हँसते विपिनकी माँको आवाज़ दी। बोली, "प्रिन्सिपलकी एक मज़ेदार बात बताऊँ!"

हँसी मीनलकी नहीं रुकी और माँको मीनलके पास छोड़कर विपिन उठ गया। तीसरे दिन एकान्त आया भी तो मीनल एक मछलीकी तरह सरककर कहीं खो गयी। अब विपिनको महसूस हुआ कि यह पर्दा ही नहीं

कुछ और भी है ! विपिनकी आँखोंका आग्रह, उसके आत्मपीड़नकी चेष्टाएँ जैसे देखी जाकर भी अनदेखी कर दी गयीं। एक दिन विपिन रातके पिछले पहर तक खुले आँगनमें नंगी ज़मीनपर लेटा रहा। सोचा शायद मीनल आये। वह सो भी न सका, आखिर उठकर अन्दर चला गया। दूसरे दिन सुबहसे शाम तक धूपमें छत ठीक करता रहा। माँ झल्लायी, पर बिना कुछ खाये-पिये शामको निकल गया तो आधी रात घर लौटा। पर मीनलके चेहरेकी राखसे चिनगारी नहीं फूटी, नहीं ही फूटी ! नफ़रत और क़शिशकी दो जंजीरें कसती गयीं और उनके बीच खिंचकर बँधे क़ैदीकी तरह वह टूटता रहा, छटपटाता रहा। नामुरादीकी यन्त्रणाओंसे कट-कटकर वह तड़पता रहा, पर मीनलकी राख नहीं धुली।

उस दिन रात कोई दस बजे होंगे। मिसेज़ वर्मा हड़बड़ाकर चौकेकी तरफ़ दौड़ीं हल्दी लाने। मीनलने सुना नाखून काटतेमें विपिनकी कलाईपर बड़ा ज़ख्म हो गया।

मिसेज़ वर्मा काँपते हाथोंसे पट्टी बाँध रही थीं और विपिन कुर्सीके तकियेके सहारे सिर ढाले चुपचाप बैठा था। होंठ भिंचे हुए थे और चेहरा एकदम सफ़ेद !

मीनलने मिसेज़ वर्माको हटाकर खुद पट्टी ले ली। विपिनकी कलाई छुई ही थी कि उसने चीख कर हाथ खींच लिया। आँखें फिर भी नहीं खुलीं ! माँसे बोला, "बहुत दर्द हो रहा है, तुम्हीं पट्टी बाँधो।" मीनलने चुपचाप पट्टी दे दी।

उस रात मीनल सो न सकी। सारी रात वह सोचती रही कि जो निर्णय उसने किया वह कहीं खोखला है, जिस फोड़ेको वह दबा देना चाहती है, वह जहर फैला रहा है ! दूसरे दिन कॉलेजमें उसने अपनी डायरी खोली तो एक छोटी-सी काग़ज़की स्लिप जिल्दमें ही अटकी मिली। घसीटी हुई लिखावटमें उसने पढ़ा : तुम्हें चुम्बनसे ज़्यादा स्वाद शायद खूनमें मिलता हो ! काश, इस तरह सुलग-सुलगकर खून सुखानेके

बजाय मैं तुम्हें अपनी गर्दनमें फाँसी लगाकर दिखा सकूँ ! मुझे बल दो मेरी दीदी !

मीनलका अपनापन धुँधला पड़ गया। उसे लगा जैसे उसकी गोदमें कोई ज़िद्दी शिशु है जिसकी शरारत हदसे गुज़र गयी हो लेकिन फिर भी जिसपर प्यार आता हो ! मीनल प्रकृतिस्थ हुई तो एक अवश ग्लानिसे भर रही थी, न घूँटी जा सकनेवाली ग्लानि····!

शामको वह छतपर गयी तो विपिन मुँडेरेके सहारे झुका सिगरेट पी रहा था। मीनलने देखा तो सहसा एक हँसी-सी आ गयी। विपिनने जान-कर भी मीनलकी ओर आँख नहीं उठायी।

"विपिन, बहुत नाराज़ हो ?"

विपिन चुपचाप सिगरेट पीता रहा। मीनलने फिर पूछा। विपिन बिना कोई जवाब दिये चुपचाप नीचे देखता रहा। मीनलने तीसरी बार पूछा। इस बार विपिन हिला। झटकेके साथ हाथकी सिगरेट नीचे फेंकी और एक भोंड़ी, बनावटी हँसी हँसा। दूर किसी टॉवरने झनकारती आवाज़में सात बजाये। विपिन बोला, "मैं अपनेको छोड़ और किसीसे नाराज़ नहीं।"

"सच कह रहे हो विपिन ? मैं कहूँ ? तुम नाराज किसी दूसरेसे ही हो, गुस्सा अपनेपर उतार रहे हो ! विपिन, बचपना मत करो, तुम्हारे सामने बहुत बड़ी ज़िन्दगी पड़ी है !"

विपिन घूमकर सीधे मीनलके सामने खड़ा हो गया, "दीदी हिन्दुस्तानमें वे श्रमणिकाएँ बहुत हो चुकी हैं जो चीवरके परदेमें अपनी नफ़सका जुआ खेलती थीं और उपदेशोंके झण्डेपर····"

"झण्डेपर प्रेम-पत्र लिखती थीं ! क्यों ?" मीनलने वाक्य पूरा किया, "विपिन, अपने आवेशसे बाहर आओ। बोलनेके लिए सोचे गये वाक्य भूल जाओ। परिस्थितिको समझनेकी कोशिश करो ! मैं अपना नहीं तुम्हारा भविष्य देख रही हूँ।"

विपिन घुटनसे जैसे आपाद-शिर थरथरा गया। गुस्सेकी हद तक तमतमाकर अपने दोनों हाथ उसने सख़्त दीवारपर पटक दिये। मीनल चौंक उठी! सहसा उसके कण्ठ तक उभरकर आया, "काश तुम बच्चे नहीं मर्द होते, और क्षोभका यह आघात अपनेपर नहीं मीनलकी अनबिंधी देह-पर करते!" मीनल ख़ामोश रह गयी। विपिन दोनों हथेलियोंको चेहरेपर ढँककर बैठ गया। शामके घने कोलाहलमय धुँधलेमें वह एक मासूम बच्चे-की तरह सिसकने लगा।

मीनलको लगा उनका कण्ठ उलझ रहा है। उसने झुककर विपिनके बालोंपर हाथ रख दिया। कन्धेपर पड़ा साड़ीका पल्ला सरककर विपिनके चौड़े कन्धेपर झूल गया। 'विपिन!' मीनलने काँपती आवाज़में पुकारा।

विपिनने एक पलको अपना आवेग रोका और जैसे रोएँ-रोएँसे थर-थराता हुआ तड़पकर खड़ा हो गया, "क्या चाहती हो? मैं ख़ुदकुशी कर लूँ तभी····तभी····" और उसने तेज़ीसे साँस खींचकर अपनेको पत्थरकी तरह जड़ कर लिया।

मीनल धीरेसे हटी, एक क्षण विपिनको देखकर नज़र झुका ली। फिर पीछे लौट पड़ी—विपिन, तुम ज़रूर कर सकते हो ख़ुदकुशी! जो मुझे करना चाहिए वह तुम कर सकते हो, और सिर्फ़ इतनेके लिए कि तुम अपने दर्दका सुबूत दे सको। काश, मुझे देखते जिसका कोई ऐसा भी नहीं जिसके सामने वह अपनी आगके छाले उघाड़ सके····

सीढ़ियोंपर मीनल मिसेज़ वर्मासे टकराकर चौंक पड़ी। चेतनामें आकर उसे महसूस हुआ उसके गालोंपर सर्द आँसुओंके डोरे खिंचे थे।

"क्या है यह मीनल?" मिसेज़ वर्माने पूछा।

मीनल अपनको तोड़कर कमरेमें लौट आयी। मिसेज़ वर्मा सीढ़ियोंपर कुछ देर ठिठकी खड़ी रहीं फिर ऊपर चली गयीं।

कमरेमें आयी तो मीनलको लगा अब वह कमरेसे बाहर नहीं झाँक सकती। शायद जो सच नहीं है वह सच साबित हो गया। जैसे किसीने बेगुनाहको पकड़कर सूलीसे बाँध दिया हो। मिसेज़ वर्मा कुछ समझेंगी; पर उसे सही करनेकी सामर्थ्य मीनलमें नहीं। मीनलके तेजकी मणि जैसे छिन गयी हो। ओ न मिले अर्जुन, तुमने धुरीपर लटकी इस मछलीको बेधा नहीं और अनबिंधी ही नहीं छोड़ा, उसके तेजकी मणि भी छीन ली! मैं अश्वत्थामा तो नहीं ही हूँ अर्जुन, मैंने किसीके बेटेकी हत्या भी नहीं की, फिर तुमने मेरा तेज क्यों छीन लिया?

मिसेज़ वर्माको मीनल क्या उत्तर दे? कैसे अपनी सफ़ाई दे कि उसके बेटेके सुकूनकी हत्या उसने नहीं की! वह तो मिसेज़ वर्माके बेटेके सुकूनकी हत्या करनेवाली अश्वत्थामा ही समझी जायेगी और मीनलके पास तेजकी वह मणि भी नहीं कि अपने निर्दोष मनका सुबूत पेश कर सके! अपराधके सलीबसे अब वह नीचे नहीं आ सकती! लगा उसके आस-पास एक भयानक रूपसे उत्तेजित भीड़ जमा है: हाथोंमें आगके फ़लीते लिये हुए, पत्थरोंसे मीनलको चूर कर देनेको तैयार। पर भीड़की ग़लत समझको सही कर देनेके लिए आज मीनलके पास बेज़ुबान दर्दकी वह शिकन, वह कराह, भी नहीं है जो उसके चेहरेपर पसीनेके साथ फूट आये।

मीनल रो न सकी, जलकर राख नहीं हो सकी। सर्द हो गये मनमें वह तपिश नहीं आयी कि उसके परितापकी धार खौलकर भाप बन जाये, उसके अस्तित्वकी दीवारोंको फाड़कर धज्जियाँ कर दे।

मीनलने कमरेकी किसी चीज़को नहीं छुआ, कुछ भी साथ नहीं लिया। बिल्कुल अकेली, ख़ामोश, मकानके दरवाज़ेसे अँधेरेमें रोये आँसूकी तरह सरककर बाहर हो गयी। बिल्कुल अकेली अँधेरे और कोलाहलके अलक्ष प्रेतोंसे घिरी जैसे किसी नरककी राहपर चल दी। प्रेत डराते रहे और वह एक गुनहगारकी तरह बेबस नीची निगाह किये चलती गयी।

× × ×

शोभनने सुना मीनल कहीं गयी। न जाने क्यों शोभनको लगा वह कहीं दूर गयी। खोजकर मिलेगी नहीं। शोभनको बौद्ध दर्शनका लंकावतार सूत्र याद आया : जानेवाला भी नहीं जा रहा और न जानेवाला भी नहीं जा रहा, क्योंकि कोई चल रहा है यह सम्भावना ही ग़लत है। ज़ेनोने कहा था कि धनुषसे तीर छूटा यह ग़लत है क्योंकि तीर आगे बढ़ सकता है यह मुमकिन नहीं।

मीनल चल रही है, हरीन्द्र चल रहा है—यह सब ग़लत है, अर्थहीन है। मुमकिन है कि सारा संसार चल रहा हो, पर मीनल और हरीन्द्र चल रहे हैं, यह ग़लत है। चलना वही तो कहा जायेगा जिसमें कोई राह रौंदी जाये! पर मीनल और हरीन्द्रकी क्या कोई राह है? फिर, वे चल रहे हैं इसका तात्पर्य?

शोभनकी इच्छा हुई कि वह दोनोंको पुकारकर कहे : 'ओ मूर्खो, लौट आओ, आकर यहाँ बैठ जाओ, क्योंकि तुम दोनोंकी रौंद निरर्थक है!' पर शोभनकी आवाज़ उसीके अन्तरकी गुहाओंको टटोलकर लौट आयी, टिड्डियों की तरह शोभनके व्यक्तित्वको घेरकर ही मँडराने लगी! किसकी रौंद निरर्थक नहीं? गुप्ताकी रौंद? कुन्तलकी रौंद? रोहितकी रौंद? शोभन, खुद तुम्हारी रौंद?

एक क्षणको अनपेक्षितसे आहत होकर शोभनका मन सँभला, सधा। अपनी पूरी शक्तिसे गूँजको ढकेलते हुए उसने कहा : 'रौंद मेरी, हमारी, सबकी ग़लत है—पर सिर्फ़ इसीलिए कि हमारे सपनोंका रथ ग़लत है। हमारे सपनोंका रथ किन्हीं ग़लत आकारके पहियोंपर ग़लत धुरीसे चढ़ा है इसीलिए हमारी सारी रौंद ग़लत है, सामर्थ्यके अश्वोंको ललकारकर भी हम चलें तो बढ़ नहीं पाते, राहको रौंद नहीं पाते, रथ राहसे अलग लुढ़क जाता है! मीनल, ग़लत सपनोंके रथसे उतर आओ! हरीन्द्र ग़लत सपनोंके रथसे उतर आओ! मीनल....'

पढ़नेवाली डेस्कपर झुके हुए टेबुल लैम्पकी नीली रोशनीमें वह शून्य

आँखोंसे कुछ पढ़ता रहा। बड़ी क्लॉकने किरकिराहटके बाद गूँज-गूँजकर दस बजाये और चुप होकर मिनटकी लीक पीटती रही। फिर ग्यारह बजाये, और बारह बजाये और एक, और दो....

नींद नहीं आयी, आँखें कड़वी हो गयीं और तब बेचैन होकर कुन्तल पलंगसे उतर पड़ी। बिना रोशनी किये कमरेसे निकली और शोभनके कमरेकी तरफ़ आयी। सामने ही मेजपर नीली रोशनीमें झुके शोभनका चेहरा दीखा : एकटक, एकलग्न—कुन्तलको लगा जैसे शोभन गेटेका डॉक्टर फ़ाउस्ट हो, अध्ययनकी मेजपर नीली रोशनीमें चिन्तामग्न ! कुन्तल धीरे-धीरे शोभनके पास आयी। शोभनने बड़ी निर्वेद मुद्रामें चेहरा उठाया, इशारेसे पूछा, इन्तज़ार-सा करने लगा। कुन्तल एकटक उसकी आँखोंमें देखती रही और सहसा उद्वेलित आलोड़ित हो उठी। शोभनके कन्धोंको उँगलियोंकी पोरोंसे छूती हुई बोली, 'मुझे गेटे नहीं शेक्सपियर अच्छा लगता है !'

"वह भी ऑथेलो !' शोभनने जोड़ा।

"हाँ, फ़ाउस्ट नहीं।'

"लेकिन मैं ऑथेलो नहीं होना चाहता !" शोभनने एक अव्यक्त विरक्तिभरे विनोदसे कहा।

कुन्तल मनमें चौंकी, अन्दर ही अन्दर सिहर गयी। क्या शोभनकी बातमें कुछ अर्थ निहित है ? क्या किसी खलनायक इयागोके रूपमें शोभनने गुप्ताको पहचान लिया है ? क्या शोभनका संकेत यह है कि सन्देह पूरा होनेपर भी शोभन ऑथेलोकी तरह कुन्तलको दण्ड नहीं दे सकता ?

कुन्तल समझ न सकी कि सहसा वह किस ढंगसे अपनेको पेश करे। चुपचाप खड़ी रही। फिर न जाने किस तरह शोभनके सामने मेजपर दो बूँद टपकीं, दो फिर, और शोभनने देखा कुन्तल रो रही है। अबोध बच्ची-की तरह बिलकुल बच्चीकी तरह मासूम सूरत बनाकर रो रही है। शोभन

प्यारभरी झल्लाहट लिये उठा और कुन्तलकी नरम अँखुए-सी देहयष्टिको हौलेसे आग़ोशमें लेकर बोला, "लो अपने आॅथेलोको·······"

शोभनके मनमें कुछ उमड़कर अटक रहा, रोक लिया गया। शायद वह कहता, आॅथेलो नहीं, शोभनको लो कुन्तल, अपनेमें डेस्डेमोना नहीं कुन्तल देखो, बेबी! सपनोंका रथ ग़लत है, उसपरसे उतर आओ···पर अनकहा वह सब रोक लिया गया और शोभनने अनचाहे ही कुन्तलको सहारा देकर उसी ग़लत सपनोंके रथपर चढ़ा भी दिया।

और शोभन उसे ग़लत रथसे उतारेगा नहीं, किसीको नहीं उतारेगा, ताकि ग़लत रथका प्रयोग रथीको उलट दे और वह ख़ुद समाप्त हो जाये या सही राहके लिए तैयार हो रहे! शोभन मानता है कि सही राहके लिए यह तय्यारी, सत्यकी पहचानका यह संकल्प ही किसीके लिए काफ़ी होगा। हममें पहिचान नहीं संकल्पका ही अभाव है!

कुन्तलने शोभनके आग़ोशमें आँसू ढाल दिये और आँसू ढालकर गुप्ता की छोड़ी हुई जलन दबा दी। जलन दबाकर वह सो गयी।

सुबह चाय पीते-पीते कुन्तलने शोभनसे कहा, "तुम दर्शनको इतना ज़्यादा पढ़ते रहे हो, दूसरेको कुछ नहीं देते?"

शोभनने मुसकराकर उत्तर दिया, "दर्शन दूसरोंको ही तो देता हूँ, अपने और अपनोंको उसकी ज़रूरत महसूस होने देना नहीं चाहता।"

"क्या यह तुम्हारा धोखा नहीं है? ज़रूर तुम्हारा दर्शन कोई खड़िया मिट्टीका दन्तमंजन होगा जिसे चौराहेपर बुलन्द आवाज़में बेचते हो और ख़ुद विलायती टूथपेस्ट इस्तेमाल करते हो।"

शोभन हँसा, "बड़ी दबीज़ बातें बोलने लगी हो?"

हल्केपनको और हल्का करनेकी कोशिश करते हुए भरसक हँसकर कुन्तल बोली, "तुम दूसरोंके आर्ग्युमेण्ट्सको इस तरह कतराकर क्यों छोड़ देते हो? दूसरेकी बातमें यों तरह देते हो जैसे कोई उस्ताद शागिर्दको कुश्ती सिखानेके लिए अपनेको इण्टेन्शनेली चित करा ले!"

शोभनने प्याला रखकर अपनेको पीछे खींच लिया। फिर बड़े सूफ़ियाना तर्ज़पर बोला, "बेबी, ज़िन्दगी जीनेमें है बहसमें नहीं। बहस होती है तो ज़्यादातर चाय बिना पिये ही ठण्ढी हो जाती है।"

अविश्वसनीय ! कुन्तलने घोर अविश्वाससे शोभनको देखा ! शोभन झूठ बोला। वह सिर्फ़ कुन्तलसे बहस नहीं करता। कुन्तलको अपनी चेतनाके बराबर उठते देखना नहीं चाहता। बात ख़त्म हो गयी, चाय भी ख़त्म हो गयी। दोनों उठ गये। कुन्तल अपनेको पुरुषके बराबर देखना चाहती है। पुरुष बहस करे तो कुन्तल उसमें हिस्सा लेना चाहती है। गुप्ता बात करता है—भले ही शोभनके बराबर गहरा इन्टैलेक्चुएल न हो—पर कुन्तलको बहसके अयोग्य नहीं गिनता ! अविश्वास ! अविश्वास ! कुन्तलने कल ही मँगायी डबल रोटी बासी कहकर फेंक दी, खिड़कीके पर्देको धुलानेके लिए उतारते हुए गुस्सेमें फाड़ दिया, बड़ी प्लेट साफ़ धुली नहीं थी इसलिए पटक कर चूर कर दी। गुलदानमें बासी फूल देखकर तो गुस्सा जैसे सीमा पार कर गया। झपटकर गुच्छा खींचा तो गुलदान लुढ़का और पानी कमरेके कारपेटपर फैल गया। अपनी साड़ीका सिरा झटकते हुए पीछेकी तरफ़ दरवाज़ेसे फूलोंका गुच्छा बाहर फेंका और सहसा ज़ोरसे साँस खींचकर मुँहपर हाथ दिये स्तब्ध खड़ी रह गयी। फूलोंकी गली हुई पत्तियाँ और पानीका छींटा चेहरेसे पोंछता हुआ गुप्ता चिल्लाया, "वाह भाभी, यह क्या स्वागतका ढंग हुआ !"

"आ'एम् वेरी सॉरी !" कुन्तलने कहा।

"कमाल किया भाभी, तुमने सॉरी कह दिया और यहाँ ताज़े सेवनो-क्लॉकसे रगड़कर बनायी सारी इज्ज़तपर कीचड़ पड़ गयी !"

"कह तो दिया कि मैंने देखा नहीं था, ग़लती हुई। और क्या चाहिए ?"

"भा····बी !" गुप्ता कुन्तलके चेहरेपर यों झुका जैसे किसी खानेकी

प्लेटमें चींटी घुसी दीख गयी हो,—"भाभी, लेकिन यह इतना गुस्सा आख़िर किसपर आ रहा है ?"

कुन्तल घूमकर ड्रेसिंग टेबुलका सामान ठीक करने लगी। ठीक क्या—बस लिपस्टिक लुढ़काकर रखी थी उसे खड़ी करके रखा, क्रीमकी शीशीकी ढकनी खोलकर दुबारा बन्द की, बालोंवाला ब्रश दाहिनी तरफ़से उठाकर बायें रख दिया, शीशेको झुकाकर टेढ़ा किया और फिर सीधा कर दिया ! एक क्षण खड़ी रही और फिर वार्ड्रोब खोलकर एक हैंगरके कपड़े दूसरेपर और दूसरेके तीसरेपर करने लगी। बड़ा काम है ! कुन्तल आज बेहद व्यस्त है !

गुप्ताने वहींसे पूछा, 'गृहलक्ष्मीजी, आज गृहस्थ धर्मके कर्त्तव्य पालनसे इतनी भी फ़ुर्सत नहीं मिलेगी क्या कि एक कप चाय इनायत हो जाये ?"

आज गृहलक्ष्मीत्वका मज़ाक कुन्तलको अखरा, क्योंकि शोभनकान्तके गृहपतित्वसे खायी चोट दुख आयी। वह और ज्यादा खामोश होकर व्यस्त हो गयी।

गुप्ता विचलित हुआ। तेज़ीसे बढ़कर उसने कुन्तलके कन्धे पकड़े और मज़बूत पंजोंसे घुमाकर सामने कर लिया। कुन्तल और गुप्ताकी आँखें एक दूसरेपर ठिठकीं, फिर कुन्तल मुड़ गयी। बोली, "मुझे छोड़ दो गुप्ता, मेरा मन ठीक नहीं !"

"बक़ौल पारसी थियेटरवालोंके मैं अपनी जानसे अज़ीज़ प्राणानाथिनी—ऐम् सॉरी—प्राणेश्वरीके हाले ग़मे दिलमें हिस्सा बँटानेका मुश्ताक़ हूँ। नज़रे करम हो देवी !"—वह ड्रामेके पोज़में घुटनोंके बल बैठकर बोलता गया, "आसमानके सितारे तोड़ लाऊँ, दरियाकी धारको मोड़ दूँ, पहाड़को मसलकर सुरमेके मानिन्द कर डालूँ, बता तुझे किस बातने ग़मज़दा किया...."

कुन्तल थककर पलँगपर बैठ गयी, "गुप्ता, बेवक्त मज़ाक अच्छा नहीं लगता ! आई से आ'एम् नॉट फ़ीलिंग वेल !"

गुप्ताने गम्भीर होकर ड्रेसिंग टेबुलके पाससे काश्मीरी कामवाला मोढ़ा खींचा और कुन्तलके सामने बैठ गया, "अच्छा मैं सीरियसली पूछ रहा हूँ, आखिर हुआ क्या है ?"

कुन्तल कुछ देर चुपचाप गुप्ताको देखती रही फिर भरसक सधकर बोली, "अच्छा गुप्ता मुझे ये बताओ, हिन्दुस्तानकी औरतने तमाम आज़ादी पा लेनेके बाद भी क्या सच्ची आज़ादी पायी ?"

गुप्ता आँखें फाड़े देखता रहा। फिर कहा, "तो क्या शोभनसे कुछ····?"

"उनकी बात छोड़िए। मैं एक कॉमन बात पूछती हूँ, क्या औरत अभी भी उतना ही पुरुषसे नीचे नहीं है जितना सदियों पहले थी ?"

"आपका खयाल निहायत नामाक़ूल—ऐम् सॉरी—माक़ूल है, पर फिर भी मर्द-मर्दमें भी एक फ़र्क़ ज़रूर है। हर मर्द औरतको उसी निगाहसे समझता है यह खयाल सही नहीं।"

"मगर मैं पूछती हूँ कि यह ट्वेन्टीएथ सेन्चुरीका उत्तरार्ध है, क्यों कोई मर्द ऐसा हो जो ह्यूमन राइट्सकी तौहीन करे ?"

"ग़ालिबने कहा था कि अब ऐसी जगह चलकर रहिए जहाँ हमनवा कोई न हो, हमसखुन कोई न हो ! जिन्हें मनुष्य समझकर धोखा खा रही हो उन्हें छोड़कर किसी वीरानेमें चलो जहाँ जुल्मतें न हों, ज़िल्लतें न हों !"

"यह शायरी है गुप्ता ! एस्केप हर किसीकी रक्षा कर ही ले यह ज़रूरी नहीं। भागकर भी मारा जा सकता है कोई। सवाल है फ़ाइट करनेका। गुप्ता आइ वॉन्ट टु फ़ाइट द ईवल !"

गुप्ताने सिगरेट जलायी, जलती हुई माचिसपर आँखें जमाये सिगरेट होंठोंमें लिये-लिये ही बोला, "यह सब जहमत हरीन्द्र, रोहित और शोभनके लिए छोड़ दो कुन्तल ! ज़िन्दगीमें आनन्द बहुत है, आनन्द पानेके अवसर बहुत थोड़े ! उन अवसरोंको चिन्तामें बिता दो तो आनन्दकी ट्रेन छूट जायगी !"

"मैं चिन्ता नहीं करती, बट् आई वॉन्ट टु नो।"

"शोभन कमालका आदमी है इसमें शक नहीं। लगता है याज्ञवल्क्य हो गया है वह, तभी तो नॉलेजकी, ज्ञानोपार्जनकी, यह फ़िक्र सवार हुई तुम्हें!"

"सुनो गुप्ता! मैं उनके अध्यात्मवादकी ट्रेनिंग नहीं ले रही, मैं तुम सबकी दुनियाके भौतिकवादकी परीक्षा करना चाहती हूँ।"

"उँह-हूँ—दन्तकटाकट किंकर्तव्यं बाबा! इस बहसके थोथे शब्द-जालमें तुमने मेरी चायका घोटाला कर दिया!" गुप्ता किचेनकी तरफ़ झाँककर कुन्तलसे बनावटी आजिज़ी दिखाता बोला,

"ऐण्ड हियर इन द ब्यूटीफ़ुल बेड-रूम

ए ब्रेड ऐण्ड बटर ए कप ऑव टी

ए लुक ऑव लव् ऐण्ड दाऊ सिंगिंग बिसाइड—और कुन्तल, और आगे क्या लिखा है ख़ैयामने ?"

कुन्तलके सामने शोभन कौंध गया! शोभनका वह वाक्य चमक गया : 'ज़िन्दगी जीनेमें है बहसमें नहीं! बहस होती है तो चाय बिना पिये ही ठण्डी हो जाती है!' गुप्ताका वाक्य और ज्यादा धँस गया उसके अन्तरमें— 'इस बहसके थोथे शब्द-जालमें तुमने मेरी चायका घोटाला कर दिया!'

कुन्तल बीमार बच्चेकी तरह चिड़चिड़ा उठी, बेतरह क्षुब्ध हो उठी। थोडी देर साँसोंमें फूलती और भरती गयी और फिर जैसे फट जानेकी हदतक अपनी आवाज़को बलात् दबाकर बोली, "गुप्ता, उड् यू एक्सक्यूज़ मी! यू वोण्ट माइण्ड टु लीव मी एलोन!"

गुप्ता हतबुद्धि होकर उसे बेबकूफ़ निगाहोंसे घूरने लगा।

"गो नाऊ!" कुन्तल बोली।

वह देखता रहा।

"गो नाऊ!!" कुन्तल पूरे आवेशसे चीखी और तमतमाकर खड़ी हो गयी।

गुप्ता उसी तरह मूढ़ मुद्रामें घूरता हुआ उठा, ठिठका रहा, फिर चुप-चाप कमरेसे निकल गया। कुन्तलने दरवाज़ा बन्द किया, बन्द दरवाज़ेको हथेलियोंसे दाबे खड़ी रही और फिर झटकेसे घूमकर, जैसे शिकार किये परिन्देकी तरह बेपनाह चक्कर खाकर, पलँगपर आ गिरी और किसी ज़ख्मकी पीड़ासे काँप-काँपकर सुबकने लगी।

× × ×

जीते रहनेका प्रयत्न ! नहीं, यह जीवनको झेलनेका प्रयत्न है जो बहुत मुश्किल है। बहुत वजनी है, बड़ा उद्दाम, बड़ा वेगवान है यह जीवन जिसे पहाड़से लुढ़की हुई शिलाकी तरह थाम सकना मुश्किल ही नहीं बेहद मुश्किल है। मीनल जीवनकी गिरती शिलाको रोकती है और शिलाके वेगसे झटका खाकर खुद भी लुढ़क चलती है, कुन्तल शिलाको छूती है और शिला उसकी कलाईको तोड़ती नीचे चली जाती है। हरीन्द्रने उस शिलाको थामा, पर शिलाके शक्तिशाली धक्केसे वह धज्जी-धज्जी होकर बिखर गया। रोहितने उसे रोका, वह छूट गयी, लौटकर फिर पकड़ा पर शिलाने उसकी भुजाओंको खींचकर तोड़ दिया। रोहितने चाहा वह तीसरी बार फिर आगे आये और शिलाके उद्दाम वेगके सामने अपने मज़बूत पैर टिका दे, पर''''पर''''

अरसेके बाद रोहितने अपने माथेपर बल डाले थे और बेल्टको उस मजबूतीसे कसा था जिसके बलपर उसने कभी दमनका कोड़ा थामा था। महगाँवाँ पहुँचनेसे पहले ही उसने सुना डाकुओंका दल छोटी-मोटी लूट-खसोट करता हुआ उत्तर भारतकी ओर जा रहा है। वह पलटा। मुहासरा घना हुआ लेकिन डाकुओंका दल छन-छनकर निकलता गया, उत्तरकी तरफ़ बढ़ता गया। हिमालयकी तली तक पहुँचते-पहुँचते चीतेकी गतिसे पीछा करनेवाला रोहित और छायाकी तरह भागता जानेवाला चेतसिंह हमसफ़र हो पड़े। गहरी-गहरी तंग घाटियोंके घने जंगलोंमें दोनों एक दूसरेको बार-बार पाकर भी भटक गये।

डाकुओंका दल मामूली नहीं था। तीन अच्छी स्टेनगन, कई थ्री-नॉट-थ्री राइफ़लोंसे सज्जित चेतसिंहका सामना मज़ाक नहीं था जब कि रोहित अन्धाधुन्ध पीछा कर सकनेके लिए कम-से-कम सामान और आदमी साथ लाया था। कई दिन आँखमिचौनीमें बरबाद हो चुके थे। रोहितको भय था कि ज़रा भी समय पाते ही चेतसिंह सीमा पार कर जायेगा। सीधी मुठभेड़ या चारों तरफ़से घेरनेके लिए ग्यारह आदमियोंकी टुकड़ी नाकाफ़ी थी।

रोहितने ट्रैंसमीटरसे हेड क्वार्टर्सको सन्देश भेजकर कुछ कुमक मँगानेकी सोची। सार्जेण्ट ट्रैन्समीटरको चट्टानपर टिकाकर बैठ गया। रोहितने अपने ऐंक्लेट्स ढीले किये और डोरी खोलकर बायाँ पैर बाहर निकाला। कई दिन लगातार कसे रहनेके कारण पैर जैसे उबलकर सफ़ेद हो गया था।

सार्जेण्टने मशीन ऑन करके रिसीवर पकड़ा, "हलोऽ! एस-टू-ओ-सिक्स हलो! हलो एस-टू-ओ-सिक्स हलो! दिस् इज़ पोलीस स्क्वैड पी-एस्-सिक्सटीन चेज़िंग चेतसिंह हलोऽ-कम इन एस-टू-ओ-सिक्स...."

रोहितने एक क्षण सुना फिर एक निरुद्देश्य हँसी हँसकर दूसरा जूता खोलने लगा। पर्वतोंके ऊपर टिका आसमान लाल पड़ गया था। टेकरीकी दाहिनी ओर घाटीसे सटे पहाड़का जंगलसे गुथा पेटा एकदम ताँबेकी तरह लाल हो रहा था। दाहिनी ओर चौड़ी-चौड़ी चट्टानोंकी सिलोंका एक पठार-सा और पठारके दो बाजुओंपर नाटे पेड़ोंका घना परदा। पठारके नीचे बहुत पतला लेकिन बेतरह तेज़ बहाव वाला नाला-सा।

"कम इन एस-टू-ओ-सिक्स। येस्—हलो हलोऽऽ कम इन!"

रोहितने दूसरा जूता भी खींचा! पसीनेसे मोज़ा चमड़ेके साथ चिपक गया था। धक्की आवाज़के साथ मोजा और जूता खिंचकर ज़मीनसे टकराया। ठीक उसी क्षण चट्टानोंके ऊपरी हिस्सेसे बिजली तड़पनेकी जैसी कड़कड़ाहट हुई और ट्रैन्समीटर रेज़ारेज़ा होकर उड़ गया।

सहसा औंधकर ज़मीनसे चिपक गये रोहितको समझनेका एक क्षण भी न मिला कि टेकरीके दाहिनी ओरसे स्टेनगनने रिपीट किया : ठ्ठ्ठ्ठ्-ठ्ठ्ठ् ! गड़गड़ाहट दूर तक गूँजती चली गयी और चट्टानोंके ऊपरी हिस्सेसे एक शरीर बेपनाह बल खाकर चट्टानोंसे टकराता लुड़कता रोहितके पास आ रहा। उसके कन्धे और सिरके पीछेका हिस्सा स्टेनगनकी गोलियोंसे चिथड़ा हो चुका था।

टेकरीके दाहिनी ओरसे आवाज़ आयी, "मिस्टर रोहित, आर यू ओ-के ?"

रोहित चुपचाप उस मृत शरीरको देखता रहा।

दुबारा आवाज़ आयी, "आर यू ओ-के मिस्टर रोहित ?"

"आ'एमोके !" रोहितने तल्ख आवाजमें कहा और जल्दी-जल्दी दोनों जूते फिर ठूँस लिये।

पत्थरोंपर कूदता हुआ रोहितकी कुशल पूछनेवाला जो व्यक्ति आया वह बलवीर सिंह था, इसी प्रदेशका पुलिस इन्स्पेक्टर, जो रोहितकी मददके लिए मिला था। बलवीर सिंह हाँफ-हाँफकर बताने लगा कि यह डाकुओंका ही आदमी है। हममेंसे किसीपर गोली चलानेके बजाय इसने हमारे ट्रैन्समीटरपर गोली चलायी ताकि हम कहीं बाहरसे मदद न ले सकें।

रोहितने खींचकर बेल्ट कसी और दूसरी तरफ़ घूमकर जवाब दिया, "तुमने उसे मार दिया ठीक किया, लेकिन रोहित किसी मददका मुहताज नहीं। हम लोगोंको अभी ही चलना होगा।"

छिन्न-भिन्न ट्रैन्समीटरको उठाकर रोहितने उलट-पलटकर देखा और उछालकर नीचे दूर फेंक दिया। दल चट्टानोंके सहारे आगे बढ़ा। रोहितने गौरसे चारों तरफ़ देखा, फिर बोला, "हमें सामनेकी चट्टानके उस पार उतर चलना होगा। क्योंकि यह आदमी ऊपर सिर्फ़ उन दो जंगलोंमेंसे ही किसीसे निकलकर आया होगा। चेतसिंह भी वहीं कहीं होगा।"

"लेकिन पठारके उधर उतरना····" बलवीर रोहितकी तेज़ आँखोंको देखकर रुक गया।

चट्टानोंकी सिलें बड़ी-बड़ी ह्वेल मछलियोंकी तरह एक दूसरेपर टिकी पड़ी थीं। मछलियोंकी ही तरह उनकी पीठ बेहद चिकनी और चमकदार थी। रोहित सावधानीके साथ शिलाओंसे चिपककर चढ़ रहा था। उसके पीछे बलवीर और फिर अन्य।

गोलियोंकी आवाज़से उड़े परिन्दे अब कम हो रहे थे। अँधेरेमें झन-झनाकर गूँजनेवाले कीड़ोंका शोर किसी जालकी तरह घना होता जा रहा था। रोहितका दल क़रीब पौन घण्टेकी मेहनतके बाद पठारके उस पार उतर आया। दायें-बायें ऊँची चोटीवाले विशाल पहाड़ और उनके पेटेंपर उगे नाटे पेड़ोंवाले जंगल थे और पठारकी इस शिलाके तीन गज़ आगे अतल गहराईपर बहती वह तेज पतली धार। दो पहाड़ोंके बीच घोड़ेकी नालकी तरह यह धार जमीन काटती हुई जैसे हज़ारों बरससे नीचे धँसती रही है। पहाड़ोंके पेटेपर उगे दो जंगलोंको पठारके दो बाजुओंसे सटे जंगलोंसे चीरकर इस धारने अलग कर दिया है। पठारके पहलूसे लेकर नीचे पानीकी धार तक ये जंगल फैल गये हैं लेकिन जंगलोंकी सीमा तक उतरकर भी धार पार करनेके लिए कमसे-कम दो-सौ फ़ीट चट्टानोंकी कगारसे कूदना होगा।

इस समय अगर डाकुओंसे मुठभेड़ हो तो वे रोहितके दलको खदेड़कर तीन गज़ आगे अतल गहराईमें झोंक सकते हैं। रोहितने अविलम्ब अपने आदमियोंको दो टुकड़ियोंमें बाँटा। एक टुकड़ी कगारसे ज़रा खिसककर चट्टानोंकी आड़में छुपी दाँयें जंगलकी ओर बढ़ेगी और दूसरी रोहितके साथ बाँयीं ओरके जंगलोंमें धँसेगी। बलवीरको रोहितने दूसरी टुकड़ीके साथ किया। सावधान करके रोहितने दूसरी टुकड़ीको रवाना कर दिया। एक-एककर जब वे सभी अँधेरेमें खो गये तो रोहितने अपने आदमियोंकी तरफ़ देखा। एक फीकी निरुद्देश्य हँसी हँसा।

जिधर दूसरी टुकड़ी गयी थी उधरसे ही एक अस्पष्ट-सा कोलाहल हुआ। सभी मुड़कर ठिठक गये। फिर सब ख़ामोश हो गया। कीड़ोंकी आवाज़ सूइयोंकी तरह कानोंमें धँस रही थी। ठिठककर रोहित इन्तज़ार करता रहा; आखिर कुछ न पाकर मुड़ा। तभी पीछे चट्टानपर खड़क हुई। वह घूमा तो किसीको बुरी तरह लड़खड़ाते हुए अपनी तरफ़ आते देखा। वह बलबीर सिंह था। रोहितके सामने आकर वह तनकर खड़ा हो गया। फटी आँखों घूरता हुआ दाँत पीसकर बोला, "आर यू गोइङ् टु किल अस ?"

"सीधे खड़े हो ! क्या बात हुई ?" रोहितने दृढ़ आवाज़में कहा।

"तुम्हारे उस बुड्ढेका पैर फिसला और उसीके धक्केसे पाँचों आदमी एक साथ फिसलकर सैकड़ों फ़ीट नीचे खाईमें जा गिरे। आइ से—"

"स्टॉप इट !" रोहित कड़का। पीछे खड़े अन्य साथी विचलित हुए ! बलवीर सिंह आगे कुछ कहनेको था कि कीड़ोंकी भयानक आवाज़ और अँधेरेको चीरती हुई एक राइफल कड़की। दो गोलियाँ अविलम्ब और आयीं। सिरके ऊपरकी शिलासे चिनगारियाँ फूटीं। रोहितकी टुकड़ी फ़ौरन ज़मीनपर औंधी हो गयी। बलवीरने गन साधी। रोहितने झटकेसे नली पकड़कर नीचे कर दी। बोला, "ख़ामोश रहो। इन्तज़ार करो।"

आसमानपर परिन्दे बुरी तरह चीख़-चीख़ कर उड़ने लगे थे। एक क्षणका अवकाश देकर डाकुओंकी ओरसे स्टेनगन कड़की : ठ्ठ्ठ्—ठ्ठ्ठ्-ठ्ठ्ठ्—ठ्ठ्ठ् ! गनकी कड़क एक पहाड़ीसे दूसरी पहाड़ीपर टकरायी। इस बार रोहित दलके बायीं ओरकी उभरी चट्टानसे गोलियाँ टकरायीं और सारी चट्टानका ऊपर हिस्सा चिनगारियाँ फेंककर ठण्डा हो गया। रोहितने बलवीरकी उठी गन फिर नीची कर दी।

सन्नाटेमें जैसे कोई दानव धप्-धप् क़दम रखता चल रहा हो इस तरह दिल धड़क रहे थे। ख़ामोशीके एक क्षण बाद ही फिर स्टेनगन कड़की : ठ्ठ्ठ्ठ्ठ्ठ्ठ्ठ्ठ्ठ्—ठ्ठ्ठ्ठ् ! एक साथ छूटनेवाली हज़ारों हवाइयोंकी तरह

आवाज़ सन्नाटेसे झपटी और रोहितके दलके पीछे दो-तीन गज हटकर एक बड़े दायरेमें चट्टान कौंधकर उधड़ गयी। रोहितका दल काँप उठा।

दाँत पीसकर बलवीरने गन फिर सीधी की कि रोहितने फिर नीची कर दी। रोहितका हाथ झकझोरते हुए बलवीरने चिल्लाकर साथियोंको ललकारा। आवाज़के साथ ही दहशत और जिघांसासे पागल सिपाही उछले। एक क्षण भी न हुआ कि एक साथ जैसे भयानक बिजली टूटी। एक साथ चेतसिंहकी तीनों स्टेनगनें गरजीं—एक लम्बी धार जैसे गोलियोंकी झपटती रही और वहाँ जो खड़े थे उनमेंसे एक-एकका शरीर लत्तेकी तरह उधड़कर ढेर हो रहा। रुक-रुककर दो बार और उसी जगह गोलियोंकी बाढ़ आयी; फिर एक भयानक सन्नाटा छा गया। ख़ौफ़नाक दानव उसी तरह धप्-धप् क़दम नापने लगा।

रोहितने धीमी आवाज़में कहा, "गोली मत चलाना।" और ऊँचाई-की तरफ़ देखकर शिलाओंकी बग़ल लेता हुआ खिसका। दानव धप्-धप् उसी चालसे रौंद रहा था। रोहितने एक बार इधर-उधर देखा, मगरकी तरह चट्टानसे चिपककर उभरा, ज़रा ठिठका और चीतेकी तरह उछलकर अगली चट्टानकी बीचवाली दरारमें कूदा। कोई आवाज़ नहीं हुई, शायद कोई देख न पाया। रोहितके पीछे ही अब बलवीर भी उठा, उछला—कि कड़कड़ाकर गन चली और बलवीर चीख़ मारकर रोहितके ऊपर गिरा। गोली घातक नहीं थी। कूल्हेके ऊपरी भागमें धँसकर मांसकी ऊपरी सतहको चीरती निकल गयी थी।

रोहितने वक़्त बरबाद करना उचित न समझा। चट्टानोंकी अँधेरी दरारमें रेंगता हुआ आगे बढ़ने लगा। आसमानपर परिन्दे चिल्ला-चिल्ला-कर मँडरा रहे थे और ख़ौफ़नाक दानव उसी तरह धप्-धप् चले जा रहा था। रोहित अब उस टेकरीके ठीक नीचे था जिसके ऊपरसे गोलियाँ आ रही थीं। उसने कमरसे दो हथगोले निकाले। लीवर खींच-खींचकर एकके

बाद एक दोनों गोले ऊपर उछाल दिये। समूचे पठारको हिला देनेवाले भयंकर धमाके हुए और शिलाखण्ड टुकड़े-टुकड़े होकर बरसने लगे।

चेतसिंह निकटके ही एक दूसरे स्थानसे रोहितके दलकी गति-विधि देखता हुआ संचालन कर रहा था। गोलोंकी सीधी चोट उसपर नहीं आयी, पर बचनेके प्रयासमें वह लुढ़का और रोहितकी सुरक्षित सन्धिके सामने खुली चट्टानपर आ रहा। रोहितने बलवीरकी स्टेनगन खींच ली। निशाना लेकर चेतसिंहके दायें-बायें चट्टानपर फ़ायर किये : ठ्ठ्ठ्ठ्—ठ्ठ्ठ्ठ् ! चिनगारियाँ छोड़कर ज़मीन उधड़ गयी। चेतसिंह दोनों हाथ ऊँचे करके खड़ा हो गया। हाथकी स्टेनगन बलवीरको देकर रोहितने रिवॉल्वर निकाल लिया। बलवीर और रोहित दोनों ही एक साथ निशाना साधे बाहर आये।

चेतसिंहने रोहितको देखा और रोहितने साढ़े छह फ़ुट ऊँचे हाथी जैसे डील-डौलवाले चेतसिंहको।

"खेल क्या पूरा कर दोगे रोहित साहब ?" चेतसिंहने तिक्त आवाज़में कहा।

"तीन बार भिड़कर आज चौथी बार तुम्हें सामने देख रहा हूँ।" रोहितने रिवॉल्वर रख दिया और इत्मीनानके साथ सिगरेट निकालकर सुलगायी। चाँदनीकी पृष्ठभूमिपर हाथ ऊँचे किये खड़ा यह विशालकाय मनुष्य रोहितको छू गया। दानवकी रौंद लौटकर जा रही थी।

चेतसिंह घनी दाढ़ी और मूछोंमें शायद व्यंगसे मुसकराया। बोला, "रोहित राय साहब, अरसेसे एक अरमान था जो आज चौथी बार भी क्या अरमान ही रह जायेगा ?"

माचिस फ़ेंककर उसपर जूता रखते हुए रोहित बोला, "बोलो !"

चेतसिंह कहने लगा, "सुना था रोहित रायमें शेरका बूता है। ठाकुर हूँ। जब-जब सुना, मेरी कलाई ऐंठने लगी कि कभी अपना बल सकारथ करूँ। लेकिन आज चोरोंकी लड़ाई लड़कर भी लाचार खड़ा हूँ !"

न जाने क्यों रोहित तमतमा गया। डाकुओंको घेरने आते वक़्तका उसका अपना अन्तर्मन्थन सामने उभर आया। लगा वह ख़ौफ़नाक दानव ठिठक गया, ठिठककर फिर उसी चाल लौट रहा है—धप्-धप्! और रोहितकी कनपटियोंका रक्त खौल गया। रोहितने बलवीरकी गन हाथमें ली और बलवीरसे कहा, "इनकी तलाशी लो!"

बलवीरने गन देकर चेतसिंहकी तरफ़ देखा। चेतसिंह मूछोंमें मुसकराया। बलवीर दहल गया। धीरे-धीरे जैसे बिजलीका तार छूने जा रहा हो, आगे बढ़ा। उसे लगा यह दैत्याकार चेतसिंह चाहे तो परिणामकी परवाह किये बिना अपने फ़ौलादी पंजोंसे मरोड़कर उसे दो कर डाले। उसने तलाशी ली। एक पिस्तौल और एक बड़ा चाकू निकालकर अपने हवाले किये। ख़ौफ़नाक दानव और ज़्यादा गहरे क़दम रख रहा था।

रोहितने चेतसिंहको देखते हुए गन बलवीरको लौटा दी। अपना रिवॉल्वर भी उसे सौंपते हुए चेतसिंहसे बोला, "अब तुम मेरी तलाशी ले लो।"

चेतसिंह हँसा—बड़ी अमानवीय हँसी—बोला, "साहब, चेतसिंह मर्द-का विश्वास करेगा।"

दोनोंने एक दूसरेको तौला। पक्षियोंका मँडराना कम हो गया था। पर चीख़ना अभी ज्यों-का-त्यों था।

बलवीरने देखा पलक झपकते दोनों एक दूसरेके नज़दीक आये और देखते-ही-देखते रोहितका शरीर चेतसिंहकी बाँहोंपर ऊपर था। रोहितने दाँत भींचे और अपना कन्धा जकड़े हुए चेतसिंहके पंजेको झूलकर अपने पहलूमें दबाया। फिर देहको मरोड़कर वह एक झटकेके साथ चेतसिंहके कन्धोंपर झूल गया। चेतसिंहकी कलाई एक मोटे बाँसकी तरह दरककर टूट गयी। पर चेतसिंह हिला नहीं। उसके दाहिने हाथमें ही जैसे किसी हाथीकी सूँड़का-सा अदम्य बल था। रोहितके पैरको जकड़े हुए ही

उसने उसे कन्धेपरसे खींचा और अपने भारी शरीरका बोझा डालते हुए रोहितको ज़मीनपर रौंद दिया। एक बार, दो बार, तीन बार—रोहित छटपटाने लगा। उसने बलवीरको घुटती हुई आवाज़ दी। बलवीर दानवकी इस भयानक रौंदसे सिमटा स्टेनगन लिये खड़ा था। रोहितकी रीढ़पर भरपूर घुटना देकर तोड़ता हुआ चेतसिंह उसके निशानेमें आया। उँगली लीवरपर आयी कि चेतसिंहका सर चिथड़ा करके उड़ा दे, पर पसीने-पसीने होकर रुक गया। जैसे गोली कोई दूसरा चलाने जा रहा था और बलवीरने बलात् उसे थाम रखा।

चेतसिंहने रौंद-रौंदकर रोहितको पीस दिया। भयानक आघातोंसे टूटता हुआ रोहित्त विचित्र आवाज़में घिघियाया, थरथराया, और फिर ख़ामोश हो गया।

चेतसिंहने पैशाचिक आवाज़में खड़े होकर हुँकारा। तभी बलवीरकी गन सधी : ठ्ठ्ठ्! तड़तड़ाती हुई आगकी ज़बान लपकी और चेतसिंह चक्कर खाकर धप्से गिर गया। ख़ौफ़नाक दानवके क़दमोंकी यह आख़िरी धप् थी।

बलवीरने सुकूनकी साँस खींचकर चट्टानका सहारा लिया। तभी रोहितके शरीरने जुम्बिश खायी। बलवीर कौंध गया। जेबसे चेतसिंहकी पिस्तौल निकालकर रोहितके उलटे शरीरपर चला दी। रोहित दुबारा ख़ामोश हो गया। पक्षी फिर उड़-उड़कर चिल्लाने लगे थे। रूमालसे पोंछकर पिस्तौल चेतसिंहकी जेबमें डाल दी।

अब चेतसिंहको बलवीरने, सिर्फ़ बलवीरने, मारा था! चेतसिंहपर घोषित इनाम भी अब बलवीरको ही मिलेगा। चोटके दर्दसे कड़वाये होंठ खोलकर उसने थूका। तभी उसे लगा जैसे कोई हँसा। वह चौंका। फिर कोई हँसा। वह दुबारा चौंका। इधर-उधर देखा, कहीं कुछ नहीं। बलवीरने माथेका पसीना पोंछा और शिलाओंसे उतर चला। पक्षी चीख़ते जा रहे

थे, उड़-उड़कर मँडराये जा रहे थे, और दूर जाते बलवीर सिंहकी आहट भी बन्द होती जा रही थी।

× × ×

रोहितके शरीरमें थोड़ी हरकत हुई पर तुरन्त ही वह निश्चेष्ट हो गया। चाँदनी चढ़ने लगी थी। रोहितका शरीर फिर हिला, और हिला, और हिला। फिर धीरे-धीरे वह करवट लेने लगा।

तभी वह विचित्र हँसी फिर गूँजी, और जैसे कहीं किसीने पत्थर फेंका। ज़रा देर ख़ामोशी रही, रोहितने फिर करवट ली। हँसी इस बार और स्पष्ट गूँजी। रोहितने बड़ी मुश्किलसे चेहरा मोड़कर देखा। कुछ भी दीखा नहीं। उसने सरकनेकी कोशिश की पर लाचार रहा। काफ़ी देर बाद चट्टानोंके ऊपर उसे एक मानवीय आकृति डोलती दीखी। आकृति और स्पष्ट हुई। लाठी टेकती, अपने आप ही हँसती हुई, डगमगाती वह बढ़ रही थी।

रोहितके अंग-अंगमें दारुण पीड़ा थी, पर वह था होशमें। सहसा लगा यह हँसी उसकी सुनी हुई है, सुनी हुई है। आकृति फिर हँसी, और एकदमसे रोहित पूरी शक्तिसे चिल्लाया : "हरीन्द्र !"

हरीन्द्रने ठिठककर लाठीका सिरा चट्टानपर पटका, "ले, हरीन्द्र, मारके ही छोड़ूँगा !"

रोहित फिर चिल्लाया, "हरीन्द्र !"

हरीन्द्रने दूसरी शिलापर लाठी पटकी, "तू भी चिल्लायेगी !" हँसकर वह आगे बढ़ा। रोहितने चिल्लानेकी कोशिश की, पर आवाज़ दर्दसे टूट रही। हरीन्द्र लाठी टेकता उससे क़रीब आया। रोहितने फँसते गलेसे पुकारा और कहा, "मैं रोहित हूँ, ज़ख़्मी हो गया हूँ !"

हरीन्द्रने ठिठककर आसमानकी तरफ़ देखा और सोचने लगा, "अरे यह झूठ बोलता है। घायल मैं हूँ न कि यह। हुँह झूठा !"

वह हँसा और आगे बढ़ चला। अब रोहित डरकर चिल्लाया। इतने अरसेके बाद पहली बार डरकर चीखा। हरीन्द्रने सुना और पहलेसे भी ज्यादा ज़ोरसे हँसता हुआ चलता गया।

रोहित घिसटने लगा, घिघियाने लगा। हरीन्द्रकी आकृति काली पड़ गयी। अँधेरेमें डगमगाती आगे बढ़ती गयी। रोहित कराहता रहा। हँसी गूँजती रही। पक्षी चिल्लाते रहे। हरीन्द्रकी काली छाया बेक़रार गतिसे डोलती गयी।

रोहितने चीख़कर सर ढाल दिया। तभी दूरसे हरीन्द्र चिल्लाया, जैसे बुरी तरह डर गया हो। फिर दौड़ता लड़खड़ाता लौटता दिखाई दिया, और झपटकर आकर रोहितसे लिपट गया, बिलखता, "अरे मेरे भाई, अरे मेरे प्यारे रोहित, अरे मेरे भाई....!"

रोहित अटकते कण्ठसे बोला, "पानी!"

हरीन्द्र फिर हँसने लगा, बोला, "पानी भगवानसे माँगो!"

रोहितने फटी आँखों पागल हरीन्द्रको देखा। उसे लगा दुनियाका सबसे ज्यादा भयानक रूप शायद यही है, यही पागल हरीन्द्र! जो ज़ख़्मीके पाससे प्रेतकी तरह ठहाके लगाता निकल जाये, प्यारे घायलको पानीके लिए भगवानकी इबादत करनेका मशविरा दे—दुनियाका भयानकतम रूप वही तो होगा। ऐसा पागल घायलकी मदद क्या करेगा? और ऐसा घायल भी इसी पागलके हाथों पड़कर क्या सहेगा? रोहितको लगा, दुनियाका शायद सबसे भयानक रूप, मानवीय जीवनकी सबसे बड़ी विडम्बना, शायद यही है। इन ज़ख्मोंका दर्द, चट्टानोंकी यह भयानक तनहाई, और एक पागल हमदर्द।

: ८ :

लक्ष्मीचन्द्र जैन

सिमटती मंज़िलें

मीनलको बम्बई आये आज एक हफ़्ता हो गया है। रिसेप्शनिस्टके काउण्टरपर बैठकर जब वह मैट्रोपोलिटन होटलमें काम करने लगी तो उसे पहले दिन ही यह देखकर कौतूहल हुआ कि होटलकी यह सीट 'वर्ल्ड विन्डो' है—दुनियाको देखनेकी खिड़की। अवश्य ही मीनलके अनुभव दिलचस्प रहे होंगे। उस 'वर्ल्ड विन्डो' की भी एक विन्डो है—मीनलकी डायरी। उसीमेंसे कुछ झाँकियाँ ली जायें :

४ मार्च १९५६

बम्बईके होटलोंमें मिस्टर पाववाला जैसा आदमी मैनेजरके रूपमें मिल सकता है, कभी कल्पना न की थी। उन्हें देखकर पिताजीकी याद क्यों आती है? बम्बईकी विशालतामें आदमी कितना निरुद्देश्य और अकेला महसूस करता है।....आज यदि मुझसे कोई पूछे—तुम्हें क्या चाहिए—प्रणयी या पिता, तो मैं निश्चय ही कहूँगी—'पिता'। आज हरजसकी हर-कतको क्यों बरदाश्त कर गयी? पर, उस समय मैं मीनल कहाँ थी? मैं थी मिस मिनी मेहता। मीनल! सावधान, सावधान, सावधान! रोहित, तुमने कितनी बार मेरा हाथ आवेशमें आकर थामा, पर कभी भी होठोंके पास न ले जा सके! बोलो, मुझमें पूरा-पूरा आकर्षण नहीं था या तुममें पूरा साहस!

५ मार्च

हरजसने अपना नाम रजिस्टरमें रामरूप वर्मा लिखा है। इसकी

ज़िन्दगीका बैकग्राउण्ड ज़रूर क्रिमिनल है।''''और यह भी हो सकता है कि वह सचमुच एक साहसी युवक हो जो ज़िन्दगीको जीना जानता है। × × × रूम नं० ५६—चन्दोला जी! ग्रामोद्योग संघके मन्त्री। कैसा सौम्य रूप है। उन्होंने मिस्टर पाववालासे आज बहुत बहस की कि होटलमें ड्रेपरी खद्दरकी हो। ग्रामोद्योग संघने बहुत अच्छे-अच्छे विलायती प्रिन्ट खद्दरपर तैयार किये हैं। मिस्टर पाववालाने इतना ही कहा—चूँकि विलायती डिज़ाइन ऊँची क्लासके कस्टमर्सको पसन्द है, इसलिए मैं उन्हें खद्दर डालकर विकृत नहीं करना चाहता। चन्दोलाजी आक्रोशमें आ गये—"क्या खद्दरके कारण विलायती डिज़ाइन विकृत हो जाते हैं?" "नहीं", पाववालाने शान्त भावसे कहा था—"विलायती डिज़ाइनसे खद्दर विकृत हो जाता है।'

६ मार्च

आज ११ बजे श्यामलीका फ़ोन था कि मैं एक बार आ जाऊँ। मैं बिज़ी थी। एक बजे वे दोनों चन्दोलाजीसे कुछ बातें करके, बाहर चले गये। हरजस मुझसे बोला नहीं, मेरी तरफ़ देखा भी नहीं। विचित्र!—आज चन्दोलाजीके साथ बम्बई सरकारके कोई मन्त्री आये थे। चन्दोला जीने आज पाववालासे कहा—"आप यदि अपने होटलमें निर्लज्ज चित्र न लगायें तो अच्छा। यहाँ मन्त्री लोग आते हैं, उन्हें यह अभद्रता अच्छी नहीं लगती।" मिस्टर पाववालाने ज़ोर देकर कहा कि होटलमें भी कहीं कोई निर्लज्ज चित्र नहीं है। चन्दोलाजी पाववालाको सेन्ट्रल पिलरके पास ले गये, और अजन्ताकी नारी.मूर्तिका चित्र दिखाकर बोले: "आवरण ही तो संस्कृतिकी देन है। इन चित्रोंका वक्ष भाग यदि खद्दरसे अलंकृत हो तो विदेशी यात्री भी हमारी कलाको सराहेंगे, खद्दरका प्रचार भी होगा। आर्टिस्टको कहिए कि अजन्ताके चित्रोंको नैतिक दृष्टिसे ठीक कर दे।" मैं सुनकर सन्न रह गयी। मालूम नहीं मिस्टर पाववालापर क्या बीती होगी!

७ मार्च

कलकी बात लेकर मैंने मिस्टर पापवालाको छेड़ा—"अब आपको अपने होटलका वातावरण शुद्ध और सात्त्विक बनाना पड़ेगा।" पाववाला गहरे विषादमें डूबकर बोले—"मिनी, देशभक्त चन्दोलाजीकी यह सात्त्विकता किसी रोज़ इस होटलको ही ले डूबेगी। मिनी, पेश्तर इसके कि मैं यहाँसे जाऊँ, तुम्हें यहाँसे हट जाना होगा।" × × × मैंने आज दो अशुभ लक्षण देखे :

१. श्यामलीकी आँखोंमें आँसू।

२. हरजसके मुँहमें शराबकी दुर्गन्धि।

८ मार्च

होटलमें लगी विज्ञप्तिके अनुसार :

चन्दोलाजीके सभापतित्वमें बम्बईके विशेष सामाजिक कार्यकर्ता स्त्री-पुरुषोंकी एक गोष्ठी; दिनके २॥ बजे; डाइनिंग हॉलमें। विचारणीय विषय : स्त्रियोंका अपहरण और उनका अनैतिक व्यापार कैसे रोका जाय?

आज दोपहर, लन्च बाद, श्यामलीसे बातें करनेका अवसर मिल पाया। हरजस, चन्दोला, श्यामली इन तीनोंका उल्लेख एक साथ कई बातोंमें आया। वन-चारिणी श्यामली बम्बईके होटलके कमरेमें बन्द छटपटा रही है। कहती थी : बहिनजी, इन्हें और मुझे कहीं दूर ले चलो। श्यामलीको मैं निरी भोली, अक्षम नारी समझती थी। उसमें बहुत सहज, स्वस्थ बुद्धिका परिचय मिला। हरजस आज सुबहसे कोशिशमें है कि श्यामली चन्दोलाके साथ घूमने जाये क्योंकि हरजसको दूसरे काम हैं, वह बम्बईमें व्यापार करेगा। परसों तीनों हैंगिंग गार्डन्स देखने गये थे। वहाँ चन्दोलाकी कोई मित्र मिल गयी जो सिनेमामें काम करती है। हरजस उस स्त्रीके साथ व्यापारका ढंग बिठाने एक घण्टेके लिए कहकर गया था, लेकिन चार घण्टेतक वापिस नहीं आया और चन्दोला श्यामलीको होटल ले आया। चन्दोलाने कोई बेजा हरकत नहीं की, नहीं कर सका। क्योंकि जब

चन्दोलाने श्यामलीको बम्बईमें चलनेवाले सिनेमाओंकी दो-चार रोमाण्टिक कहानियाँ सुनायीं तो श्यामलीने भी नैनीतालके जंगलोंके शिकारकी आप-बीती कहानियाँ सुनायीं और सुनाया कि जब एक आवारा आदमीने उसे अकेले पाकर छेड़खानी की तो उसने आवारेका हाथ इसी छूरेसे काट डाला था—और श्यामलीने कमरमें बँधे ओढ़नीमें छिपे छुरेको निकालकर दिखा दिया ! श्यामली बहादुर है इतना तो मैं अच्छी तरह जान गयी, पर वह इस क़दर जानदार शरारती है यह आगेकी बात सुनकर जाना। यानी, इसके बाद श्यामलीने गाँवके और अपने तथा हरजसके जीवनकी कई रोमाण्टिक कहानियाँ चन्दोलाको सुनायीं पर चन्दोलाके चेहरेपर मुसकराहट आ ही न पायी।

यह सब बातें श्यामलीने हरजसको नहीं बतायी थीं। बतायी होतीं तो हरजस समझ जाता कि श्यामलीको चन्दोलाके साथ सैर करने जानेके लिए मजबूर करना निरर्थक है। श्यामलीके विचारमें हरजसके लिए अब चन्दोलाका कोई विशेष उपयोग नहीं रह गया है क्योंकि बम्बईकी लाल-पीली गलियोंमें अब वह स्वयं ही अपना रास्ता बनाने लगा है। रुपयेकी अभी कोई कमी नहीं है।

× × ×

मीनलके हाथकी लिखी डायरी यहाँ समाप्त हुई तो उसकी कल्पना-पटके वे परदे उठने लगे जिनपर निकट अतीतके अनुभवोंने कितने ही डाइ-मेन्शनोंमें कितनी ही हल्की-गाढ़ी रेखाओंमें, छाया और प्रकाशके चित्र अंकित किये थे।

याद आई झाँसीसे बम्बईकी यात्रा :

उसे लग रहा था कि रेल कोई नदी है जो बेतहाशा बही जा रही है, और वह स्वयं एक नाव है जिसमें पाल नहीं, जिसमें चप्पू नहीं, जिसके अगल-बगल घाट नहीं। सामने एक अकल्पित विस्तार है जिसका छोर

दिखाई नहीं देता। ऊपर अनगिन पंख हैं जो असीम आकाशमें खुलकर फैले हुए हैं। तभी उसके अन्दरसे एक लम्बी साँस खिंच आयी, और एक सिसकी-सी घुटन तोड़कर निकल गयी। अब उसे लगा कि नाव टूट गयी है और वह एक जीर्ण-शीर्ण तख्ता पकड़े पानीमें तैर रही है, और, अब डूबने-डूबनेको है। कहाँ हैं शोभन दा ? कहाँ है हरीन्द्र ? और हाय, रोहित तो है ही नहीं अब इस संसारमें ! कुन्तल तुम भी नहीं आओगी क्या ?···· ओह, तुम आये हो विपिन ? अच्छा, तुम्हीं मुझे सहारा दो। लो आओ, आगे बढ़ो, हाथ बढ़ाओ। हाय, तुम्हारे हाथ इतने ओछे पड़ रहे हैं। देखो तो विपिन कितने कमज़ोर हाथ हैं तुम्हारे ? हैं ? तुम तो काँपने लगे, लड़खड़ाने लगे ! और एक चीख़ती आवाज़ आयी—"विपिन, विपिन, ओ बिप्पन ! चल इधर। फिर गया तू उसके पास ? वह तुझे ज़रूर ले डूबेगी। आ जा, बेटा, लौट आ मेरे चाँद।" डरे हुए अबोध शिशु-सा विपिन भागकर माँके आँचलमें जा छिपा। मीनलको हँसी आ गयी थी। ऐसी हँसी जो रेलके शोरशराबेमें भी आसपासके मुसाफ़िरोंको सुनाई दे गयी थी।

अब मीनल सँभलकर बैठ गई। अब उसे भान हुआ कि वह किन परिस्थितियोंमें मिसेज़ वर्माके घरसे कुछ छोड़-छाड़कर अकेली निकल भागी है। वह सोचने लगी कि उसे कहाँ जाना है। दिल्ली ? बम्बई ? इलाहाबाद ? कलकत्ता ? मद्रास ? सभी जाने-माने शहरोंके नाम उसके दिमाग़में घूम गये। उसे इस बातकी असंगतिका एहसास भी नहीं था कि बम्बई मेल तो आख़िर अपनी पटरीके स्टेशनोंको ही पार करेगी !

उसने चाहा कि सामनेवाले व्यक्तिसे पूछे कि अगला स्टेशन क्या है, पर उस व्यक्तिपर नज़र डालते ही उसका प्रश्न गुम हो गया। उसे लगा जैसे यह युवक जाना पहचाना है। इन आँखोंकी टकटकीसे वह परिचित है। इस टकटकीसे, इस मुसकराहटसे वह डर भी चुकी है और इसके अर्थके प्रति वह जिज्ञासु भी हुई है। कहाँ देखा है इसे ? और इसके बगलमें यह कौन है ? कैसी आकर्षक है, चकित हिरणी-सी। निश्चय ही गाँवसे

आयी है। मीनलने युवतीको देखना शुरू किया तो देखती ही रह गयी। उसके मनने समस्या खड़ी की कि जब इसके साथीको पहले कहीं देखा है, तो इसे क्यों नहीं देखा ? उस ओर ज़्यादा देखना ठीक नहीं, यह सोचकर मीनलने जो युवतीपरसे नज़र हटायी तो वह फिर जा टिकी उसी युवकके ऊपर। वही मुसकराहट, वही मूक प्रत्युत्तरकी जिज्ञासा। मीनल फिर फ़ैसला न कर पायी कि इस मुसकराहटका क्या अर्थ लगाये। यह युवक मात्र जिज्ञासु है, या केवल चंचल या सचमुच उद्धत! और तभी उसने देखा कि युवतीने चुपकेसे युवककी जाँघमें चिकौटी काटी। युवकका जैसे ध्यान भंग हो गया। उसने युवतीके गोरे गदीले पंजेको जाँघपर फैले हुए तौलियेकी आड़ देकर इस ज़ोरसे दबाया कि युवतीके मुखपर इस मीठी पीड़ाकी अभिव्यक्ति शोख़ रेखाओंमें बोल उठी : "बड़े वैसे हो तुम!"

कम्पार्टमेण्टमें कोनेवाली सीटपर एक वृद्ध मुसलमान सज्जन बैठे हुए थे जो बड़ी देरसे मीनलके उदास चेहरे, एकाकीपन, और बेसरोसामान सफ़र करनेकी स्थितिसे व्यग्र-से हो रहे थे। आख़िर वह पूछ ही बैठे : 'बेटी, तुम्हें कहाँ जाना है ?' मीनल क्या जवाब दे ? उनकी सहानुभूति तो स्पष्ट है, पर इसकी मजबूरी भी लाजवाब है। जैसे कोई अँधेरेमें टटोलता हुआ-सा चले, बोली : 'मुझे तो काफ़ी दूर जाना है।' और उत्तरकी अपर्याप्तता छिपानेके लिए जोड़ा : 'अगला स्टेशन कौन-सा है ?' सामनेवाली सीटपर बैठे हुए एक अचकनपोश, मनचलेसे नौजवानने अपना ख़ुशबूदार रेशमी रूमाल कलाईमें लपेटते हुए, गोदमें रखे टाइम टेबिलकी तरफ़ देखते हुए जवाब दिया : 'अगला स्टेशन बीना है, मगर आप अगर दूर जा रही हैं तो कहाँ—भोपाल या बम्बई ?' मीनल कह चुकी थी कि उसे दूर जाना है। छूटा हुआ तीर वापिस नहीं आ सकता था, इसलिए उसने सन्धानकी दूरीको साधनेमें ही भलाई समझी। बोली : 'अगर रास्तेके स्टेशनपर मिलने आनेवाले रिश्तेदारोंने ज़ोर देकर उतार न लिया तो मैं बम्बई ही जाऊँगी।' उसने अपनी चतुराईको स्वयं ही सराहा क्योंकि उसने प्रश्नकर्त्ताको दोनों

नाकोंपर छेद दिया है। वह उतर भी सकती है, और आगे जा भी सकती है। पर उसे क्या मालूम कि उसकी इस होशियारीने सभी सहयात्रियोंके मनमें अनेक नयी जिज्ञासाओंको जगा दिया है और रहस्यके रंगको ज़रा गाढ़ा कर दिया है। मस्लन यह कि टिकिट कहाँका लिया है? सारे कम्पार्टमेण्टमें संकेतों और मुसकराहटोंका एक दौर चल गया। तभी गाड़ीकी चाल सुस्त होने लगी और झटके चंचल। एक बार मीनल गिरनेको हुई तो युवकने लपककर सहारा दे दिया। मीनलको लगा जैसे वह अकेली नहीं है। उसे यह हलका-सा अवलम्ब भला लगा, शायद इसलिए कि पिछले सब आसरे-सहारे छोड़कर वह नयी-नयी स्वावलम्बी बनी थी। गाड़ी थम चुकी थी, तरह-तरहकी आवाज़ोंके बीच कम्पार्टमेण्टके अन्दर आ चुका था एक टिकिट चैकर।

मीनलको परेशान होना चाहिए था, पर उसे मौक़ा ही न मिला। सामनेवाला युवक स्वयं ही टिकिट चैकरके पास पहुँचा और बोला: 'आप जब तक दूसरे मुसाफ़िरोंके टिकिट देखिए, अपने तीन टिकिट मैं अभी आकर बनवाता हूँ बम्बईके'। और उसने मीनल, युवती और स्वयंको तीनकी संख्यामें गिना दिया। मीनलको कड़वी राहत मिली।

यात्राका एक और दृश्य परदेपर आ गया: मीनल जब अपनेमें खोई ख़ामोश बैठी थी, बड़ी देरसे ख़ामोश—तो सामने बैठी युवती मीनलकी ओर मुख उठाये कुछ समझनेकी चेष्टा कर रही थी, कुछ पूछनेका साहस सँजो रही थी। मीनलका ध्यान उसकी ओर गया और वह उसके पास जा बैठी। बड़े प्यारसे पूछा: तुम्हारा नाम क्या है? 'श्यामली': युवतीने बताया। 'कहाँसे आ रही हो, यह साथमें कौन है—तुम्हारे····?' युवती लजा गयी। इतना ही बोली: 'हाँ जी।' फिर दोनोंमें बातें होने लगीं। मीनलने दो-चार मिनिटमें ही जानने योग्य मोटा परिचय पा लिया। नैनीतालके पास इनका गाँव है, शादी अभी तीन दिन हुए हुई है, श्यामलीके माँ-बाप राज़ी नहीं थे। श्यामली अपने ही जीके ज़ोरों भागकर घर

छोड़कर चली आयी है। श्यामली और मीनलको इस तरह बातोंमें लीन देखकर हरजसको बेहद खुशी हुई थी। थोड़ी देर बाद उसने खाने-पीनेका सामान टिफ़िन कैरियरसे निकाला, सूटकेसपर प्लेटोंमें सजाया और श्यामली-से कहा—'लो खाओ और इन्हें भी खिलाओ।' मीनलने सुबहसे कुछ नहीं खाया था, अब शाम हो गयी थी। भूख उसे थी, पर खानेकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। उसने खानेसे इनकार कर दिया। श्यामली अनमनी हो गयी। उसने हरजसको एक पत्तलमें खाना दिया और खुद चुपचाप बैठ गयी। हरजस बड़े असमञ्जसमें था : ये दोनों खा नहीं रही हैं तो वह खुद कैसे खाता रहे। उसने श्यामलीसे कहा—'इन्हें खाना खिलाओ, श्यामली, खुद भी खाओ।' 'बहिनजी नहीं खायेंगी तो मैं भी नहीं खाऊँगी'—श्यामलीने फ़ैसला सुनाया। अब हरजसकी परेशानी और बढ़ गयी। उसने कातर दृष्टिसे मीनलकी ओर देखा। अपनी पत्तल नीचे रख दी, और बोला, : 'अब हम दोनोंमें-से कोई नहीं खायेगा।'

कम्पार्टमेण्टवालोंको नाटकका यह हिस्सा ज्यादा दिलचस्प लगा। और अब वे इन्तज़ारमें थे कि क्लाइमेक्स कब हो, क्या हो। मीनलको हीरोइन बनना अच्छा न लगा। उसके अधरोंपर एक फीकी हँसी खेल गयी, चेहरेपर अस्पष्ट-सी खीझ भी। उसने बिना हीलहुज्जतके एक पत्ता उठाया और कुछ सामान लेकर खाने बैठ गयी। हरजस हर्षित हुआ, श्यामली हुलसी। सबने खाना शुरू किया।

चुपचाप खाते हुए आदमी कितना कुछ सोचता है। हरजस सोच रहा था : 'यह नारी अवश्य विचित्र है, रहस्यमयी है। इसमें क्या है जो मनको इस तरह खींचता है ? श्यामली इससे कहीं सुडौल, रूपवती और शोख़ है, पर इसमें कुछ और ही है जो····जो····बेचैन करता है। दुखी तो यह है, पर दुःखने इसके चेहरेको कैसा सलोना बना दिया है। क्या पता यह भी हम दोनोंकी तरह अपने गाँवसे, अपने घरसे भागी हुई हो। पर वह है कौन जिसकी खोजमें यह निकली है, और यह जा कहाँ रही है ?

क्या सचमुच इसे बम्बई जाना है ? टिकट इसके पास था नहीं। हम दोनोंके पास भी नहीं था। इसने अपना गन्तव्य बम्बई कहा तो मैं भी बम्बई चल पड़ा। यह भोपाल कहती तो मैं भी भोपालका ही टिकट कटाता। बँधी हुई हिरणीका शिकार कब हुआ ? शिकारीका आनन्द तो दौड़ते हुए शिकारके पीछे हैरान होनेमें है। सामने यह नया अवसर है, नयी चुनौती है।

श्यामली सोच रही थी : यह भी कोई बात हुई कि सफ़रमें कोई औरत मिले और मन उसपर इतना रीझ जाय। इसमें क्या है जो मनको इस तरह खींचता है। आँखोंमें है कोई गहरा दर्द। न मालूम किसने इसके कलेजेपर चोट दी है ? हे भगवान, इनकी मनोकामना पूरी करना ! कहाँ हो तुम शिवालेवाले स्वामीजी ! इन्हें भी आशीर्वाद दो। इनका संकट भी टालो। फिर श्यामलीने सोचा : अगर मीनल लाल साड़ी पहन हरी चूनर ले, मखमली अँगिया कसे, मूँगेकी माला पहने, और सिन्दूर, मेंहदी लगाकर वधू बने तो कैसी सुन्दर लगे ! हरजस भी इसपर न्योछावर हो जाये। इस ख़यालसे वह विचलित हुई। हरजसकी तरफ़ देखा, तो उसे मीनलकी ओर टकटकी बाँधे पाया। श्यामलीके विचार बिखर गये। सहसा उसे ध्यान आया कि यह भी तो हो सकता है कि मीनल विधवा हो। भगवान न करें, कि किसीका पति किसीसे अलग हो।

मीनल सोच रही थी : भला मैं क्या लगती हूँ इस श्यामलीकी जो यह मेरे लिए खाना छोड़कर बैठ गयी ? दुनियामें अगर समवेदना न हो तो आदमी जंगलमें पहाड़ोंसे सिर टकराकर मर जाये। मुझे न मालूम कहाँ जाना था, कहाँ उतरना था, पर अब मैं बम्बई जा रही हूँ। किस अधिकारसे हरजसने मेरा टिकिट कटवाया ? किस लाचारीसे मैं बम्बई जा रही हूँ ? क्यों कोई किसीका दुःख बाँटता है ? उसे क्या मिलता है ? उसे ध्यान आ गया मिसेज़ वर्माका उन्होंने उसे बेटी बनाकर अपने यहाँ रखा। उन्हें क्या मिला ? एक दर्द, एक ठेस ! उसे ध्यान आ गया हरीन्द्रका जिसकी

सेवा उसने एकान्त मनसे की थी : बदलेमें क्या मिला ? एक दर्द, एक ठेस। अजीब बात है कि यह सोचते-सोचते उसे विपिनका ख्याल न आकर गुप्ताका ख्याल आया। वह सोचने लगी कि गुप्ता और मीनलके लिए जो स्वाभाविक था, वह हुआ नहीं, और शोभन दामें खोई हुई कुन्तलके लिए जो अस्वाभाविक था वह हुआ। तो आकर्षण-विकर्षणके ये कौनसे नियम हैं जो संसारकी इस आदिम भावनाका परिचालन करते हैं। उसे याद आ गयी वह पंक्ति—"ही लवेथ नॉट, हू लवेथ नॉट ऐट फ़र्स्ट साइट"—कैसी बेतुकी बात है यह। इस बेतुकेपनपर उसे मुसकराहट हो आयी। उसने सामने देखा तो गुप्ता उसकी ओर टकटकी बाँधे मुसकरा रहा था—था वह हरजस।

शेष यात्रामें हरजस मानो दो रोमान्सोंके बीच झूलता हुआ भी दोनोंसे वंचित रहा। वह जो उसकी प्रणयिनी थी, किसी महत्तर प्रभावके आवेशमें शिशु बन गयी थी, और जिसने मात्र असहाय शिकारकी सम्भावनाओंसे हरजसको आकर्षित किया था वह कुछ ऐसी ऊँचाईसे हरजसकी अधीर चेष्टाओंको झेल रही थी कि हरजस चरम सीमा तक खीझ चुका था और उसके अन्दरका शिकारी मन ही मन चुनौतीके लिए तैयार हो चुका था। यात्रामें मीनलने श्यामलीको इतना वात्सल्य दिया कि स्वयं उसका अपना हृदय भरा-भरा लगने लगा। उस भोली लड़कीने मीनलको अपने जीवनकी सब कथा अथसे इति तक बता दी थी।

श्यामलीने अपने अन्दर ही कुछ गुनते-गुनते पूछा : "इन्हें सोते हुए भी शिकारके सपने क्यों आते हैं, बहिनजी ?" श्यामलीके प्रश्नका मीनलने उत्तर नहीं दिया क्योंकि वह हरजसके सम्बन्धमें प्राप्त नये ज्ञानके सन्दर्भमें उसके सपनोंका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर रही थी। चाहती थी कि कोई गहरा अर्थ निकाले जो इस स्वप्नके स्पष्ट अर्थको मिथ्या बना सके। वह मन ही मन अपनेसे बोली : 'दूसरोंने तुम्हें छला मीनल, वहाँ तक तो ठीक। अब क्या स्वयं ही अपनेको छलोगी ?' अपने आपसे कहा

हुआ यह वाक्य चेतनापर ढेलेकी तरह आ पड़ा। कल्पनाके तालमें एकके बाद एक विचार-तरंगें उठती चली गयीं, मीनलको घेरती चली गयीं, फिर ये तरंगें तूफ़ान बन गयीं। किश्ती टूट गयीं, मीनल डूबनेको है, बचानेवाला कोई है नहीं''''कि ज़ोरका धक्का देकर गाड़ी थम गयी।

मीनलको बतानेपर पता लगा कि यही विक्टोरिया टर्मिनस है। हरजसने एक बिस्तर बाँध लिया था। मीनलके नीचे जो दरी और खेस थे, उन्हें उठानेकी प्रतीक्षामें श्यामली खड़ी थी। मीनलको अपनी असावधानीपर फिर अनुताप हुआ। उसने जल्दीसे खड़े होकर दरी, खेस होल्डौलमें डलवाये; हरजसने बिस्तर-बन्धके स्ट्रैप कसे, सामान गिना, और कुलियोंके सुपुर्द कर दिया।

अब तीनों बम्बईके विशाल प्लैटफॉर्मपर खड़े थे, किसीको पता नहीं था कि कहाँ जाना है। सबसे अधिक पशोपेश था मीनलको। अगर श्यामली और हरजस साथ न होते तो मीनलके लिए कितना आसान था कहीं भी चले जाना, कुछ भी करना। अब उसे लगा जैसे टिकटके दामोंमें उसने अपनी स्वतन्त्रता हरजसके हाथ बेच दी हो। उसने इरादा किया कि वह इस बन्धनको अब ज़रूर तोड़ देगी। स्वयं ही पहल की, और बोली—'अच्छा, अब मैं चली। किन शब्दोंमें धन्यवाद दूँ आप दोनोंको! बस एक ही बात कहती हूँ श्यामली कि तुम्हें आजीवन नहीं भूलूँगी।' हड़बड़ाहटमें वह हरजससे कुछ भी कहना भूल गयी। जाने लगी, तो श्यामली आँचल पकड़कर खड़ी हो गयी, 'नहीं जाने दूँगी तुम्हें जीजी। कैसी मूरख हूँ मैं, जीजी कि तुमसे यह भी न पूछ पायी कि तुम कहाँकी हो, क्यों घरसे निकली हो, कहाँ जाओगी। बम्बईमें तुम्हारे कौन हैं जिनके पास आयी हो। हम लोग तुम्हें खुद उनके पास छोड़कर आयेंगे। नहीं तो इस तरह जाने नहीं देंगे, बिल्कुल नहीं।' और श्यामली हरजससे तन्नाकर बोली: 'खड़े-खड़े क्या देख रहे हो इन्हें रोको न?' हरजस श्यामलीके इसी तरहके व्यवहारपर तो जी-जानसे न्योछावर है। और फिर, यह तो उसके मनकी

चाह थी ही। जिस मीनलको लेकर वह अपने अन्दर उलझा हुआ था, उसे क्या कहकर वह रोके, उसकी समझमें नहीं आ रहा था। यह उसे क्या हो गया कि उसकी सूझबूझ, उसका साहस निर्बल पड़े जा रहे हैं। वह बोला नहीं, बोल ही न सका। और श्यामलीके नैन डबडबा आये। मीनलने एक बार फिर हार मानी। बोली, चलो बाबा, जहाँ चाहो ले चलो। पर यह अच्छी तरह सुन लो कि मैं एक दिनसे अधिक तुम्हारे पास नहीं रहूँगी और फिर जहाँ जाना है वहाँका पता-ठिकाना तुम्हें देकर, तुम्हारी तसल्ली करके चली जाऊँगी। × × टैक्सी मेट्रोपोलिटन होटल पहुँची, जिसका विज्ञापन उसने आज हीके अखबारमें पढ़ा था और जाना था कि वहाँ एक लेडी रिसैप्शनिस्टकी जरूरत है।

जिस तरह ढलानपर पड़ी गेंद एक हल्के-से दबावका स्पर्श पाकर लुढ़क चलती है और फिर गतिमें तेज़ी पकड़ लेती है, मीनल कुछ ऐसी ही मानसिक अवस्थामें मैनेजरके पास पहुँची और फ़र्राटेदार अंग्रेज़ीमें बोली कि वह लेडी रिसैप्शनिस्टकी जगहके लिए प्रार्थी है। लिखित अर्ज़ी अनावश्यक है, जो पूछना हो ज़बानी ही पूछा जाये। बम्बईसे वह अधिक परिचित नहीं, पर काम पानेकी उसे जल्दी है। यदि वह इस जगहके लिए अनुपयुक्त है तो उसे तत्काल बता दिया जाय। वह अपने साथ दो पैसेन्जर भी लायी है। उन्हें लेकर किसी दूसरे होटलमें जाये।

होटल खासा बड़ा था। होटलके मैनेजर मिस्टर पाववाला साठेक सालके अनुभवी सज्जन थे। ऐसा प्रार्थी उन्होंने कभी नहीं देखा था। मीनलके चेहरे-मोहरेसे और बात करनेके ढंगसे उन्हें लगा, ऐसी लड़की मिलना मुश्किल है। अच्छा होता यह साफ़ साड़ी पहनकर आती और बाल-बूल ठीक कर लेती। पाववालाने पाँच-सात मिनट और बातें कीं। मिस मिनी मेहताको जगह मिल गयी, पैसेन्जरोंको कमरा। मैनेजरसे बातें करनेके बाद मीनल दो मिनटको श्यामली और हरजसके पास आयी थी और यह कहकर कि आप लोग इस बैरेके साथ कमरेमें चलें, मैं खाने-पीने-

का ज़रूरी इन्तज़ाम करवाके अभी आती हूँ, चली गयी थी। हरजस, जिसे अपनी तुरती-फुरती और फ़ौजी तत्परतापर इतना अभिमान था, मीनलकी क्षमतापर चकित था। एक तो बम्बई जैसा बड़ा शहर, दूसरे यह बड़ा होटल और तीसरे यह मीनल जो अंग्रेज़ीमें बैरेको आदेश दे रही थी। श्यामली तो जैसे सब कुछ देख सुनकर सपनेमें थी। न मालूम उसे क्यों ऐसा लग रहा था जैसे वह बहू है और ससुरालमें आयी है और इस घरकी मालकिन मीनल है और मीनल उसकी सास है। लगभग आधे घण्टेतक वे दोनों मीनलके आनेकी प्रतीक्षा करते रहे। समझमें नहीं आ रहा था कि क्या करें। हरजस अधीर हो चुका था, और उसे आशंका भी थी—उसने जैसे ही बाहर निकलनेके लिए कमरेका दरवाज़ा खोला एक महिला उसी दरवाज़ेको अन्दर ठेलती नज़र आयी। हरजस गैलरीमें एक तरफ़ खड़ा हो गया। इस महिलासे पूछना चाहता था कि उसके साथ जो एक लड़की (या उसे 'स्त्री' कहें) आयी थी उसे कहाँ पाया जा सकता है—कि उस रूपको देखकर वह ठिठक गया। वही तो मीनल थी, होटलकी विशेष पोशाकमें—बारीक़ नीली साड़ी, सफ़ेद नाइनोलकी ब्लाउज़, होटलके नाम-का गुलाबी कमलकी शेपका बैज, पाउडरकी सुगन्ध, लिपस्टिकका शोख़ रंग! हरजस जादूमें बँध गया। कैसा वशीकरण है यह? उसका इनी-शियेटिव लौट आया, और उसने आत्मसमर्पणके उस विभोर क्षणमें मीनल-का हाथ चूम लिया। मीनल मुसकराकर रह गयी। कमरेके अन्दर जाते-जाते केवल इतना कहा, 'यह सब ठीक नहीं। पाओगे केवल छल, केवल निराशा।' अगर यह बम्बई न होती, अगर यह होटल न होता, अगर मीनल नये परिवेशमें, नये वेशमें, नये व्यक्तित्वमें न होती''''तो क्या हरजस यह कर सकता था, क्या मीनल इतना ही कहकर बातको टाल देती? बात तो केवल इतनी ही थी ज़मीन बहुत ढालू थी और इस खड़ी ढालपर गेंद पड़ चुकी थी। मीनलका बैज कमलकी शेपका था, कमलकी अपनी ही कथा है, कीचड़का अपना ही स्वभाव। हरजसको गैलरीमें

चकित-भ्रमित छोड़कर मीनल कमरेमें चली गई थी। जाते ही श्यामलीको भुजाओंमें कस लिया, खूब प्यार किया। श्यामलीको कुछ नहीं सूझा। उसने आँचलसे मीनलके पाँव छुए और आँचलको आँखोंसे लगा लिया।

× × ×

घटनाओं और परिस्थितियोंसे निःसंग होकर व्यक्ति क्या करेगा, कहाँ पहुँचेगा, यह अज्ञेय है। किन्तु घटनाओं और परिस्थितियोंसे बँधा व्यक्ति व व्यक्तिसे बँधी हुई घटनाएँ और परिस्थितियाँ अपनी परिणतिमें बहुत कुछ ज्ञेय हैं। हरजस और श्यामलीका वही हुआ जो होना था। हरजसको विधाताने और उसके संस्कारोंने जिस मिट्टीसे गढ़ा था उसके लिए बम्बई-की विकारवासना भरी गलियोंकी आबहवा बहुत अनुकूल पड़ी। बम्बई प्रवासके सातवें दिन प्रातःकाल हरजसने चन्दोलाके साथ श्यामलीका दो हज़ारमें सौदा तय किया था और रुपये लेकर दोपहरमें श्यामली और चन्दोलाको हैंगिंग गार्डेन्समें छोड़कर वह उस 'एक्ट्रेस' के साथ जो गया तो फिर लौटकर नहीं आया। श्यामलीके साहससे स्तब्ध होकर चन्दोलाने यही खैर मनायी कि रुपये गये तो गये, जान बच गयी। इज्जत भी बच गयी। देशभक्ति और समाज-सेवाके कार्योंकी भी लाज बनी रही।

मीनल और श्यामली अब बम्बईमें क्यों रहें, यह उनकी समझमें नहीं आ रहा था पर यदि यहाँ न रहें तो कहाँ जायें। उनके लिए तो अब सारा जहान बम्बई था। शोभन दाकी याद मीनलको ज़रूर सता जाती थी—यानी इस यादको वह अपने आपसे भी खुलकर कह सकती थी। यादें दूसरी भी थीं, पर अब उन्हें लेकर क्या करे। यदि कोई दूसरा जनम है तो ये यादें शायद वहाँ काम आयें, वहाँ इनमें जीवन ढाला जा सके, यहाँ तो अब सब कुछ प्रायः समाप्त है....यह विचार उसे इतना मनहूस लगा कि उसने मन बदलनेको अखबार उठा लिया और जैसी कि अब उसकी आदत बन गयी थी, पर्सनल कौलम्स (वैयक्तिक विज्ञापनों) पर नजर

दौड़ाने लगी—निरुद्देश्य। पढ़ वह नहीं रही थी, समझनेका प्रश्न ही नहीं था। शायद इस तरहकी अकारण व्यस्तता उसे सुख पहुँचा रही थी। अख़बार उसके लिए सदा ही सुकून था, राहत थी। सफ़े पलटती गयी, नज़र दौड़ाती गयी, तन अपनी जगह अपना काम करता रहा, मन अपनी जगह। और अन्तमें उसने अख़बार मोड़ उलटकर रख दिया। इसी पृष्ठपर ठीक आँखोंके सामने एक चित्र है। चित्र है, बस इतना ही उसकी सतही चेतनाको स्पर्श कर रहा है। चित्र है, इसका एहसास आँखोंको हो रहा है, पर जैसे देखनेकी भी सतहें हैं जो देखने-देखनेमें अन्तर उत्पन्न करती हैं। जैसे झन्नसे कोई चीज़ काँसेके बरतनकी तरह चेतनाकी धरतीपर आ पड़े! यह चित्र''''यह चित्र''''ग़ौरसे देखते-देखते मीनल चीख़ पड़ी, यह चित्र तो रोहितका है। वह सँभली, अब उसे लगा कि वह है, और चित्र है और अख़बार है और अख़बारमें कुछ लिखा हुआ है, और मोटे हरफ़ोंमें लिखा हुआ है।

रोहितसे जो इण्टरव्यू संवाददाताने लिया था वह काफ़ी विस्तारसे पत्रमें दिया गया था। मीनलको लगा कि इसी क्षण यही समाचार सारे संसारमें पढ़ा जा रहा है, सब कोई दम साधकर इसी अनहोनी घटनाको पढ़ रहे हैं। वह अवर्णनीय कृतज्ञतासे पुलकित हो उठी: उसका रोहित लाखों-करोड़ों व्यक्तियोंके हृदयोंमें जीवन्त तेज और अद्भुत शौर्यकी मुद्रामें प्रतिष्ठित है—उसका रोहित, उसका अपना रोहित।

× × ×

यहाँसे अब पैदल चलना होगा। अभी भी डाक बँगला तीन मील है और जिस रफ़्तारसे मीनल चल रही है, वहाँ पहुँचते-पहुँचते शायद रात हो जायेगी। श्यामलीको बार-बार ठहरना पड़ता है क्योंकि मीनल हर बार पीछे छूट जाती है। पहाड़ी बंजर, ऊबड़-खाबड़ ज़मीन, लम्बी यात्राकी थकान, आनेवाले क्षणोंकी अजानी परिस्थिति; मीनलका हर क़दम मनकी आशंकाओं-सा लरज़ता चलता है। सामने सूरजका लाल गोला है, भुमके

हुए दिलकी तरह जो थोड़ी देरमें ठंडा पड़ जायेगा। मीनल सोचती है कि शायद रातके अँधेरेमें पहुँचना अच्छा होगा। मगर तीतरों और गौरैयोंके झुण्डके झुण्ड उड़े चले जा रहे हैं। एक बसेरेकी साध मीनलके दिलमें भी है, एक नये ठहरावकी ज़रूरत श्यामलीको भी है। दोनों बढ़ चलीं। मीनल चुप है, मगर श्यामली कभी किसी पहाड़ी गीतकी कड़ी गुनगुनाने लगती है, कभी कोई क़िस्सा छेड़ देती है, और कभी किसी ठिगने पेड़की पतली, मज़बूत डालको, अपनी कमरमें लटके चाकूसे तोड़-तराशकर मीनल को नया डण्डा बनाकर दे देती है।

मीनल सोचती है कि इस हवामें क्या जादू है जो श्यामली अपना दर्द भूलकर इस पठारका अंग, इसके आह्वानोंकी अनुगूँज बन गयी है। हो सकता है, मनोविज्ञानकी अध्येता मीनलने सोचा, यह सब दर्द ही की अभिव्यक्ति है।

साँझकी आखिरी किरण डूब रही थी। डाक बँगलेका फ़ासला फर्लाङ्ग भरसे भी कम रह गया था क्योंकि मीनलको बरामदा दिखाई दे रहा था और दिखाई दे रहा था वहाँ कुरसीपर बैठा हुआ रोहित। वह व्यक्ति रोहितके अतिरिक्त कोई और हो सकता था, पर मीनल तो यात्राके आरम्भमें ही रोहितको आँखोंके आगे बैठा चुकी थी, और रास्ते भर उससे बातें करती आयी थी। मीनलके क़दम ठिठकने लगे, मन हुआ कि वापिस भाग जाये। लेकिन तब तक श्यामली दौड़ती-फुदकती बरामदेमें पहुँच चुकी थी। ये लो, वह रोहितके पास पहुँच गयी। न मालूम क्या कह रही है। मीनलका साँस फूलने लगा। उसने जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाये और एक अजीब नाज़ुक लाजमें लिपटी-सी बरामदेमें पहुँच गयी। दृष्टि रोहितपर पड़ी तो धक्से रह गयी। व्यर्थ थी यह लाज! श्यामली बोली, 'जीजी यह तो कुछ बोलते ही नहीं। बहुत बीमार मालूम होते हैं। यही हैं न रोहित राय?' मीनलके आँसू बह चले, वह रोहितकी कुर्सीके पीछे सटकर खड़ी हो गयी—जैसे कोई मुरझायी लता गाज गिरे पेड़से लिपटी हो।

'रोहित-रोहित—तुम्हें क्या हो गया है। मुझे देखो, मैं आयी हूँ। मैं हूँ मीनल।' और मीनलने अन्दरसे हज़ार टुकड़ोंमें टूटकर रोहितका सिर, माथा, बाज़ू, सीना, अपनी बरसती पलकोंसे पखार दिये। सजल श्यामली हतप्रभ-सी खड़ी थी। मीनलको देखकर उसका कलेजा खण्ड-खण्ड हुआ जा रहा था। आँसुओंके स्पर्शसे जैसे रोहितकी चेतना जगी हो, उसने फटी-फटी आँखों मीनलको देखा, पर शायद पहचाना नहीं, मीनल फिर चीखी, 'रोहित, रोहित देखो तो, मैं हूँ मीनल।'

तभी पीछे बरामदेसे भागता हुआ आ गया हरीन्द्र। वही ठेठ देहाती विचित्र वेश—चारगजिया धोती, तनीदार चोगा, लोहेकी नाल लगा नागर जूता, जटाओंसे बाल, जूट-सी दाढ़ी। मीनलको देखकर हक्का-बक्का रह गया। उधर श्यामली 'बाबाजी, स्वामीजी महाराज!', कहती हुई हरीन्द्रके चरणोंमें लोट गयी। 'बचाओ हमें, स्वामीजी, आशीर्वाद दो हमें, शिवाले-वाले बाबाजी!' हरीन्द्र गाँववालोंमें इसी नामसे विख्यात था। इसलिए हरीन्द्रको इस सम्बोधनमें कुछ नया नहीं लगा।

पर, यह सब इतना अकल्पित था कि मीनलकी समझमें न आया कि क्या घटित हुआ है। एक बार लगा जैसे वह ज़ोरसे हँस देगी, 'शिवालेवाले बाबाको' देखकर। दूसरे ही क्षण वह फूट-फूटकर रो पड़ी यह सोचकर कि रोहित और मीनलकी अवस्था देखकर श्यामलीको मान-सिक आघात लगा है और वह पागल हो गयी है। मीनल रोहितको छोड़कर श्यामलीके पास पहुँची और उसे ज़मीनसे उठाकर छातीसे लगाया। घबराकर हरीन्द्रसे बोली, 'देखिए तो क्या हो गया है इसे?' श्यामली सर्वथा स्वस्थ थी, बोली, 'मुझे कुछ नहीं हुआ जीजी, जिन्हें हो गया है उनके लिए स्वामीजीसे प्रार्थना करो।'

मीनलने हरीन्द्रकी ओर कौतुकपूर्ण दृष्टि डाली, और वह बरबस मुसकरा पड़ी। इतने दिनों बाद हरीन्द्रकी आँखोंमें कुछ सोया हुआ अकुला

गया। संभ्रम तोड़नेके लिए मीनल जल्दीसे बोली, 'यह है श्यामली हरीन्द्र ! इसका परिचय यों देनेका नहीं है, साथ रहेगी तो जानोगे।'

हरीन्द्रने अब देखा श्यामलीकी तरफ़ अच्छी तरह और वह मानो आसमानसे आ गिरा। पागलोंकी तरह चिल्लाया : 'श्यामली, श्यामली, तुम यहाँ कहाँ? मीनल तुमने इसे कहाँ पाया?'

मीनल फिर हतबुद्धि हो गयी। हरीन्द्रने जिस आवेगसे उद्वेलित होकर श्यामली, श्यामली पुकारा वह लगभग उन्मादकी अवस्था थी।

तभी, रोहितने आँखें खोलीं। वह काँपती हुई, टूटती हुई, घिघियाती आवाज़में चीखा—'हरीन्द्र ! मीनल ! पास आओ।' रोहित आवेशमें उठ खड़ा हुआ, उसकी टाँगें लड़खड़ायीं और वह धम्मसे कुरसीपर गिर पड़ा।

रोहितका सिर मीनलकी गोदमें था, मीनलका हाथ हरीन्द्रके हाथमें और हरीन्द्रके चरणोंकी धूल श्यामलीके आँचलकी छोरमें : 'तुम्हारा ही भरोसा है, महाराज !'

: ९ :

प्रभाकर माचवे

मा फलेषु कदाचन

और मीनल गर्भवती हो गयी।

यह समाचार सुननेके लिए न मेट्रोपोलिटन होटल बम्बईके मैनेजर मिस्टर पाववाला, न इस फ्लर्टेशनके परम्युटेशन—कॉम्बीनेशन पढ़नेके आदी पाठक ही तैयार थे। यह प्रश्न असंगत है कि मीनल किन परिस्थितियोंमें, किसके प्रलोभनके वशमें, कैसे, कब, क्यों इस परिणतिपर पहुँची। पर सत्य इतना ही है कि मिस मीनल मेहता अब जो बम्बई आयी तो उसने इस भीड़-भम्भड़, शोर-गुल, आपा-धापी और लूट-खसोट-भरी महानगरीमें अपने आपको बेहद अकेली महसूस किया, और फिर भी वह अकेली नहीं है। अब वह अपने गर्भस्थ शिशुके साथ जीवन और मरणके चौराहेपर आकर एकाकी खड़ी है। सहानुभूतिके मलयानिल और त्रिविध बयार झंझाओंमें बदल चुके हैं। एक कुमारीका यों माता बनना हिन्दू समाजके सामने चुनौती है। उसने सोचा कि एक-एककर वह अपने अभिभावकोंके पास जाय, या उनतक यह बात पहुँचाये। शायद कोई मौखिक सहानुभूति-को कार्यमें परिणत कर सके।

आजके युगकी सबसे बड़ी समस्या यही है—विचार, उच्चार और आचारके बीचकी खाई! इसीको दार्शनिकोंने संकल्प-शून्यता कहा है। हम सोचते कुछ और हैं, बोलते कुछ और हैं, करते ठीक कुछ तीसरा ही हैं।

मीनलको एक-एक कर पूर्व जीवनके साथी याद आये। पुराने चित्र खड़े करना और विगत वातावरणमें डूबना-उतराना उसकी आदत हो गयी

है। रोहित ? डाकुओंसे मुठभेड़ करनेका साहस रखनेवाला रोहित राय ?……"थोड़ी देरमें आग मन्द पड़ गयी, और इस बार जो अँधेरा घाटीपर छाया वह अजब था—गाढ़ा, भारी, और ऐसा कि सब चुप-से हो गये—यहाँ तक कि आगके प्रति बच्चोंकी तरह उत्साहमें भरी कुन्तल भी शोभनके घुटनोंके पास, थकी-सी बैठ गयी गुमसुम—जैसे उसने कोई भूल कर डाली हो। रोहित बेचैन-सा लग रहा था, वहाँसे चलनेके लिए।" ओ गुनाहोंके देवता ! यह आगसे भय कैसा गुहामानववाला संस्कार है ! कर्म करते समय सब सुख और आनन्द होता है; पर उसके परिणामोंसे सब भागना चाहते हैं ! जब किसी वैज्ञानिकने खेल-खेलमें ऐटमको तोड़ा होगा तबकी बात और थी। वह क्रीड़ा थी, युरेनियम कणके साथ केलि थी। और जब हिरोशिमा सूनी-पथरायी मुर्देकी खुली आँखकी तरह चुनौती बनकर सामने आया, तब ? तब सब गुप्ताकी तरह सोचने लगते हैं—"कहीं चलो, कहीं भी ! लगे बस चलना है, सिर्फ़ चलना !"

रोहित आकर गिड़गिड़ाया कि डाकुओंके साथ मुठभेड़में वह पंगु हो गया है। वह मीनलका भार नहीं उठा सकेगा। जैसे मीनलका गर्भ कोई सामूहिक पाप हो और उसकी जिम्मेदारी लेनेके लिए कोई राज़ी नहीं। सब ख़ामोश हैं, जैसे सबकी इस साजिशमें मिली-भगत है।

मिस्टर पाववालाने तो एक महीने बाद ही बहुत नम्रतापूर्वक कह दिया—"रिसेप्शनिस्टके लिए हमें सदा तत्पर और 'हैल्दी' लड़कियाँ चाहिए। आई एम सौरी। मैं आपको क़ानूनन कोई मैटर्निटी लीव भी नहीं दे सकता। आप हिसाब चुकता कर जाइए।" मिस्टर पाववाला "दुनियाकी संस्कृति खतरेमें है और व्यक्ति स्वतन्त्रता ही अन्तिम मूल्य है" ऐसा माननेवाली एक संस्थाके सदस्य थे। ये लोग माहिमके पास समुद्र किनारेके एक अड्डेपर जमकर चोरीसे पीते थे और नशाबन्दी लागू करनेवाले सब नेताओंको पेटभर गालियाँ देते थे। और फिर बड़ी 'इन्टलेक्चुअल' बहस करते कि तीसरे विश्वयुद्धका परिणाम क्या होगा ?

अन्ततः रोहित और पाववालामें क्या फर्क है ? उसे लगा ये सबके सब मानव-द्वेषी हैं। उसे पुरानी घटना याद आने लगी :

मीनलके नयनोंमें तिरस्कार उफन आया था।

"तुम मनुष्य तो नहीं हो !" मीनलने कहा था रोहितसे।

"हाहाहा···", रोहितने हँसकर कहा, "नाराज़ क्यों होती हो मीनल ? सारा भ्रम तो गुहामानवके बारेमें बन गये रोमान्टिक भ्रमके कारण है। वह सामूहिक जीवन व्यतीत करता था, कोई भी वस्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति न थी, इसलिए वह बड़ा भोला था : यही न प्रचलित प्रवाद है ? पर कभी बन्दरोंको देखा है ? बन्दर चोरी करता है, परस्पर लड़ता है। दो बन्दरियोंकी एक बन्दरके पीछे ईर्ष्याभरी लड़ाई देखी है ? काम, क्रोध, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, यह सम्पत्तिने पैदा नहीं किये, मनुष्यके भीतर थे। वह गुहामानव बर्बर था, सृष्टिके रहस्य को खोज लेनेका दम्भ उसमें भी था, और वही अज्ञात भयसे अज्ञातको भी मूर्त्त करके उपासना करता था अपने ही परिवेशोंमें बांधकर। और हम सभ्य मानव भी बर्बर हैं; वही, वही है हमारा भी रूप। हरीन्द्रमें यह और भी तीव्र था, क्योंकि अपने मनसे किये हुए त्यागका वह बदला चाहता था। बाल-बच्चोंकी मौतको वह अपने यशके लिए प्रयोग करना चाहता है। वह चाहता है लोग उसके आगे सिर झुकायें ! क्यों ? ऐसा बर्बर है उसका अहम् !

"परन्तु", मीनलने विक्षुब्ध स्वरसे कहा, "तुम्हारे कोषमें 'दया' शब्द ही नहीं है ! सहानुभूति भी कुछ होती है। इसीका नाम मनुष्यता है।"

"दया !" रोहितने कहा,"मेरे मातहत हैं, मैं उनपर दया करता हूँ। मैं क्या करता हूँ ? मैं तो पुर्ज़ा हूँ। दया मेरी कुर्सी करती है। दयामें तो वही है न जिसके बारेमें मैं अभी तक कह रहा था : अहंकार !

मीनल दीदी, बहुतसे लोग अपनी दया सन्तुष्ट करनेको पशु-पक्षी पाल लिया करते हैं !"

—तो आज मीनलको लगा कि वह पशु-पक्षीसे भी गयी बीती और दयनीय है। पशु जब दूध देना छोड़ देता है तो उसका 'गोदान' कर सकते हैं, कसाई भी ख़रीद ले सकते हैं। पक्षी तो उड़ा-भगा दिये जा सकते हैं। पर मीनल कहाँ जाय ?

उसे चारों ओरसे समाज नामक एक निराकार दैत्यकी लपलपाती आदिम-अग्निकी जिह्वाएँ नज़र आने लगीं। सब मानो उसकी ओर उँगली उठा-उठाकर—जो धीरे-धीरे भालोंकी फालमें परिणत हो रही थीं—चीख़ रहे थे : तू चरित्रहीना है ! तेरा चरित्र भ्रष्ट है !! तेरा चरित्र अब नहीं रहा !!!

काश चरित्रके ये ठेकेदार कभी अपनी गरेवाँमें भी झाँक कर देखते ! चरित्र-चरित्र-चरित्र !····स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्····

बुद्धिजीवी वर्गमें 'चरित्र' शब्द बड़ा लचीला होता है। वह सदा दूसरोंका होता है, अपना नहीं।

मीनलकी होटलसे छुट्टी हो गयी। रोहित रायका साथ भी छूटा। अब उसने मनमें सोचा क्या मिसेज़ वर्मा उसकी मदद करेंगी ? नहीं, नहीं। वे तो घोर 'प्यूरिटन' हैं—उस बार उनकी विद्याशालासे एक विद्यार्थिनी रेडियो नाटकमें भाग लेने गयी तो उसे उन्होंने बोर्डिंगसे निकाल दिया। विपिन ?

विपिन ? बुद्धू ! बेवकूफ़ !! फिर उसे उस घटनाके बादकी मनःस्थिति याद आयी।

कम्बख़्त हर बातपर आँखें डबडबा आती हैं। कैसी अजब स्थिति है ! मरीचिकाओंके पीछे भागते-भागते उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया कि वह स्वयं क्या रही जा रही है। शरीर ! शरीर भी कुछ माँगता

है इस बातको अर्सेसे वह भूल गयी है। ब्लाउज़ बाहोंपर कैसा झूल आया है।

लेकिन''''लेकिन यह आख़िर वह क्या कर रही है ? रह-रहकर एक ऐसा धिक्कार मनमें उठ रहा था कि वह ख़ुद अपने-आपसे डर रही थी—कहीं दृढ़ क़दमोंसे सीधे चौकेमें जाकर वह भड़ाकसे किवाड़ न बन्द करले और शरीरपर मिट्टीके तेलकी बोतल औंधाकर'''ढालपर लुढ़कते हुए हर तिनकेको मुट्ठीमें पकड़नेसे पहले तिनकेकी सामर्थ्य भी तो उसे देखनी चाहिए न'''फिर एक नई मरीचिका'''आख़िर इस सबका अन्त क्या है ?

मीनलको लगा था सचमुच वह बुढ़िया हो गयी है। जाने किस अनादिकालसे जीवित रहती आयी है और कब तक बनी रहेगी। एक ऐसी अशरीरी चेतना जो सब देखती, अनुभव करती और सोचती है। अभी कल ही तो छोटे-छोटे 'लिलीपुटियन' उस फुट-भरके मैदानमें लड़ रहे थे। एकने अपना नाम अर्जुन रख लिया था, दूसरेने दुर्योधन ! अपने इस खिलवाड़को नाम दे दिया 'महाभारत' ! उसने ख़ुद सब अपनी आँखोंसे देखा'''कितनी एकाकी'''कैसी असहाय वह जीती चली आयी है।

कंघा जब हाथसे छूटकर 'खट्' से धरतीपर गिर पड़ा तो उसे होश आया—सामने अब भी बुढ़िया मीनल खड़ी थी। "ऐ बुढ़िया, हटो एक तरफ़ !" सड़कपर आवारा बुढ़ियाके रूपमें उसे अपनी तस्वीर दिखायी दी''''उफ़ देखो न, लोगोंने उसे कितनी जल्दी बुढ़िया बना दिया''''अभी उसने कुछ भी तो नहीं जिया''''कुछ भी तो नहीं देखा ज़िन्दगीमें''''उसके सारे सपनोंको घोटकर मार दिया कम्बख़्तोंने। आज न उसका कोई भाई है न भाभी''''दूसरोंके टुकड़ोंपर पड़ी''''हाय, अकेली भी तो नहीं रह सकती। पुरुष होती तो''''हाय, एक क्षण भी तो ऐसा

नहीं जिसे सचमुच उसने जिया हो और अकेले क्षणोंमें जो चेतनापर मँडराता रहे।

कंघा एक तरफ़ फेंककर वह चारपाईपर जा पड़ी थी औंधी····रोएँ-रोएँसे उबल-उबलकर आँसू उसके शरीरका बाँध तोड़कर फूट पड़ना चाहते थे ! अब इस स्थितिपर पहुँचकर दुबारा जीवन भी तो शुरू नहीं कर सकती ! आखिर किस बूते, किस सम्बलपर वह जिन्दगीकी राहोंमें कमर कसकर चल पड़े ?····रूप ? धन····? निष्ठा····? प्रतिष्ठा····? प्यार····? और····और चरित्र····?

शोभन दा तो सबसे संकल्पशून्य फिलासफर थे। वे क्या मदद करते ? करनी होती तो वे पहले ही न कर चुके होते। उनके पास जाना बेकार था।

आशास्थान हरीन्द्र बचा था। सो मीनल एक दिन पूरा साहस बटोर कर हरीन्द्रके पास पहुँची। हरीन्द्र अब बाबा नहीं रहे थे। उन्होंने बम्बईमें अब एक 'योगाश्रम' खोल लिया था। मानव मात्रसे द्वेष करनेवाला यह आदमी अब उपनिषद्-गीता वग़ैरहपर अर्थहीन भाष्य अंग्रेज़ीमें करके विदेशी टूरिस्टों और अन्य लोगोंको अध्यात्मविद्या सिखाता था। इसपर खासी आमदनी उसे होने लगी थी। तिमंज़िलेपर गहरे नीले पर्दे चारों ओर खिंचे थे। ऐसे कमरेमें योगी हरीन्द्रानन्द बैठे थे। वे कुछ कविता भी करते थे। उनका मैनेजमेंट करनेके लिए एक फ्रेंच लड़की विज़िटिंग रूममें बाहर बैठती थी। मीनलको देखकर कुछ नाक-भौं सिकोड़ी। पूछा : "क्या काम है ?"

"मेरे नामका कार्ड उन्हें दे दीजिए। मेरे वे पुराने परिचित हैं। वे स्वयम् बुला लेंगे।"

"अभी वे एक फिल्मस्टारका 'साइकिक ट्रीटमेंट' कर रहे हैं।"

"ठीक है, मैं रुकती हूँ।" और वह इधर-उधर पड़ी पत्र-पत्रिकाएँ उठाकर टटोलने लगी। मनोविज्ञानके नामपर कामशास्त्र और मनो-

विकृतियोंकी रसीली चर्चा करनेवाली कई देशी-विदेशी पत्रिकाएँ वहाँ पड़ी थीं। उनमें आपको अपनी बुद्धि, चिन्तन-क्रिया आदिको कष्ट देनेकी कोई ज़रूरत नहीं थी। हलुएकी तरह हर चीज़ परोसी गयी थी। रंगीन हाशिये या रंगीन स्याहियोंका प्रयोग करके हर चीज़को सुलभ बनाया गया था। पाठकको गुदगुदाने, उसके मुँहमें पानी भर लानेकी हर व्यावसायिक कोशिश वहाँ थी। नारीके अंग-प्रत्यंगोंका वहाँ अक्स उतारा गया था—क्या यह सब इसीलिए कि उनका परिणाम यह हो, जो मीनल भुगत रही है।

नयी सृष्टिकी प्रक्रिया कितनी कष्टप्रद है! उसकी प्रसव-पीड़ा केवल वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने उस भारको झेला है। मातृत्व दायित्व है। उसके विना सारा प्रणय वंध्या है।····

इतनेमें हरीन्द्र आया। रेशममें लक़दक़, पहचानना मुश्किल था। कृष्ण-मूर्तिकी-सी मुद्रा बनाये। उसके साथ वह फिल्म-स्टार बात करते हुए बहुत रोयी होगी, ऐसा उसकी सूजी हुई आँखोंसे दिखायी देता था। हरीन्द्र ने कहा—"ओह, मीनल! तुम? यहाँ कहाँ, कैसे?"

"चलो, कहीं बैठें तब पूरी कहानी बताऊँगी।"

"चलो। लूसी, अभी किसी विज़िटरको मत भेजना।"

अन्दर कमरेमें कई प्रकारके षट्‌चक्र और फुल्ल-कमल लगे हुए थे। कई 'ॐ' और तिब्बती अक्षरोंमें लिखी 'मणि पद्‌मेहुं' और अशोककालीन लिपिमें 'आत्मानं विद्धि' आदि वचन लगे थे। हरीन्द्रकी आँखोंका एक बड़ा-सा एनलार्ज्ड फोटो था। और ग्रन्थोंका झमेला भी कम नहीं था।

मीनलने अपनी सब दुखगाथा सुनायी। फिर कहा: "हरीन्द्र, तुम तो किसी ज़मानेमें बड़े क्रान्तिकारी बनते थे। अब? अब इस समस्याके आगे तुम यों हताश और गतधैर्य कैसे बन गये? तुम क्या सलाह देते हो?"

हरीन्द्रने फुसफुसाते हुए स्वरोंमें कहा कि अमुक-अमुक मेरे परिचित डाक्टर हैं। वे सब कुछ ठीक कर देंगे। किसी बातकी कानोंकान खबर भी नहीं होगी। और तुम कलंकसे मुक्त हो जाओगी।

मीनल चीखी : "हरीन्द्र, यह पाप है !"

हरीन्द्रने शैतानी शरारतमें भींगी हुई हँसी हँसकर कहा : "एक पापका प्रतिकार दूसरे पापसे करनेमें कोई बुराई नहीं है। नकार नकारको कैन्सल कर देता है।"

मीनल रूआँसी हो आयी। उसकी आँखोंमें पहले क्रोधकी जो चिन-गारियाँ फूटी थीं, वे अब वर्षाकी पहली बूँदोंका रूप लेने लगीं : "हरीन्द्र, तुमसे मुझे यह आशा नहीं थी। तुम किसी समय आदर्शवादी थे। अब तुम्हारी भी जमीर मर गयी। ये सब योग तुम्हारा ढोंग है—निरी प्रवंचना !"

मीनल तुरन्त हरीन्द्रको छोड़कर जाने लगी।

लूसीको लगा इन पुराने मित्रोंमें शायद कोई खटपट हो गयी है। वह मुसकरायी।

हरीन्द्रको पुराना प्रसंग याद आ रहा था। पहाड़में शिकारी दम्पतिके पीछे जब जा रहा था तब सुना हुआ संवाद :

"छिः छिः मर्द, बड़े ही निठुर और निर्मोही होते हैं", श्यामली मटक-मटक कर चलती हुई बोली थी : इस बार उसका गला साफ़ था और स्वरसे दर्दके बजाय एक व्यंग्य और परिहासका-सा आभास फूट रहा था।

"औरतोंको कैसे समझाया जाय कि शिकारीको शिकार खेलनेमें क्या मजा मिलता है !"

"मर्दोंके दिलमें तनिक भी दर्द और दया नहीं होती", अपनी पिछली बातको नये लहजेमें सुनानेके उद्देश्यसे श्यामली बोली थी।

"दर्द और दया ये औरतोंके चोचले हैं ! मर्दोंको तो संगदिल होना चाहिए, संगदिल ! जानती हो संगदिल किसे कहते हैं ?"

"नहीं।"

"संगदिल कहते हैं उस आदमीको जिसका दिल पत्थरका हो।" कह कर तुरन्त उस जवान शिकारीने गाना शुरू कर दिया था।

× × ×

इसके बाद मीनल बहुत ही उदास रहने लगी। शामको समुद्र किनारे अकेले टहलना उसका प्रिय व्यवसाय था। ऐसे ही भटकते हुए उसकी एक दिन एक भले मानुस लगनेवाले व्यक्तिसे भेंट हो गयी। उसने अपना नाम नहीं बताया। हम भी उसे 'वह' कहें।

वह एक हिन्दीका लेखक था। उसने इलाचन्द्र जोशीकी भाँति बाल रखे हुए थे, अमृतलाल नागरकी तरह वह हँसता था, और उदयशंकर भट्टकी तरह गम्भीर बननेकी कोशिश करता था। उसने चश्मा लगा रखा था और ढीली-ढाली शाल एक काँधेपर लिये था। बम्बईके फिल्म-जगतमें अपनी महान साहित्यिक प्रतिभाका चमत्कार दिखलाने वह आया था। लेकिन उसे जल्दी पता चल गया कि यहाँ प्रेमचन्दसे भी सिर्फ़ 'अमृत मन्थन' की उम्मीद की गयी थी, और भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और न जाने कितने और आकर चले गये—वहाँ उसकी क्या पूछ होगी! पहली बार जब मीनलसे उसकी मुलाक़ात हुई तो उसके व्यक्तित्वसे वह बेहद आकृष्ट हुआ। बेचारेने स्त्रियोंसे बातचीत बहुत कम की थी, और बोलते हुए वह झेंपता जाता था। उसने कहा: "बहनजी, आपका शुभ नाम?"

"मेरा नाम मृणाल मेहता है। वैसे मीनल आप मुझे कहें। यह 'बहनजी' वाला आर्यसमाजी सम्बोधन आप मुझे न लगाएँ।"

"अच्छा तो मीनल देवी जी...."

"देवी-वेवी मैं नहीं हूँ। विशुद्ध मानवी रूपमें हूँ।"

"तो मीनल कुमारी जी...."

कुमारी शब्दपर आकर मीनल जैसे फिर चुप हो आयी। क्षणभर चकरा गयी। और सोचने लगी। वह आगे गिड़गिड़ा रहा था—

"आप कौन देशकी हैं ?"

"मैं झाँसीसे आयी हूँ।"

"और आपकी जाति पूछ सकता हूँ ?"

"मैं नागर ब्राह्मण हूँ।"

"ओ हो हो हो ! नागर ब्राह्मण तो मैं भी हूँ। जी, मैं हिन्दीका ऐसा बड़ा कवि हूँ कि आप नहीं जानतीं। इन सब सुसरे दलबन्दी वाले परगतिशीलोंने और दईमार नासजाय जैसे प्रयोगवादियोंने मेरा नाम लेनेसे इनकार कर दिया है—यह साज़िश है—वर्ना हिन्दी साहित्यके गये ग्यारह वर्षोंमें मेरा भी नाम मालगाड़ीके एक डिब्बेकी तरह आपको मिल जाता। मैं रुबाई, गज़ल, गीत सब कुछ लिखता हूँ। एक सेठको तो मैंने शादीका निमन्त्रणपत्र भी पद्यमें लिख दिया। यह जो आप सामने बड़ा-सा पोस्टर देख रही हैं...."

मीनलने निर्विकार भावसे दीवारपर देखा : एक छह फ़ुट लम्बी तीन फ़ुट चौड़ी साबुनकी टिकिया और एक भद्र महिलाका भड़कीला चेहरा था।

"उसपर कोनेमें देखिये—

जिसमें छत्तीसों गुन।

वही....साबुन। यह कविता मेरी ही लिखी हुई है। इसके पारिश्रमिकके मुझे दस रुपये मिले थे।"

मीनलको हँसी आ गयी। इस जोकर जैसे आदमीका क्या करे ? उसने बार-बार उसे गम्भीर विषयकी ओर खींचनेकी कोशिश की। उसे गुप्ताकी याद आ गयी। ऐसा ही तो उसने कुन्तलसे कभी कहा था। पता नहीं अब कुन्तल कहाँ होगी ? क्या कर रही होगी ? वह इस उधेड़बुनमें लगी हुई थी कि कवि अपने एक और मित्रसे बातें करनेमें व्यस्त हो गया। मीनल चलनेको हुई। पर कवि भला कब मानते ? बोले : "जाइए नहीं मीनल देवी, ये हैं मेरे मित्र। ये हालमें सोवियत रूसमें यूथ फेस्टीवलमें

जाकर लौटे हैं। अपना जनार्दन नाम बदलकर अब ये अपने आपको ज़रूरत-नहीं-रस्की कहते हैं। ये कैमरा, ये कमीज़ें, ये पतलून, यह बेल्ट—सब आप रूससे लाये हैं। मानसिक रूपसे आप अब भी क़ज़ाकीस्तान, ताजिकीस्तान या अज़रबैजानमें रहते हैं। सिर्फ़ शरीर आपका बम्बईमें है।"

"ज्द्रास्तत्युते!" जनार्दनजी बोले।

"ये नमस्कार कह रहे हैं। पर कामरेड जनार्दन, तुम्हारे साथ वह जो होती थीं, यानी तुम्हारी साथिन जिसे हम लोग जनता कहा करते थे—वह कहाँ है?"

मीनलने उन्हें टालनेके लिए कहा—"आपने उस नये देशमें बड़ी नयी बातें देखी होंगी। स्त्रियोंके बारेमें तो वहाँ बड़ी सुधारकी बातें हुई हैं। वहाँ नारी स्वतन्त्र है।"

जनार्दनजीने ज़ोरोंसे कहा—"वहाँ तो एबॉर्शन भी क़ानूनी है। मैंने एकसे पूछा—क्या तुम्हारे यहाँ माताओं और बहिनोंने इस क़ानूनका विरोध नहीं किया? वे बोले: नहीं, हम अपने देशकी नारी सम्पत्तिकी रक्षा करते हैं।"

कवि कुछ विचलित हुए—"भाई, अपने देशमें तो यह महापाप माना जाता है!"

"नहीं भाई, मेरा तो खयाल यही है कि इस देशमें भी एबॉर्शन वैध बना दिया जाय! आज जो कुछ चोरी-चुपके अन्धेरेमें हो रहा है, वह बहुत ही घृणित है।"

मीनल वहाँ नहीं ठहरी, आगे चली गयी। और अवसन्न मनसे अपने डेरेपर लौट आयी।

उसके सामने वही प्रमुख समस्या है कि वह माता बनना चाहती है। समाज बनने नहीं देना चाहता। वह योगशास्त्र और "फलकी चिन्ता मत करो" का उपदेश देता है।

फिर भी मीनलके लिए समस्या सामाजिक नहीं है—डाकुओंका मध्य-प्रदेशमें दमन कैसे हो या केरलमें कौन-सी आदर्श समाज व्यवस्था हो सकती

है, उत्तरप्रदेशमें भंगियोंका क्या होगा या गन्दी फ़िल्मोंपर रोक कितनी जल्दी की जायगी—या इससे भी बड़े अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न सम्प्रति, इस क्षण उसके लिए हेय हैं, शून्य हैं। हिन्दीके दस मूर्धन्य साहित्यिक मिल कर "ग्यारह सपनोंका देश" ज्ञानोदयमें लिख रहे हैं—यह सब मीनलके लेखे व्यर्थ हैं।

वह बेहद थक गयी है।

उसका ध्यान गांधीजीके वचनोंकी एक पुस्तकपर पड़ा। उसमें एक प्रश्न था—"नारीकी पवित्रतापर शंका करनेवाला पुरुष कौन होता है! क्या उसे अधिकार है कि पापका शब्द मुँहसे निकाले?"

नारी युग-युगान्तरसे पुरुषका पाप ढोती चली आ रही है। यह सपना नहीं है। वास्तव, कठोर, शिला जैसा वास्तव है। वही यथार्थ है। बाक़ी सब व्यर्थ है।

पाप....पाप....पाप....

क्या सृष्टि पापसे बनी है? बच्चेकी किलक, भोली मुसकान, शबनम-धुली कलियाँ, लहलहाता धान, क्या यह सब पापकी उपज है? यह हिमकी पिघलन, यह परस्पर-स्पर्शसे धमनियोंमें रक्तका उभार, यह जंगलमें निरन्तर पुकारती टिटहरी जैसी पक्षिणीकी चीख, यह समुद्रका कभी न थमनेवाला आर्तनाद, यह गतिके अक्षर, यह भावकी घुमड़न—कहाँ है इनमें पाप? सभ्य मनुष्यके शब्द-कोशमें यह शब्द आया—पाप। गुहामानव उस आगसे खेला और उसे झेल गया। हम ख़यालोंमें ही झुलसते चले जाते हैं!

मीनलकी इस समस्याका अन्त क्या हो?

एक रास्ता जो बताया गया—वह उसे कभी नहीं अपनायेगी। वह गर्भस्थ शिशुको नष्ट नहीं करेगी। वह आत्महत्या नहीं करेगी। वह जानती है कि शिशुका पिता पकड़से बाहर, दूर, कहीं ऐसी जगह है जहाँ उसपर उसका बस नहीं। पर सत्यकामका क्या हुआ था? जाबालाका क्या हुआ था?

मीनल इसी विचार-चक्रमें बेहोश हो गयी।

: १० :

कृष्णा सोबती

दो राहें : दो बाहें

चाँदनीके उजले आकाशमें उड़ानें भरती मीनलकी हल्की-फुल्की देह सागरपर सागर उलाँघती गयी। साड़ीके झीने पंख फैलाती देश-विदेश मापती गयी। रसभरी मुग्ध आँखें हवाओंकी गोदमें थिरकती रहीं और मनकी उमंग रह-रह मिलनके गीत गाती रही। अनुरागभरी बाहें आलिंगन के लिए घिर आयीं कि एकाएक सपनोंके रुपहले कपाट बन्द हो गये। आकाश का आँगन धूपसे उजरा गया।

करवट ली, आँखें खोलीं; फिर मूँद लीं। पलकोंकी ओर झाँकता रोहित का 'प्रिय मुख'—रोहितकी प्यार भरी चितवन····! रोहित····रोहित····!!

नहीं रहे वे क्षण, नहीं रहे—बाँहें इस ओर घिरती थीं और जीमें प्यार भर भर आता था। बाहें इस ओर घिरती थीं और छलकता मोह तन मन पर लहरा-लहरा आता था। सुध-बुध भुला देनेवाली वह मोहनी क्या हुई ? क्या हुए वे चूम लेनेके-से काँपते स्वर ? मीनी····मीनी····मीनू····!

चौंककर आँखें खोल दीं।

भोरके इस हल्के मौनमें सिमटा छोटा उदास कमरा और अतीतकी स्मृतियोंसे लटके पुराने पीले परदे।

बाँहें फैला, बीत गये, छूट गये सपनोंको सहेज लेना चाहा कि विवश हो उँगलियाँ माथेसे आ लगीं। जिसे होना नहीं था, होना नहीं था—उस अनहोनीके सपने यह अभागी आँखें क्यों देखती रहीं—क्यों बुनती रहीं वे झिलमिलाते रुपहले ताने-बाने जो सपनोंके संग ही धूल हो गये।

डाक बँगलेपर घिर-घिर आती उस अँधियारी शामको पहली बार

मीनलकी बाँहोंने रोहितको सहेज लिया तो घायल रोहित विस्मयसे मीनलको देखते रह गये।

माथेपर झुकी मीनल बार बार पुकारती है—रोहित !····रोहित !!···· और रोहित काँपता स्नेहसना हाथ छू मन ही मन दुहराते हैं—मिन्नी ! मिन्नी !! वही मीनल है जिसे वह जानते थे पर पहचानते नहीं थे, जिसे वह देखते थे और पुकारते नहीं थे—वही····वही····मीनल····! बत्तीकी लौ धीमी कर मीनलने दबे पाँव बाहर जा हौलेसे पुकारा—

हरि दा !

अँधियारेमें पेड़ तले खड़े-उखड़े मन और शून्य आँखोंवाले हरेन बरामदेमें आ खड़े हुए। कुछ बोले नहीं। टिकुर-टिकुर मीनलकी ओर तकते रहे। हरि दा····!

मीनल पाँव बढ़ा तनिक पास हो आयी। चिन्तित स्वरसे पूछा—'हरि दा, रोहित क्या बहुत कष्टमें हैं····?'

"नहीं····नहीं····" हरेन विक्षिप्तसे सिर हिला-हिला निर्दयी कण्ठसे कहते चले—"रोहित नहीं, मैं हूँ····मैं हूँ····।"

विमूढ़-सी मीनल कुछ समझनेको, कुछ कहनेको हुई कि उन खाली-खाली आँखोंपर कोई निर्दयी काली छाया उतर आयी।

हाथ बढ़ा बल-पूर्वक मीनलको अपनी ओर खींचा—"रोहित नहीं, रोहित नहीं, मैं कष्टमें हूँ—मैं कष्टमें हूँ।"

कि पीछेसे श्यामलीने आ धीमेसे हरेनका कन्धा छू वर्ज दिया—"ऐसे नहीं महाराज ! ऐसे नहीं····!"

हरेन भयभीत निरीह आँखोंसे मीनलकी ओर देखते रहे, फिर बच्चोंकी तरह श्यामलीका हाथ पकड़ नीचे उतर गये।

जाने कैसेसे मनसे मीनल खड़ी-खड़ी रोती रही। जिन हरि दाके लिए वह सबसे विमुख होती रही—वही हरि दा····

पाससे आता रुलाईका दबा-दबाकर स्वर सुन रोहित चौंककर जगे।

एक आँखसे देखा—हल्की धीमी रोशनीमें कुर्सीपर सिर झुकाये सिसकियाँ भरती मीनल बीत गये सपनोंकी छाया-सी लगी। हाथ बढ़ा काँपते कण्ठसे पुकारा—'मीनू !'

मीनू नहीं, साड़ीके गाम्भीर्य्यसे लिपटी मीनल रोती-रोती उन आहत बीमार बाँहोंसे आ लगी।

सुबह हरि दा दिखे तो चेहरे पर न पागलपन था न कपड़ोंमें पगलोंकी सी लापरवाही। इस नयी कायामें हरि दा हरि दा-से नहीं लगे। रोहितके पास आ आत्मीयतासे कहा—"रोहित, जाने क्या-क्या बना भटकता रहा पर उस दिन जो तुम्हें बचा सका, उसीके पुण्यसे फिर हरेन हो गया हूँ।"

हरेनका भरा-भरा स्वर सुन रोहित विस्मयसे हिले कि हरेन स्नेहसे हाथ छू बोले : "दुर्दिनमें मीनलकी सहानुभूति पाता रहा, पर उस शापसे मुक्त कर लानेवाली तो यही श्यामली है रोहित !

सामने मिन्नीके पास खड़ी श्यामली सलज्ज हँसी; फिर मीनल दीके गले लग बोली : "दीदी, यही तो मेरे महाराज हैं'''यही तो मेरे महाराज हैं !"

कार्टेज नं० ३
जनरल हॉस्पिटल
रायपुर,

शोभन दा,

पत्र पढ़नेसे पहले अपनी मीनलको आशीष दें। आशीष दें कि मेरे रोहित अच्छे हो उठें। तुम दोनोंसे रूठकर चली आयी थी पर अब लगता है तुम लोगोंने मुझे अपना ठौर ढूँढ़ लेनेको ही भेज दिया था।

शोभन दा, रोहितका कड़ा जीवट देखती हूँ तो झुक जाती हूँ। अपने दुःख-दर्दसे दूर, वह चुपचाप निर्विकारसे पलंगपर पड़े रहते हैं। पूछती हूँ : "दर्द है ?"

सिर हिला देते हैं : "नहीं।"

डाक्टर पूछते हैं : "बहुत कष्ट है ?"

"नहीं तो।"

कन्धेका प्लास्टर दूसरी बार लगा है। आँखकी पट्टी अभी खुली नहीं।

शोभन दा ! तुम्हारे ही निकट हो भगवानसे माँगती हूँ : रोहित फिरसे सब कुछ वैसा ही देख सके। वैसा ही····

हरि दाका पत्र मिला होगा। वह श्यामलीके संग बम्बई चले गये हैं।

भाभीको स्नेह भेजती हूँ और अपने दादासे ढेर-सा माँग लेती हूँ : अपने लिए : रोहितके लिए।

प्यारसे

मीनल

पत्र पढ़ते-पढ़ते शोभन दा विकल हो आये। हरीन्द्रके पत्रसे सब कुछ जानकर भी मीनलकी ओरसे जैसे वह कुछ और सुनना चाहते थे।

बहुत गम्भीर स्नेह जो उनकी मीनल किसीके दर्दसे सहज ही दूषित हो आती हो पर रोहितके लिए आशीष माँगता यह सगापन! सहसा कोई पुरानी गूँज मनके आसपास गूँजने लगी····

"शोभन दा! तुम्हारे यह रोहित : मनसे ऐसे ही कड़े हैं जैसे ऊपरसे दीखते हैं।"

शोभन दा किताब बन्द कर कुछ क्षण मीनलकी ओर तकते रहे थे, फिर हँसकर कहा था : "जानती हो, यही बात मीनलका नाम ले रोहित मुझसे पूछते थे ?"

मीनल ऐकाएक सकुचा गयी। चेहरेपर कोई नयी-सी छवि उभरकर विलीन हो गयी तो सिर हिला मीठे कण्ठसे कहा : "नहीं दा, मेरे लिए रोहित ऐसा क्यों कहेंगे ? मैं क्या दूसरोंकी सीखसे अपनेको उठाकर चलती हूँ ?"

शोभन दा बार-बार पत्र पढ़ते रहे। पढ़ते-पढ़ते कई बार मनमें अट-कते रहे। मीनूके लिए कोई आशीर्वाद शब्दोंमें नहीं बाँध पाये। मन ही

मन दोहराया : मीनल ! मीनल !!''''कि अपनी लज्जित कर देनेवाली व्यथा कण्ठ भर लायी। माथेपर हाथ रख सिर नीचे झुका लिया। कुन्तल !''''

अनजानेमें रोहित जो कुन्तलके लिए कह आये थे, वह एक दिन सहसा दुर्भाग्य बन उनके द्वारपर आ खड़ा होगा''''उसका सब कुछ छीन लेनेके लिए''''उनका सब कुछ''''!

उस दिन क्लाससे शोभन बाहर निकले तो बादलों भरी दुपहरी सिर-पर झुक आयी थी। घण्टे भर बाद उनका दूसरा पीरियड। कामन-रूमकी ओर जाते-जाते सहसा आँखोंके आगे कुन्तलका प्रिय मुख घूम गया। वही सुबहवाली साड़ी, नीचे लटकता पल्लू, झुकी नज़र और बहुत पास खड़े गुप्ता''''

शोभनके सरल निश्चल मनको एकाएक किसी अदृश्यने झकझोरकर चेता दिया। वह रुके नहीं। घबराये-से सीढ़ियाँ उतरे और लम्बे-लम्बे डग भर कालेजसे बाहर हो गये। आज इस क्षण यह आशंका क्यों ? व्यग्रता क्यों ? कुन्तल''''गुप्ता''''नहीं''''नहीं ! फाटक खोल सहमे-सहमे पाँवों अन्दर आये और बरामदेमें लटकता गुप्ताका रेन-कोट देख ठिठक गये। चाहा कि जोरसे पुकारें—गुप्ता ! कि आक्रोश भरा स्वर गलेमें अटककर रह गया''''

दबे पाँव बरामदा पारकर ड्राइंग-रूममें आ खड़े हुए। कहीं कोई नहीं। न कुन्तल''''न गुप्ता''''पर अतिथि सत्कारके लिए और कौन स्थान होगा ?''''

क्षण भरको रुके फिर गैलरी पारकर बैड-रूमका परदा उठा दिया।'''' हाथ खींच परदेके इस पारसे जब शोभन लौटे तो शोभन ही नहीं, बीत गये वर्षोंके दिन-रात, घड़ी पल सब लौट आये''''सब लौट आये''''

अरबरा दो जोड़ी आँखें खुलीं; बाहें खुलीं तो बरसाती साँझ कमरेमें घिर आयी थी। और बाहर छम-छम पानी बरसता था।

अलसाये मन गुप्ता ड्राइङ्ग-रूममें आ खड़े हुए। कुन्तल····कुन्तल····कुन्तल····अन्धेरेमें जैसे फिर एक बार कुन्तलको देख रहे हों, पा रहे हों। हाथ बढ़ा बत्ती जलायी तो आँखें खुलीकी खुली रह गयीं। शोभन !···· सोफ़ेपर आँखें मूँदे कड़ेसे होकर बैठे शोभन ! !

कुन्तल नयी हो कपड़े बदल कमरेसे बाहर आयी कि गुप्ताने आगे बढ़ बाहोंमें भर लिया और धीमेसे संकेत कर कहा—शोभन ! और जल्दीसे अलग हो बाहर हो गये।

कुन्तल एक बार नहीं, बहुत बार ड्राइंग-रूमकी दहलीज़ तक आकर लौट गयी। जितनी बार आती, सोये-सोये भयभीत पाँव मानो अपनेसे ही हारकर द्वारपर ठहर जाते। आठ····नौ····दस····टन····टन····टन ! हर घण्टेपर रात बीतती गयी। सुबह उठकर शोभन अन्दर आये तो फ़र्शपर औंधी पड़ी कुन्तलको देख लड़खड़ाये-से वापस लौट गये।

जो प्यार एक दिन उनकी बाँहोंसे आ लगा था, वह शेष हो गया···· वह शेष हो गया !

× × ×

कुर्सीपर बैठी मीनल रोहितका हाथ सहलाती थी कि रोहितने हौलेसे बाँह खींच ली और आँख मूँद अडोल लेटे रहे।

दिन भरकी लम्बी जाँचसे थके रोहित इस क्षण किसी टूट गये आहत सपने-से दीखते हैं और पास झुकी मीनल दो अपलक आँखों-सी। दिन भरसे होती पड़ताल आज अधिकारियोंके अन्तिम प्रश्नोत्तरके बाद समाप्त हो गयी।

"आई-जी" के विशेष सहायक जानेसे पहले रोहितका धन्यवाद कर अपने अधिकारपूर्ण कण्ठको भरसक ढीलाकर बोले : "राय, पूरा काण्ड ढंगसे चल पड़ा तो चेतसिंहको समाप्त करनेवाली बाँहोंको विभूषित किया जायेगा।"

रोहित छोटा-सा हँसे और कृतज्ञता जताकर कहा : "यस सर !"

सुनकर मीनलकी आँखें भर आयीं। एक बार, एक बार रोहित भले हो जायें फिर····

डॉक्टर रातका राउण्ड लेकर लौटने लगे तो मीनल उनके संग बाहर चली आयी।

"डॉक्टर !" स्वरमें प्रार्थना थी।

डॉक्टर रुके; फिर दिलासेके-से स्वरमें कहा—"घबरायें नहीं; आँखकी पट्टी कल खुलनेवाली है····"

बरामदेसे लौटती मीनलने कई बार रोहितकी गर्व भरी आँखोंकी बात सोची जो कल उसे जी भर देखेंगी।

बिछौनेके पास आ ठिठक गयी। पट्टीसे बँधा सिर और खुली एक आँख। द्रवित हो पूछा : "क्या बहुत थके हैं ?"

"नहीं तो।"

रोहितका धीरज भरा स्वर सुन आँखें छलछला आयीं। भर्राये कण्ठसे कहा : "डॉक्टर कहते थे कल तो····कल तो····"

सुनते ही रोहित कड़े हो आये। जाने कैसे-से निर्दयी कण्ठसे कहा : "बस !" और मौन हो गये।

रुलाईको छिपाती मीनल कुछ देर आँचल आँखोंसे लगाये बैठी रही, बैठी रही; फिर सह न सकनेपर बिलख-बिलख कर रो पड़ी।

रोहित हिले नहीं, डुले नहीं, बोले नहीं। और मीनल रोती-रोती कब सो गयी, कहाँ खो गयी, पता नहीं।

एकाएक हड़बड़ा कर उठी। काँपता स्वर सुन पड़ा : "मीनू !"

स्वर नहीं····स्वर नहीं जैसे अपनेमें समेटती बाँहें हों।

अगले पिछले समूचे प्यारको सहेज मीनल रोहितसे जा लगी।

"मीनू !"

मीनू जो कहती है वह रोहित सब जानते हैं; फिर भी, फिर भी अपनेको सम्भाल विवशसे पूछते हैं : "मीनू, कल आँख नहीं रहेगी तो?····"

मीनलने मुँहपर हाथ रख दिया और अनुरागमें भींगकर बोली : "रोहित, कल नहीं, आज''''आज''''और''''"

ज्वारके अनकहे शब्द गलबहियोंमें खो गये''''।

× × ×

प्लेटफार्मपर खड़ी मीनलने झुककर शोभन दाके पाँव छू लिये और तनिक-सा हँसकर कहा : "समय पीछे नहीं लौटता शोभन दा ! लौटता तो आज हम माँके संग खेल-खलौने लिए नानी अम्मासे मिलने न जाते ।"

शोभन दाने सिर हिला बहनको थपथपा दिया। कुछ कहनेको थे कि इंजनने सीटी दी। मीनल ऊपर चढ़ी और भर्राये कण्ठसे बोली : "शोभन दा, आप घर जायेंगे, कहीं और नहीं" : फिर गहरे आग्रहसे शोभनका हाथ छूकर कहा : "एक शोभन दा ही कुन्तल भाभीको क्षमा कर सकेंगे, यह मैं जानती हूँ।"

शोभन दाने दर्द-भरी गम्भीर आँखें ऊपर कीं जैसे याचना करते हों : "मीनू, कुछ और करनेको कहो, यह नहीं''''यह नहीं''''"

रुलाईसे लाल हुई आँखोंवाली मीनल सिर हिला ममतासे हँसी। चलती गाड़ीमें-से पुकारकर कहा—"कुन्तलके लिए मिन्नीकी सौगन्ध हो दादा !''''"

मिन्नीकी मीठी छवि आँखोंमें झिलमिला गयी और दूर जाती रेलका सूनापन सिर झुका प्लेटफ़ार्मपर बिछा रहा। खड़े कई क्षण रेलकी पटरियाँ देखते रहे, फिर मीनलके लिए तरस, धीरे-धीरे पुल पार कर अपनी गाड़ीके सामने आ खड़े हुए।

अलग दिशाएँ—अलग राहें !

मोहसे लिपटी अपनी मृणालके लिए जी उमड़ आया। रोहितके सामने वह मानो किसी गर्वीली देह-सी झुककर रह गयी है।

चलनेके पहले आरामकुर्सीपर बैठे रोहितके पास खड़ी-खड़ी मीनल रोती रही, रोती रही।

रोहित कुछ कहें, कुछ कहें—पर रोहित तो कुछ बोले नहीं।

अगाध संयमवाली अपनी बहनके लिए अपार करुणा उमड़ आयी।

रोहितका कन्धा छू शोभन बोले : "रोहित, मिन्नी चली जाती है, रोकोगे नहीं ?"

रोहितने जैसे कुछ सुना नहीं। उस कठोर मुद्रामें दोनों हाथोंको जकड़ चुपचाप बैठे रहे।

सहसा मिन्नीने रोते-रोते रोहितकी गोदमें सिर झुका दिया।

रोहित पलभर पठारसे अड़े रहे, फिर एकाएक उमड़कर गोदमें पड़ा सिर चूम लिया और अस्फुट स्वरमें बोले : "पीछे नहीं हटता हूँ मिन्नी ! प्राण रहते अपनी बात रखूँगा।"

इस ज्वार भरे प्यारमें कौन अटक थी, कहाँ अटक थी—यही सोचते-सोचते शोभन गाड़ीमें जा बैठे।

चलती गाड़ीकी खिड़कीमेंसे बाहर देखने लगे तो मनके आगे घिर-घिर आता भोला बचपन ढेर-सी स्मृतियाँ सहेज लाया····

माँके संग गाड़ीमें बैठे वह और नन्हीं मोनल। शोभन····शोभन···· शोभन····!'

माँ मृणालको हल्की-सी थपकी दे लाड़से कहती है : "बिटिया, भैयाको शोभन नहीं, शोभन दा कहते हैं।"

मिन्नी सिर हिला-हिला दुलराती है ? "क्या कहते हैं माँ ?····शोभन दा, शोभन दा, शोभन दा····!"

वे खेल-खिलौनोंके भोले दिन ! वे भोली चाहें !

कम्पार्टमेण्टमें बैठे अन्य जनोंसे बेख़बर, आँखें मूँद लीं। "शोभन दा आप घर जायेंगे, कहीं और नहीं····।"

घर जायेंगे ? घर जो अब घर नहीं रह गया। छिन्न-भिन्न हो गये उल्लासका सूना आकार भर ! जायेंगे कि उस अँधियारी साँझको बिसरा, पत्नीको एक बार फिरसे पुकारें—कुन्तल !

कुन्तल !

ग्लानिसे सिकुड़ किसी ओर देखा नही गया। विवश हो आँखें बाहर गड़ा दीं। खेत-खलिहान, भागते खम्भे और पेड़ोंके काले सायोंके संग-संग दौड़ती कुन्तल। शोभन गाड़ीमें हैं और कुन्तल इस परिधिके बाहर।

शोभन पुकारते हैं। कुन्तल भागती है—और भागती है····

अन्दर-बाहरकी इस होड़में, दौड़में शोभन केवल दर्शक भर रह गये हैं, केवल दर्शक भर !····

झटका लगा। शोभन दा उठे और खिड़कीके सामने चिर-परिचित प्लेटफार्म आ लगा। नीचे उतर घड़ी भर खोये-खोये इस ओर लौटा लाने वाली गाड़ीकी ओर तकते रहे, फिर धीमी उदास चालसे स्टेशनसे बाहर हो गये।

हाथमें बैग लिये पैदल ही घरकी ओर चल दिये। सीधी जाती छोटी राह जैसे सूझी ही नहीं। कालेजका लम्बा चक्कर लगा घरके सामने आन पहुँचे तो संकोच और व्यथाके भँवर रह-रहकर पैरोंको पछाड़ने लगे।

भरसक अपनेको सँभाल फाटक खोला और मन ही मन मनाया : जो यहाँतक ले आ सके हैं, वही प्रभु आगे भी····आगे भी सह सकनेका बल दें !

× × ×

रह-रहकर टकरातीं, पछाड़ें खातीं समुद्रकी अभागी प्यासी लहरें लौट-लौट आती हैं और ज्वारके ऊँचे पूरमें बह जाती हैं। किनारोंको बाहें नहीं मिलतीं। लहरें और बौछारती हैं, और पछाड़ती हैं और बिछुड़ गये प्रिय-जनोंके नाम ले-ले पुकारती हैं—

रोहित !····शोभन दा !····कुन्तल !····और अपना नन्हा-सा रोहित····!

इस तनसे लिपटा जो असंख्य-असंख्य चिन्ताओंमें, विवशताओंमें भी मीनलको सरसाता था, हुलसाता था वह आँखें खुलते ही किसी अधिकार-हीन कुलशील-हीन निशानकी तरह मिट गया।

मीनल रोयी नहीं। धोयी नहीं। बिस्तरपर पड़ी-पड़ी एक बार उस निर्जीव नन्हीं कायाको देखा और जी कड़ाकर आँखें मूँद लीं।

वे मन-प्राण जो समूचे अभिमानसे, समूचे गर्वसे एक दूसरेके लिए उमड़े थे—वे उस क्षण क्या सच ही स्नेहको पुकारते नहीं थे? प्यारको सत्कारते नहीं थे?

वह सच हो आया जो एक दिन शोभन दाने संकेत कर दिया था—"मिन्नी, रोहित जो कुछ भी रहे हों; छूट लेकर उसे चुकाना तो नहीं ही जानते।"

रोहितके लिए ऐसा अभियोग पढ़ मीनल रोयी थी। शोभन दापर क्रोधित हो आयी थी। पर गहरे कहीं कोई चुपकेसे चेता गया था—जो होनेको है, जो आनेको है वह एक तिरस्कार बनकर रह जायेगा। उनका इस लोक-परलोकमें कहीं कोई नहीं होगा। कहीं कुछ नहीं होगा। नाम नहीं, अधिकार नहीं।

कभी दो अभिमान, दो गर्व मिले थे—ऐसे अनादरमें धूल हो जानेके लिए''''।

प्यारकी सब कथा, सब व्यथा शेष कर मीनल नर्सिंग होमकी सीढ़ियाँ उतरी तो न मन सिहरा, न पाँव काँपे। शान्त हो गयी, स्वच्छ हो गयी देह, धुले कपड़े-सी अड़ी-अड़ी, कड़ी-कड़ी। सादी सफ़ेद साड़ीमें लिपटी अपने पुराने सतरंगी स्पर्शको जैसे नर्सिंग होममें छोड़ आयी। वह अवश-सी विवश-सी थकन, वह रोहितको पुकार-पुकार आते आलोड़नके पल, वह मोहकी मोहनी—सब रीत गये। सब बीत गये।

बाहर आकर तत्काल ही टैक्सी नहीं ली। भीड़मेंसे पैदल निकल चली तो कोई भी परिचित-अपरिचित आँखोंने मीनलको पहचाना नहीं। मनमें कुछ ऐसा हो आया कि इस अपार जन-समूहमें कोई भी इस अभागे मुखको निहारनेवाला नहीं।

पहलेसे रिजर्व करवाये बोर्डिंग हाउसके कमरेमें रातको लेटी तो गाढ़ा

काला अँधियारा मनके आसपास छा गया। सब ओर अँधेरा है····सब ओर अँधेरा है। दूर-दूर तक फैले पठारके वीरानेमें केवल रोहितकी एक आँख चमकती है····रोहितकी एक आँख चमकती है।

"मिन्नी····मिन्नी····!"

मीनल भीगकर कहती है : "कहो रोहित!" रोहित कुछ कहते-कहते झिझकते हैं, फिर अनचाहेसे पूछ लेते हैं—"मीनू, हरीन्द्रपर बरसती तुम्हारी अनुकम्पा देख चुका हूँ, पर मुझपर भी क्या····?"

सुनकर मिन्नी पल भरको ठिठकी मानो यही बात अपनेसे पूछती हो, फिर शान्त ठहरे स्वरमें बोली—"नहीं रोहित, मेरा अपना दर्द है जो तुमसे कुछ माँगता है!"

रोहित अपने गाम्भीर्यसे मीनलको एक बार फिर पुकारकर पा लेते हैं!

फिर मीठी रात उतरी : लहरा गयी। सरसा गयी। बिसरा गयी रोहितके दुःस्वप्नों को!····

भोर हुई। हवाएँ हल्की हो कमरेमें थरथरा आयीं। उमड़कर पुकारा : "रोहित!"

रोहितने घेरकर चूम लिया। मिन्नी!

कमरेमें धूप फैलने लगी तो लाड़से कहा, "रोहित, अब सिस्टर आनेको हैं····" और हँसती-खिलती-सी पाससे उठ गयी।

नहा-धो बाल सँवारते मृणालने छोटे-से दर्पणमें अपनेको देखा। देखती रही, देखती रही फिर लजाकर हाथोंमें मुँह छिपा लिया। कोई चोर पैर ताल दे-दे कहते रहे—मीनू····मिन्नी····मीनल····!

मीनल अन्दर आयी तो रोहितपर झुके डॉक्टर खड़े थे और पास छाँह-सी करती सिस्टर। पट्टी खुली।

"कुछ देख नहीं पाता हूँ, डॉक्टर!"

डॉक्टर हाथ फेरकर कहते हैं—'राय, धीरे-धीरे आँख उजालेकी अभ्यस्त होगी।····अब?"

"नहीं डॉक्टर !"

डॉक्टर व्यस्त हो, हाथ आगेकर कहते हैं : "कुछ हल्का-सा ?"

"डॉक्टर, कुछ भी नहीं।"

रोहितका गम्भीर स्वर सुन डॉक्टर मानो चिन्तित हो आये। जाँचते रहे, देखते रहे। फिर दुबारा पट्टी बाँध जाते-जाते कहा : "मिराजकरसे कन्सल्ट करना होगा।"

"धन्यवाद डॉक्टर !" कृतज्ञता जताता रोहितका रौबीला कण्ठ।

डॉक्टर चले गये ! मीनल खड़ी रही। रोहित लेटे रहे और घड़ीकी टिक-टिक समय मापती रही। दिन भर रोहित कुछ बोले नहीं। सहमी-सी मीनल देर तक खड़ी-खड़ी खिड़कीसे बाहर देखती रही। मन हो आया रोहितको दुलार कर कहे—"कुछ डर नहीं"...कुछ डर नहीं", कि सुबह-वाला रोहितका कठिन स्वर याद कर अटक गयी। सामने बिछी दुपहरी उदास हो खिड़कीसे दूर चली गयी तो घबरायी-सी मीनल ड्यूटी-रूम तक जा उन्हीं पैरों पलट आयी।

रोहितके लिए डॉक्टर सचमुचमें ही क्या सोचते हैं, यह जान लेनेकी हिम्मत नहीं हुई। लौटी कि रोहितका स्नेह भरा कोमल स्वर सुन पड़ा : "मीनू"...सुनो तो !"

मीनल बँधी-बँधी पास आयी कि तन-मनपर फिर रात उतर आयी। विह्वल हो पलँगकी बाँहोंपर सिर झुका दिया।

रोहित बालोंको बहुत हौले बहुत हौले मानो छूते भर हों, सहलाते रहे और मीनल पड़ी-पड़ी अतीतके रतनारे स्वर सुनती रही।....

"पानीमें पैर डाले, दूर-दूर-सी दिखती तुम ! देखकर जैसे सदाको जान लिया था कि एक दिन, एक दिन मित्रोको शोभनसे माँग लूँगा। लौटती बार ड्राइव करते तुम्हारे मौनसे ही जाने कितनी बातें करता रहा था। घर लौटा तो क्षण क्षण एक ही मुख दीखता"...पर फिर तो धीरे-धीरे हरीन्द्रकी सहानुभूतिमें मीनल परायी होती चली।"

मृणाल हँसी जैसे अपना अपराध स्वीकारती हो। फिर मानसे सिर हिला बोली—"जानती हूँ, उन दिनों पुलिसके बड़े साहिब हर क्षण तरेरा करते थे।"

"और हरीन्द्रके लिए दया सँजोती मीनल रोहितको नित्य ही कुरेदती थी।"

"रोहित····!"

मीनल कुछ कहने जाती थी कि सिस्टर अन्दर चली आयी। ऐसे हँसी कि हँसती न हो, ऐसे देखा कि देखती न हो।

रोहित मीनलका हाथ थामे-थामे हँसकर बोले : "सिस्टर, आँख ठीक हो गयी तो इस पगलीको दिन रात तंग किया करूँगा····न हुई तो फिर छुट्टी पा जाऊँगा।" अप्रभित सी मीनल कुछ कहनेको हुई कि सिस्टरने द्वारकी ओर देखकर कहा—"डाक्टर मिराजकर आनेको हैं।"

रोहितने सहजसे मीनलको अपनी ओर भर लिया और चूमकर धीमेसे कहा—"बस मिन्नी····"

मिराजकरके अनुभवी हाथ देर तक रोहितकी आँखकी परीक्षा करते रहे। साँस रोके मीनल खड़ी-खड़ी देखती है और सिस्टर तत्परतासे अपनी ड्यूटीपर।

डा० मिराजकर और साठे बाहर निकले तो मीनल सिस्टरसे कुछ जान लेनेके लिए संग-संग बाहर चली। सिस्टर रुकी नहीं। हाथसे संकेत दे मीनलको छोड़ आगे चली गयी।

मीनल खड़ी रही, खड़ी रही। डाक्टर तो कुछ भी नहीं कह गये, फिर कुछ देर पहलेकी उमंग मनसे एकाएक दूर क्यों हो गयी है। बुझे-बुझे मन अन्दर आयी कि रोहितका पतला धीमा स्वर सुन ठिठक गयी।

"यह आँखें····एक आँख····एक आँख····ओह!

मीनल वहीं रुकी रही। आगे नहीं बढ़ी। जान लिया कि रोहितके विवश बोल किसी और द्वारा सुननेके नहीं हैं।

देर बाद पुकारा—"रोहित !"

रोहित दुलारकेसे स्वरमें बोले—"मीनल, एक काम कर सकोगी ?'

"कहो रोहित ।"

रोहित जैसे अपनी ही गम्भीरताको हल्का करनेको हँसे । "एक पत्र शोभनको लिखना होगा मीनू····अभी ।"

रोहितकी सदाकी सी निश्चिन्त आवाज़ । सिरपर झूलते किसी अज्ञात भयसे मीनल एक बार सिहरकर पत्थर हो गयी ।

रोहितने फिर पुकारा : 'मीनल !' मीनल कुछ बोली नहीं । कुर्सीपर बैठे-बैठे आँखें मूँद लीं कि सोती हो । मनको किसीने चेता दिया कि यह क्षण, यह क्षण····शुभ नहीं, शुभ नहीं !

मृणालने नींदमें जब सच ही आँखें मूँद लीं तो सपनेमें देखा—

नीचे आकाशपर दो तारे हैं । दो मुख हैं । दो जोड़ी बाँहें हैं । सत्कारती, स्वीकारती एक चाह है । एक चाह है जो धरतीपर, फैली समयकी घाटियाँ माप जाएँगी । पठारपर छा जाएँगी । धीरे-धीरे नन्हाँ-सा रुपहला चाँद निकल आयेगा । अँधियारा बिछुड़ जायेगा । चारों ओर आलोक बिखर जायेगा । फिर भोर हो आयेगी । छोटेसे घरको चूम जायेगी । रोहित होंगे, रोहितकी मीनल होगी और एक हँसता-खेलता नन्हाँ मुन्ना—छोटे-छोटे पाँव इधर दौड़ा आयेगा । रोहित अपनी गर्व भरी आँखोंसे हँस संकेतसे बुलायेंगे इधर····इधर····

एकाएक बिखरते काँचका स्वर सुन नींद टूट गयी ।

भयभीत घबरायी-सी मीनल चौंककर उठ बैठी । उड़ी-उड़ी दृष्टिसे कमरेके चारों ओर देखा । रोहित क्या पलँगपर लेटे हैं ?····

हाथ बढ़ा टेबिल-लैम्प जला लिया तो विस्मयसे बोर्डिंग हाउसके इस अपरिचित अनजान कमरेको देखते-देखते आँखें डबडबा आयीं ।

खुले नीले आकाशपर जगमगाता वह मीठा मधुर घर····किलकारियों भरे घरका आँगन····

सब कहाँ हैं ?

सब कहाँ हैं ?

अँधियारेमें भटकती मीनल सिरहानेपर सिर डाल फिर लेट गयी तो लगा कि रात भरके सफ़रके बाद वह सपनोंके सुनहले देशसे लौट आयी है ।

लौट आयी है !

अकेली ! अकेली ! अकेली····

: ११ :

डॉ० धर्मवीर भारती

आदिम अग्नि, उगता सूरज और दीपशिखा

लेखकके पत्र : शोभनके नाम

१० सितम्बर

डियर शोभन,

यक़ीन नहीं होता जी मुझे ! तुम और चिट्ठी लिखो ? यह तो मान सकता हूँ कि तुम्हें याद आये मेरी, तुम लिखनेकी सोचो, महीने भर तक लिखनेके सवालपर हर पहलूसे ग़ौर करते रहो, दोस्तोंसे, कुन्तल भाभीसे इस अहम मसलेपर विचार करते रहो—और ख़त लिखना है कि टलता जाय, महीने पर महीने गुज़रते जायँ और अन्तमें मार्चमें इरादा कर कहीं जूनमें ख़त लिख भी डालो तो पाओ कि जिसमें मेरा पता था वह डायरी खो गयी, या जिसमें डायरी थी वह जेब ही गुम हो गयी—यह सब तुम्हारा 'स्वधर्म' है और कहा गया है कि—"स्वधर्मे निधनं श्रेयस्"—लेकिन मुझे ख़त लिख डालना और आठ का लिखा ख़त तुरन्त छोड़ देना और उसका दसको ही मुझे मिल जाना''''यह सब बताता है कि मामला कुछ ऐसा वैसा नहीं है''''

अच्छा जल्दी लिखो बात क्या है, और मेरी मदद ऐसे किस काममें चाहिए जिसके लिए तुम लम्बा रजिस्टर्ड-पत्र लिखनेवाले हो ?

तुरत लिखो ।

१८ सितम्बर

प्रिय शोभन,

तुम्हारा रजिस्टर्ड पत्र दो तीन बार पढ़ चुका हूँ । मन बहुत भारी हो

आया है उसे पढ़कर। बात कुछ असाधारण है यह तो पहले लगने लगा था—पर ऐसी होगी इसका अन्दाज भी नहीं था।

अच्छा खैर, सबसे पहले कामकी बात, फिर कुछ और। खत पाते ही मैंने मीनलजीके इन्स्टीट्यूटमें फोन किया। इन्स्टीट्यूट तीन दिनके लिए बन्द है। बोर्डिंग हाउसका ठीकठाक पता चौकीदार बता नहीं सका। अब तीन-चार दिन बाद इन्स्टीटयूट खुलने पर ही उनसे मिलूँगा जाकर। उनसे मिल लूँ तब आगेकी बात लिखूँ।

तुम घबराना मत! लेकिन यह भी कैसे कहूँ? बात तो घबरानेकी क्या, बिल्कुल टूट जाने की है, लेकिन तुम दोनों टूटे नहीं, बने रहे, यही क्या कम है!

अपने भरसक पूरी कोशिश करूँगा उन्हें घर भेजनेकी। वैसे बहुत कठिन नहीं लगता।

तुम्हारा—

३० सितम्बर

बन्धुवर,

तुम्हारी चिन्ता बिल्कुल जायज है। १२ दिन जरूर हो गये पर क्या लिखता तुम्हें? नहीं! व्यस्त नहीं रहा, गया भी मिलने : लेकिन····

ओह शोभन! मैंने कितनी आसानीसे पिछले खतमें तुम्हें लिख दिया था : "मीनलसे मिलकर लिखूँगा।" जब तक किसी भी स्थितिमें पैठकर उसे न जानो तब तक वह कितनी आसान लगती है। मीनलसे मिलनेके पहले सोचा था—जाऊँगा, उसे बुलवाऊँगा, अपना परिचय दूँगा। मुझसे छोटी है इस नाते डाँटकर या स्नेहसे घर लाऊँगा और यह जताते हुए कि मुझे सब मालूम है—उसे समझाऊँगा कि वह घर लौट जाय और फिर तुम्हें विजयोल्लासमें भरकर तार दूँगा। तुम दोनों आओगे, उसे ले जाओगे, तीनोंको फिर एक सूत्रमें बाँधकर अपने गौरवके भारसे लदा कैसा उदात्त

लगूँगा। कितनी आसानीसे सोच ली थी मैंने यह सारी प्रक्रिया और इसका सुखद अन्त !

लेकिन शोभन, अपने लिखनेके कमरेमें बैठकर किसी पात्रको परिकल्पित कर लेना कितना आसान है और वास्तविक जीवनमें हाड़ मांसके किसी सजीव व्यक्तिको सचमुच जानना—उसका सामना करना—कितना अलग होता है ? हम लेखक कल्पनाप्रवण होते हैं न ? मैंने एक-एक घटना, एक-एक वार्तालाप परिकल्पित कर लिया था—मैं यह कहूँगा, फिर मीनल यह कहेगी—फिर मैं बातको यह मोड़ दूँगा, फिर तर्कको ऐसे ले जाऊँगा—फिर इस जगहपर आकर उसके मनको थोड़ा आहत करके छोड़ दूँगा और नाटकीय ढंगसे चला आऊँगा—और फिर जाऊँगा—आदि आदि। अब अपनेपर हँसी आती है—उस तुम्हारे मित्र प्रतिष्ठित लेखकपर जो उस क्षण, उस इंस्टीटयूटके फाटकपर मीनलके सामने कितना हास्यास्पद साबित हुआ होगा। पन्द्रह मिनटके बाद जब धीमेसे बन्द फाटककी छोटी खिड़कीमेंसे चौकीदार बोला—"अभी आय रही हैं, खड़े रहिये", तब तक मुझमें पूरा भरोसा था। पाँच मिनट बाद फाटक चरमराया, पल्ले जरासे खुले और मीनल सामने आकर खड़ी हो गयी। मेरी सारी कल्पना बिल्कुल रेशे-रेशे बिखर गयी। यह तो लड़की ही दूसरी थी। खड़े होनेके ढंग, गर्दनके तनाव, पर्स पकड़नेकी मुद्रा और ओठोंपर जमे हुए होठ''''इन सबोंसे केवल एक भाव टपक रहा था : दृढ़ता ! अभेद्य दृढ़ता ! किसी राजपूतके कवचकी तरह ओढ़ी हुई दृढ़ता होती तो उसे भेदा जा सकता था''''लेकिन उसमें तो दधीचिकी अस्थियोंकी-सी मौन दृढ़ता थी—जिसपरसे माँस-मज्जा तकका आवरण हट चुका हो—केवल आन्तरिकता शेष हो और वह अटूट हो, अभेद्य !''''अब यह भी याद नहीं कि मीनलने क्या पूछा था (अन्दाज़ करता हूँ कि उसने पूछा था—"कहिए, आप क्या चाहते हैं ?") मुझे सिर्फ़ इतना याद है कि मैं उसकी उस अभेद्य दृढ़ताके आगे कितना निरर्थक लग रहा था''''लगता था मेरे सामने एक व्यक्ति नहीं एक पूरा

जीवन खड़ा है—विद्रोह, विफलता, आग, निराशा, दुस्साहस सब झेलकर अपनीही धुरीपर अपने आप घूमता हुआ एक तेज-चक्र—अपनेमें सम्पूर्ण···और मुझे यह लग रहा था कि उसमें मेरा एक भी विचार, एक भी शब्द, यहाँ तक कि मेरा वहाँ होना तक नितान्त अर्थहीन है—मैं क्यों गया ? कुछ क्षण खड़े रहकर, मुझे चुप पाकर मीनलने कहा—"आप शायद किसी औरसे मिलना चाहते होंगे !" उसके स्वरमें न कोई खीज थी न रोष, न भय, न झुँझलाहट ! केवल एक गहरी दृढ़ता और उसी दृढ़तासे वह मुड़ी, फाटक फिर चरमराया, जरा-सा खुला और बन्द हो गया ! मुझे इतना और याद है शोभन, कि मैं घरकी ओर मुड़ा तो लगता था जैसे पाँवोंमें जान नहीं रही, और घर पहुँचा तो यह लगा कि आधे घण्टे पहले मैं यहाँ-से साधारण गया था पर आधे घण्टे बाद जैसे २० बरस बूढ़ा होकर लौटा हूँ !

पुनश्च—

लो, इतना कल लिखकर रक्खा ही था कि बीचमें इसी सम्बन्धकी एक दूसरी घटना हुई। मीनलको आये ३ महीने हो गये इस शहरमें। संयोगकी बात है कि पिछले दिनों मैं बहुत कम बाहर आया-गया अतः मीनलके बारेमें शहरके खासुलखास तबक़ेमें क्या चर्चे हो रहे हैं, इसका कोई आभास मुझे न था।

तुम्हें पत्र लिख ही रहा था कि नौकरने बताया बरवे आया है—मेरा एक लेखक मित्र ! आते ही उसने कुर्सी पास खींची और तुम्हारे अधूरे खतको देखकर आँखोंमें एक अजीब-सी चमक लेकर बोला—"किसे लिख रहे हो प्रेमपत्र ? अच्छा, इसीमें आजकल डूबे रहते हो ? कुछ सुना नहीं तुमने ?" मैं जान गया कि अब वह कोई नया प्रवाद बताने जा रहा है। किसी लेखक मित्रके व्यक्तिगत जीवनका कोई प्रसंग, किसी संस्थाका अन्दरूनी भेद, किसी सम्भ्रान्त महिलाकी चरित्रहीनता, इन सबके बारेमें उसकी जानकारी बहुत गहरी रहती थी और इस अभूतपूर्व ज्ञानका एक

भी कण मिला कि उसे पचाना उसके लिए कठिन होता था। लेकिन इन तमाम बातोंको समाज-सुधार या नैतिक निर्माण या अन्याय-विरोधकी चादर-में लपेटकर रखनेमें उसे कमाल हासिल था। पहले दो-एक बार मैं बहुत प्रभावित हुआ पर जब जाना कि यह उसका 'आँबसेशन' है और वह हर व्यक्तिको कलुषित, हर महिलाको भ्रष्ट, हर स्थितिको गन्दी साबित कर अपने चारों ओर एक ऐसी पतित, मूल्यहीन, छिछली दुनियाकी कल्पना कर लेता है—जिसमें उसकी अपनी पतित मूल्यहीन आत्मा अपनी संगति और सार्थकता पा सके, जिसमें वह यह पाये कि दूसरे भी इतने ही बुरे हैं—वही अकेला नहीं।

यह जान जानेके बाद उसकी बातोंको अधिक प्रोत्साहन नहीं देता। टाल जाता हूँ। गुस्सा भी नहीं होता, तरस खाता हूँ, पर उस दिन उसकी बातें सुननी पड़ीं क्योंकि बिना यह जाने कि मैं किसी रूपमें मीनलको जानता हूँ''''उसने मीनलकी चर्चा करनी शुरू की! ओह शोभन, तुम क्या करोगे उन सब बातोंको सुनकर! कैसी-कैसी असम्भव कल्पनाएँ, कैसी अमानुषिक स्थितियाँ, कैसी बीभत्स विकृतियाँ। मीनलने जो कुछ भोगा है, भोगकर जो दृढ़ता पायी है''''उसका कैसा विचित्र चित्रांकन! और फिर मीनल-चर्चाको आधार बनाकर उसने सबको गालियाँ देनी शुरू कीं—जिनसे वह ईर्ष्या करता था, जिनसे डरता था, जिनसे चिढ़ा हुआ था, जिनके-जिनके समान बन नहीं पाया था, जिनसे हीनता अनुभव करता था''''उन सबको! वह साबित कर रहा था कि मीनलके जीवनमें जो हुआ उसके लिए शेष सभी जिम्मेवार हैं और फिर वह उन सबको गालियाँ दे रहा था क्योंकि उसे लगता था हाय, वह भी उनमें क्यों न शामिल हो सका! किसीने कहा है न—"जैसे श्वान काँच मन्दिरमें भ्रमि-भ्रमि भूँकि मरै!"

बरवे फुफकार कर, गरजकर, चटखारे ले-लेकर, विद्रोहका झण्डा बुलन्दकर चला गया पर मेरे मनमें एक अजीब-सा अरुचिकर मितलाने-

वाला स्वाद छोड़कर चला गया। शोभन डियर, बरवे तो मात्र थालीका एक चावल है····चारों ओर सभी तो ऐसे हैं और ऐसे लोगोंके बीच किसी-का भी तनकर खड़ा होना····और खास तौरसे मीनल ऐसी लड़कीका···· कितना बड़ा दुस्साहस है यह ! उसके द्वारा जिया जानेवाला एक क्षण कितना यातनापूर्ण रहा होगा, इसकी कल्पना करना क्या आसान है ? इसकी चरम व्यथाको समझे बिना उसपर फैसला देना या उसपर दया करना—दोनों मुझे बचपना लगता है ।

शोभन मेरे बन्धु, तुम मीनलपर फैसला नहीं देते यह तुम्हारा बड़प्पन है, पर उसपर दया करनेकी बात क्यों कहते हो ? नहीं, दया, करुणा, तरस····इनसे बड़ा है उसका व्रत ! उसपर करुणा करनेका सवाल कहाँ उठता है, बन्धु !

लेकिन तुम्हें क्या कहूँ ? मैं क्या कम हूँ ? मैंने खुद तुम्हारा खत पानेके बाद और उससे मिलनेके पहले क्या-क्या गहरे (?) विश्लेषण कर रखे थे उसके ? मैंने सोचा था कि तुमने और कुन्तलने उसे अपने घरमें बिल-कुल दुलारी पुतलीकी तरह, गुड़ियाकी तरह, रख छोड़ा था। वह बड़ी हुई, उसे यह बुरा लगने लगा कि वह गुड़ियाकी तरह मानी जाय, उसकी हर जिद पूरी हो जाय····आखिर उसे लोग अपने बराबर क्यों नहीं मानते—वयस्क क्यों नहीं मानते ? उसका सारा विद्रोह बस इसी बातको लेकर था····वयस्क होनेकी अनिवार्य प्रक्रिया थी यह ! सोचा था—बस, मैंने बातका मर्म जान लिया है, अब राह खोज लूँगा। मीनलको समझा लूँगा। तुमको समाधान बता दूँगा और फिर सब ठीक हो जायगा।

लेकिन अब मीनलको देखनेके बाद सोचता हूँ कि हो सकता है उस विश्लेषणमें एक-आध अंश सच्चाई हो—पर मीनलके जीवनकी पूरी सच्चाई इससे कहीं बड़ी है—बहुत बड़ी—उसके जाने कितने पहलू हैं····फिर सोचता रहा कि वह जिसे मैं अपना मौलिक विश्लेषण मानकर गर्वसे फूल उठा था—वह तो किसी पहलेके पढ़े हुए नाटक या कहानीका अवशेष था—जिसमें

किसी ऐसी ही गुड़िया मानी जानेवाली लड़कीका चित्रण था जो इसीलिए विद्रोह कर उठती है कि उसे वयस्क क्यों नहीं मानते लोग !

अब तुम मेरी कठिनाई समझ गये होगे ! मैं मीनलसे फिर मिलूँगा। पर एक बात और मुझे इधर लगने लगी है, जिसे पहले मैंने नहीं सोचा था। तुमसे तो एक बार खुलकर बात कर सकता हूँ···पर उससे ऐसे नाजुक मसलोंका संकेत देनेका साहस भी नहीं हो पाता फिर तब, जब वह इतना कुछ झेल चुकी है। और अन्ततोगत्वा मैं एक ग़ैर आदमी हूँ—उसके जीवन वृत्तसे सर्वथा बाहरी और अजनबी ! पता नहीं उसे जानकर भी, उससे नैकट्य स्थापित करके भी, उससे ये सब बातें कर पाऊँगा भी या नहीं ? फिर भी कोशिश करूँगा।

अभी तुम मत आओ ! मेरी सलाह नहीं हैं। मेरे बारेमें उसे तुम कुछ लिखो भी मत। अपने आप मिलने दो मुझे। तुम्हारा सन्दर्भ लेकर उससे मिलूँगा तो उसका मन तुरत एक रेखा खींच लेगा।

तुम्हारा—

शोभनकी एक सुबह

१२ अक्तूबर

अँधेरेमें लिपटे संगीतकी एक उनींदी लहर बाहर कहींसे कोहरेके साथ-साथ खिड़कीकी राह आई और बेडरूमके हल्के फ़िलदार अरण्डीके पर्दोंको छेड़ गयी। कुन्तलकी नींद उचटी पर पलकें मूँदे ही मूँदे उसने इस संगीतको अपने अलसाये तनमें घुलता-घुलता-सा अनुभव किया। अनजाने ही हाथ बढ़ाकर उसने बगलकी शय्यापर सोये शोभनकी बाहोंको, कन्धोंको, ओठोंको महसूस किया और फिर जैसे बच्चोंकी तरह आश्वस्त होकर सो गयी। झाँझ-मजीरोंका वह प्रभाती संगीत फिर सजी हुई डोलीकी तरह खिड़कीकी राह आया और कुन्तल वधूको बिठाकर ले गया—दूर, नींदके जादू देशमें···

शोभनने करवट ली, झाँझ-मजीरोंका यह प्रभाती संगीत जैसे उसके गलेमें, बाहोंमें, कमरमें, घुटनोंमें—गुलाब मालाओंकी तरह लिपटता जकड़ता प्रतीत हुआ—वह जैसे सचमुच गुलाब मालाओंके शीत सिहरते हुए स्पर्शसे थोड़ा ठिठुरने-सा लगा और उसने हल्का गर्म अलबान कसकर लपेट लिया—पर संगीत था कि गुलाबकी ठण्ढी सुवासित मालाओं-सा लिपटता ही जा रहा था—गहरे और गहरे····

सिहरकर शोभनने आँखें खोल दीं और अँधेरेमें चारों ओर देखा। कुछ नहीं था—सिवा एक सुखद अँधेरा और खिड़कीकी राहसे तारों जड़ा और भी मखमली अँधेरा कुण्डमें गिरते झरनेकी तरह कमरेमें झर रहा था, झर-झर !

सुबह होनेके जरा पहलेकी गहरी खामोशीमें ये दो बंगाली साधू रोज इसी तरह झाँझ-मजीरा बजाते—कभी-कभी एक-आध लाइनें अलापते इस सड़कपरसे पता नहीं किधर जाते थे। सड़कने शोभनके घरके पाससे घुमाव लिया था ओर शोभनको मालूम था कि अभी संगीत पूरबवाली खिड़कीसे आ रहा है। फिर मन्द पड़ जायेगा और फिर उत्तरवाली खिड़कीसे लहराता हुआ आयेगा और फिर धीरे-धीरे खो जायेगा····

शोभनने हाथ बढ़ाकर बेडलैम्पकी स्विच दबा दी और तकियेके सहारे उठंग कर बैठ गया। संगीत धीरे-धीरे कहीं दूर खोया जा रहा था लेकिन खिड़की फिर सूनी नहीं छूट गयी थी—बाहर खिले हरसिंगारकी खुशबूके गाढ़े तेज झोंके लहर-पर-लहर कमरेमें चले आ रहे थे। नीचे लानपर हरसिंगार बिछ गया होगा। अभी थोड़ी देरमें कुन्तल उठेगी, पाँवोंमें चप्पल डालेगी और हरसिंगारके फूल चुनेगी। आजकल ऊपरकी छतपर हरसिंगारके फूल सुखाये जाते हैं। क्या करेगी इनका कुन्तल ? ढेरके-ढेर फूल···· शोभनको सहसा लगा जैसे एक बहुत तरल-सी ममता मनकी अतल गहराइयोंसे पसीजने लगी है—इस कुन्तलके लिए, जो अपनी बड़ी-बड़ी बादामी पलकें मूँदे अचेत सो रही है, जिसकी एक लट उसके कन्धोंसे मुड़कर गलेमें

लिपट गयी है और जिसका एक हाथ अब भी शोभनकी सेजपर फैला हुआ है। नींदमें उसकी अधखुली अधमुँदी अँगुलियाँ मानो शोभनको मुक्त करके भी पकड़े हुए हैं''''मानो शोभनकी मुक्तताको ही ग्रहण किये हुए हैं! अचेत, आश्वस्त सो रही है कुन्तल और बेडलैम्पका हलका उजाला उसके माथेको सहलाता हुआ, कपोलोंपर फिसलता हुआ, वक्षोंके अन्तर्वर्ती गहराव-में सुनहली मछलियोंकी तरह तैरकर छिपता जा रहा है। दो क्षण शोभन-की निगाह हरसिंगारके गन्धजालमें उलझ कुन्तलके आलोकित सौन्दर्यपर टिकी रही। फिर कब जाने अनजाने झुककर उन्होंने कुन्तलका माथा चूम लिया, उसके ओठोंकी कोरें चूम लीं और कब धीरेसे उसकी अलकें सहला दीं यह उन्हें खुद नहीं मालूम। ऐसे क्षण कभी शोभनके सचेत क्षण नहीं होते थे''''बस बादमें शोभनको केवल इतना एहसास होता था कि मनपर एक अव्यक्त कठोरता, जो हिमशिलाकी भाँति जमकर बैठ गयी थी, उसका एक अंश और पिघल गया, उसकी एक पर्त और बह गयी! शोभनका मन हल्का महसूस करता था, भरा-भरा महसूस करता था, मृदुल महसूस करता था। समय, अव्यक्त अनुराग और साथ-साथ जिया जीवन—पिछले घावोंको अनजाने भरता चलता है, पता नहीं कहाँ घुलती जाती है सारी कटुता—और भूलते जाते हैं वे सारे जहरीले क्षण! याद सिर्फ़ इतना रहता है कि जब सब बाजी पर लगा था, जब एक झटकेमें शोभन सम्बन्धोंकी यह डोर तोड़ सकते थे तब भी कौन-सा वह अज्ञात बन्धन था जिसने सब टूट जानेपर भी गहराईमें कुछ ऐसा रक्खा कि जो अटूट था''''सब नष्ट हो जानेपर भी कहीं वह बचा रहा और धीरे-धीरे वह फिर अँकुआया और लतर-सा फैलने लगा''''और अब तो ऐसा है कि शोभन कोशिश करते हैं उन दिनों-को याद करनेकी, जब उनके रोम-रोममें एक तीखी कटुता हर समय कचोटा करती थी—तो वे उन दिनोंको चाहे याद कर लें, पर उस अनु-भूतिको फिर दोहरा नहीं पाते थे—यहाँ तक कि अब कभी वे गुप्ताके

बारेमें भी सोचें तो उनका मन कड़ुवाता नहीं था—सिर्फ़ एक मुसकान उनके चेहरेपर आ जाती थी, जो शायद एक विजेताकी मुसकान थी। शोभनने चुप रहकर विजय पायी थी—वे भली-भाँति जानते थे कि गुप्ताने कुन्तल-से मीनल तकका अपमान कराकर अपनी कुण्ठाओंकी परितृप्ति की थी—गुप्ताको ऐसा लगा होगा कि उसने इस परिवारका एक-एक रेशा बिखरा दिया—पर शोभन चुप रहे केवल चुप—और उनकी वह चुप्पी धीरे-धीरे जीतती गयी, जीतती गयी, अन्तमें फैलती हुई दूबकी तरह उसने सारे जीवनके फैलावको ढँक लिया, पोर-पोर चप्पा-चप्पा....यह अजीब, शान्त, मौन युद्ध था....और इसमें उनकी जीत हुई थी।

....यही नहीं, शोभन यह भी जानते थे कि अब कुन्तल और उनके आपसी प्यारकी एक नयी परत खुल गयी थी जो पहले कभी नहीं खुल पाई थी, जिसमें दया-भाव, या कृतज्ञता भाव उतना नहीं था—जितनी सम-कक्षता थी, नैकट्य था, अन्तरंगता थी। कुन्तल पहले चाहे रंगीचुंगी, प्यारी-सी गुड़िया रही हो—पर एक गहरे पापने, खतरनाक गलतीने, कहीं उसे विवश किया था अपनेको पहचाननेको, वास्तविकताको जाननेको और यह जाननेको कि शोभनकी लम्बी बाहोंका दायरा कितना बड़ा है और उनका कसाव कितना मजबूत—और उनके चुप रहनेवाले मनकी गहराई कितनी अथाह है....(सच तो यह था कि उस गहरे पापकी मर्मान्तक वेदनाने अकस्मात् एक रँगीचुँगी गुड़ियामें-से एक सजीव नारीको उभार दिया था....जो शोभनके प्यारकी सूक्ष्म संवेदनाओंको समझ सकती थी—उसके फैलावको, उसके घेरेको, उसकी दिशाओंको और उसके अर्थको....)

....और जब कभी ऐसे क्षण आते थे तो अकस्मात् शोभनको यह अनुभव होता था कि चारों ओर उन दोनोंको लपेटे रहनेवाला अतीत, उसकी प्रतीतियाँ, उसमें उत्पन्न अवधारणाएँ, उनके तन और मनपर छूटी हुई उसकी सब छापें घुल गयी हैं और रह गयी है कुन्तल-शोभनको घेरे हुए केवल एक प्रगाढ़ता, एक गहरी प्रगाढ़ता जिसका हर रेशा अटूट है—

कालातीत—दिशातीत····अदृश्य, मगर एक-एक रोमको मन्त्रोंकी तरह कसे हुए····

बेडलैम्पसे रोशनीका एक खुशनुमा झरना गिर रहा था और लहरोंमें तैरते हुए फूलोंसे कुन्तलके ओठ धीरे-धीरे काँपने लगे। उसकी बड़ी-बड़ी बन्द पलकोंके अन्दर ज़रूर कोई सपना झलक रहा था, मगर क्या, यह समझना कठिन था। शोभनके मनमें उमड़ती हुई तरल ममता अपनी सौ-सौ बाहें पसारकर कुन्तलको इस समय डुबो देनेके लिए सक्रिय हो उठी—इधर जाने कबसे कुन्तल इतनी सुन्दर, इतनी अपनी, इतनी मधुर नहीं लगी थी जितनी इस समय!

शोभनके कसावमें कुनमुना कर कुन्तलने आँखें खोलीं और हलके टुनकते स्वरमें बोली—"जाओ! तुमने जगा क्यों दिया? मैं बहुत अच्छा सपना देख रही थी!"

"क्या?" शोभनने पूछा—पर स्वरका अर्थ था, इस समय मैं कुछ और नहीं सुनना चाहता हूँ!

"सुनो! सुबहके सपने सच होते हैं न?" कुन्तलने पूछा, फिर एक क्षण चुप रहकर धीरेसे, बहुत मधुराकर बोली—"मीनल दी अब लौट आयेंगी! मैंने सपना देखा है कि हरसिंगारके डण्ठलोंको सुखाकर, भिगोकर मैंने एक साड़ी रँगी है गोटेदार, और मीनल दीने पहनी है और तुम्हें प्रणाम करने आयी हैं और उनके माथेपर एक बड़ा-सा टीका है, जगरमगर करता हुआ····"

और वाक्य कहते-कहते कुन्तलने अपनी पलकें उठाकर शोभनकी ओर देखा····लेकिन यह क्या? उसे पता ही नहीं चला कि कब शोभनने उसके कण्ठसे अपनी बाहें हटा ली थीं, कब वह उससे परे हटकर, अपनी शय्यापर दीवारसे टिककर बैठ गये थे—उनका चोट खाया हुआ-सा मन उनके माथेकी हलकी रेखाओं और उनके पलकोंके उदास झुकावमें बोलता हुआ भी चुप था। औचक छू जानेपर छुईमुईकी पत्ती-सा उनका मन सम्पूर्णतः

अपनेमें सिमट गया था और उनके ओठोंपर, भौहोंपर, पलकोंपर एक गहरी वेदनाकी छाया उमड़ आयी थी ! अभी-अभी कुन्तलमें एक-एक बूँद घुला-मिला हुआ उनका मन और तन एक क्षणमें जाने कहाँ चला गया था—जाने कितनी दूर····

कुन्तल उठी और आकर बगलमें चुप-चाप बैठ गयी। वह जानती थी ! यही एक चोट थी जिसकी टीस अभी भी बाक़ी थी। वह जानती थी कि उन दोनोंके बीचका तन्मयसे तन्मय क्षण मीनल दीके बिना अधूरा था। और वह यह भी जानती थी कि यद्यपि शोभन उसे दोष नहीं देते फिर भी कुन्तलका मन हर क्षण कहीं किसी स्तरपर उसे कचोटता रहता था। उसने आहिस्ता शोभनके घुटनेपर अपनी हथेली रख दी। शोभनने कुछ नहीं कहा—सिर्फ़ एक गहरी साँस ली और उसकी हथेलीको अपनी दोनों हथेलियोंके बीच रख लिया। वह इस भाषाको अब समझ गयी थी। "नहीं कुन्तल····मैं तुम्हें दोष नहीं देता, ईश्वर जानता है मैं तुम्हें दोष नहीं देता····फिर भी यह चोट मनको कुरेदती तो है ही ! नहीं, यह नहीं कहता कि तुम्हारा मन इससे मुक्त है····यह चोट वहाँ भी उतनी ही गहरी है···· पर क्या करें यह चोट मुझे बेकल कर देती है····तुमसे, अपनेसे, सबसे दूर ले जाती है····तुम समझ रही हो न ?" यही कहकर चुप हो जाता था शोभनका स्पर्श !

कुन्तल चुप थी, पर क्या समझ नहीं रही थी ? उस घटनाके बाद एक-एक दिन, एक-एक पहर, एक-एक घड़ी, एक-एक पल उसने और समझा ही क्या था ? वह क्या जानती नहीं थी कि मीनल ही है जो उन दोनोंके बीचका प्यार है ! केवल यह नहीं कि इस बार अपने सारे दुख-दर्दको अकेली झेलती हुई भी मीनलने अपने सारे प्यारकी बाज़ी लगाकर शोभनको कुन्तलके पास लौटनेको विवश किया····इन बातोंके लिए अधिकसे अधिक कुन्तल कृतज्ञ हो सकती थी पर कृतज्ञताका भाव बहुत नाकाफ़ी, बल्कि नीचे स्तरका था। वह जानती थी कि उसके और शोभनके प्यारमेंसे मीनलने

कुछ नहीं लिया है, सिर्फ़ निःशेष भावसे अपनेको दिया है। उन दोनोंके प्यारमें अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्वका रस दिया है, देती गयी है, देती गयी है यहाँतक कि लगने लगा कि उन दोनोंके बीचके गहरेसे-गहरे प्यारका जो क्षण मीनल नहीं बँटाती वह अधूरा छूट जाता है।

इसीलिए कहीं न कहीं वह यह जानती है कि इस घरमें जबतक मीनल नहीं लौटती तबतक प्यार, सुख, शान्ति सब लौटकर भी नहीं लौटेगा—वह दूसरेको क्या कहे, वह खुद जानती है कि शोभनके पास लौटकर भी नहीं लौट पायी है वह। शोभनको पूर्णतया अपनेको देकर भी बिना दी हुई छूट गयी है और हरसिंगारके गन्धजालसे बसा हुआ यह सजा शयन-कक्ष, यह खिड़कीसे झरता सुबहका कोहरा भरा हल्का उजाला, यह उसका गदराया अलसाया तन और यह शोभनका चोट खाया हुआ मन''''सब इस क्षण अधूरे हैं''''अधूरे''''

कुछ क्षण वह भी खिड़कीके बाहर घुमाव लेती सड़कको देखती रही जिसपर इक्का-दुक्का दूधवालोंकी साइकिलें या भटकती गायें दीखने लगी थीं—फिर वह शोभनके कन्धेसे टिककर बोली—"अब मीनल लौट आयेगी। मैंने आज सुबह-सुबह सपना देखा है!"

शोभन अबतक उस चोट खायी उदासीसे उबर चुका था। मुसकरा कर एक क्षण कुन्तलकी ओर देखता रहा—पगली लड़की—जाने उसे बहला रही है या अपनेको?—फिर बहुत मृदुल स्वरमें बोला—"क्यों नहीं लौटेगी?" फिर क्षण भर चुप रहकर गहरी साँस ली। "अच्छा हुआ भटक ली! हम तीनों अधिक पक गये। अब शायद कोई नहीं अलगा सकेगा!"

कुन्तलको अच्छा लगा। बहुत अच्छा लगा। उसके शोभनमें कितने दिनों बाद यह स्वर लौटा है। कितने दिनों बाद उसने कुन्तलके मनकी बात कही है''''बच्चोंकी तरह उत्साहित होकर बोली—"तुम्हारे लेखक दोस्तका पत्र तो आया है! मेरा ख़याल है वे मीनलको भिजवा देंगे!"

"अरे उनके किये कुछ न होगा!" शोभनके ओठोंपर एक हल्की व्यंग्यपूर्ण मुसकान फैल गयी....

"क्यों?"—कुन्तलने आग्रहसे पूछा। (उसे उनके ख़त अच्छे लगे थे। ख़ास तौरसे वह घटना कि कैसे वे डान क्विक्ज़ोटकी तरह मीनलसे मिलने गये और हवाचक्कीके एक ही डैनेसे पिटकर चले आये। आदमी सीधे लगते थे—कुन्तलकी शब्दावलीमें 'बुद्धू!')

सुबह हो गयी थी। शोभनने बेडलैम्प बुझा दिया और बोले—"लगता है ये सब लेखक लोग पहले तो ज़िन्दगीको ज़िन्दगीके तौरपर जीते हैं तब तक इनकी दृष्टि साफ़ रहती है; फिर कुछ दिन बाद ज़िन्दगीकी गहरीसे गहरी चीजको भोगे बिना ही उसे कहानी, कविताका कच्चा माल समझ बटोरने लगते हैं। अब क्या तुम समझती हो कि मीनलको इन्होंने समझा है?"

कुन्तल कुछ नहीं बोली। शोभनकी बातको काटना नहीं चाहती थी पर वह क्या करे, उसे उनके ख़त मज़ेदार लगे थे! फिर भी बोली—"हाँऽआ, समझा तो नहीं कुछ ख़ास। लेकिन देखो...."

"हाँ—देखो! कुछ कहा नहीं जा सकता। वैसे मीनलसे मिलेगा तो कुछ न कुछ तो मन मोड़ेगा ही उसका! कभी-कभी सोचता हूँ क्यों न हम दोनों चलें!"

"तो चलो न!" कुन्तल बेहद उत्साहमें भर गयी।

"हाँ, पर अभी नहीं। अभी उसका वक़्त नहीं आया...." और शोभन फिर गम्भीर होकर खिड़कीके बाहर देखने लगे।

पूरबमें एक उजराई फूटने लगी थी और नीलकण्ठका एक जोड़ा पेड़की डालसे कभी नीचे उतर आता, कभी सड़कसे उड़कर तारके खम्भेपर जा बैठता—हरसिंगारका पेड़ तो नज़र नहीं आ रहा था पर उसकी एक झूमती डाली खिड़कीके चौखटेको सजीव बना रही थी। शोभन अभीतक एक

बातका हल नहीं ढूँढ़ पाया था—मैटर्निटी होमसे अकेली लौटी हुई मीनलने वहाँ क्या-क्या खोया है, क्या पाया है? इतना तो उसे अच्छी तरह मालूम था कि जो हुआ वह अच्छा हुआ! वह यह भी जानता था कि यह दर्द भोगकर मीनल बड़ी हो गयी है—बल्कि उसके व्यक्तित्वमें एक बड़प्पन था जो चारों ओरसे घुटा हुआ था—शोभनके प्रति उसके विद्रोह और रोहितके प्रति उसके अदम्य आकर्षणमें उस बड़प्पनने झलक मारनेकी कोशिश की थी पर शोभन यह सोचकर कुण्ठित हो जाता था कि मीनलने अपने इतने बड़े प्यारको जिस पात्रमें प्रतिष्ठित करना चाहा वह पात्र छोटा था, उसने उसे छलका दिया, गिरा दिया—धूलमें मिला दिया—शोभनको इसकी कसक थी। उसे घमण्ड था मीनलके अदम्य तेजपर—आख़िर वह उसकी सहोदर थी—एक ही रक्त दोनोंकी नसोंमें बहता था—वह बड़ी है तो शोभन भी उसके बड़प्पनका भागीदार है—पर वह भटकी इतने दिन—इस दुखका भी तो भागीदार है—लेकिन दुख क्यों? यह भी एक मंज़िल थी—मीनल उसे शानसे पार कर गयी और उसका अतिक्रमण कर उस सारे दर्द, भटकन, टूटन और दिग्भ्रमसे बड़ी साबित हुई····शोभन केवल इतना चाहता था कि यह सब उसके मनपर कोई कुण्ठा, कोई कटुता, कोई अवसाद न छोड़ जाय। उसके मनमे आशीर्वाद उपजता था कि मीनल इस परीक्षासे बहुत बड़ी होकर निकले। रोहितको भी अब न मोहमें बढ़ाकर देखे न कटुतामें घटाकर—उसे बस उसके ब्यौंत भरका माने, जितना वह है बस उतना ही। उतना ही होना उसकी मजबूरी है, और बस धीरे-धीरे उसे सहज भावसे अतीतको भूल जाय आगेकी ओर देखे। ज़िन्दगी बहुत बड़ी है, मीनलके बड़प्पनकी पात्र—मीनल द्वारा जिये जाने योग्य—मीनल भरीपूरी ज़िन्दगी जिये। भरीपूरीसे शोभनका अभिप्राय वह नहीं था जो साधारण अर्थमें भरीपूरीका अभिप्राय होता है। भरोपूरीसे उसका अभिप्राय कुछ और था—जीकर अपने चरम अर्थोंको पाकर भरी-भरी अनुभव करना। यह राह असाधारण है पर शोभनकी

मिनी ही उसपर चल सकती है। वह जो मनको भी जी चुकी है और तन को भी और फिर भी जो मनसे अछूती छूट गयी है और तनसे भी !

और वह इतना डूबा हुआ था कि उसे पता ही नहीं चला कि कुन्तल की दोनों हथेलियोंने अपनी अंजलिमें सहेजकर कब धीरे-धीरे उसका चेहरा पूरबकी खिड़कीकी ओर घुमा दिया जिधर आमके झुरमुटके ऊपर बालारुण का सिंदूरी वृत्त उग आया था। "हाय ! बिल्कुल ऐसा ही था सपनेमें मीनल दीदीका टीका—बड़ा-सा, जगर-मगर !" कुन्तलने कहा। शोभनने कुछ कहा नहीं, हाथ भी नहीं उठाये, माथा भी नहीं नवाया—सिर्फ़ ज़रा पलकें झुकाकर पलकोंसे प्रणाम किया—उसे जो सूर्य है, जो हर रातके बादकी सुबह है, जो हर अन्तके बादका आरम्भ है !

दो डायरियाँ

लेखककी नोटबुक

अजब बात है ! जब-जब मैं मीनलसे मिलता हूँ कुछ-न-कुछ ऐसा घटित होता है जो मेरे लिए बिल्कुल नया-नया-सा लगता है। पिछली बार मिला तब भी ऐसा ही हुआ, आज भी यही हुआ। मैंने शोभनको लिखा था कि तुम उसे मत बताना कि मैं तुम्हारा मित्र हूँ और क्यों मिल रहा हूँ उससे—पर आज जब लाउंजमें उससे भेंट हुई तो मैंने पहली बात ही यह की कि शोभन मेरे मित्र हैं और मैं उससे क्यों मिलने आया हूँ। या तो केवल यही कारण था कि और भला मैं बात ही कैसे शुरू करता—या फिर उस दुबली-पतली लड़कीमें ज़रूर कुछ अजीब-सी बात है कि उसके सामने आदमी बिल्कुल निरस्त्र अनुभव करने लगता है, उसके सामने व्यक्तित्वपर ओढ़े हुए कवच उतरने लगते हैं। पर उससे भी अजब यह है कि उसके सामने आपको यह लगने लगता है कि आप चाहे उसे घृणा दें, या सहानुभूति दें, स्नेह देने जायँ, चाहे प्रशंसा देने जायँ—वह कुछ नहीं कहती—न 'हाँ', न 'ना', केवल आपको यह अनुभव होने लगता है

कि आप, आपकी घृणा, आपका स्नेह सब कुछ उसके लिए नितान्त मूल्यहीन है—आप दें या न दें—वह अपनेमें एक सम्पूर्ण वृत्तकी तरह जी रही है।

ऐसे व्यक्तिका क्या किया जाय? उससे आप मिल ही नहीं सकते क्योंकि वह अपने मनको वज्र-कपाटोंसे रक्षित दुर्गकी तरह बन्द रखता है। ऐसे व्यक्तिसे आप उदासीन भी नहीं रह सकते क्योंकि आप अनुभव करते हैं कि अपमानित योद्धाकी भाँति आप उसके द्वारसे निरस्त्र होकर लौटे हैं। पर आप प्रतिशोध भी नहीं अनुभव कर सकते क्योंकि उसने निरस्त्र करके आपको ज्यों-का-त्यों लौटा दिया है। आपके राज्यका एक कण भी नहीं छुआ।

आज मैं समझ पा रहा हूँ कि पिछली बार मैंने मीनलसे मिलकर यह क्यों अनुभव किया कि मैं बीस बरस और बूढ़ा हो गया हूँ। हुआ यह था कि इतने दिनोंसे मैंने अपनी ज़िन्दगीको चारों ओरसे बन्द कर रक्खा था ताकि उसमें जो कुछ है वह बदले नहीं, ज्योंका-त्यों सुरक्षित रहे। मिस्र के पिरामिडके तहखानोंकी तरह उसमें सब जड़ हो चुका था, एक स्थान पर आकर ठहर गया था। उस दिन अकस्मात् यह लगा कि जैसे हज़ारों सालोंसे ठहरा हुआ वक्तका बहाव, बाँध तोड़कर मनके तहख़ानोंमें बैठ गया है और हर चीज़को छूता हुआ चला गया और हर चीज़पर झुर्रियाँ पड़ गयीं, हर चीज़पर सफ़ेदी छाने लगी।

लेकिन अब पता नहीं क्यों उसी अनुभूतिका दूसरा पहलू उभरने लगा है। मैंने बार-बार यह पढ़ा था कि लेखक कहीं न कहीं दूसरे व्यक्तित्वोंसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है, अपनेको पीछे छोड़कर उन्हींकी ज़िन्दगी जीता है—वह वही बन जाता है!

मैंने यह सब पढ़ा था, महसूस नहीं किया था। पहली बार मुझे यह अनुभव हुआ है जैसे किसीने मेरे शरीर-मन-आत्मासे मुझे हटा दिया है। मैं जानता हूँ उस एक क्षणमें मुझे ऐसा लगा जैसे मीनलने जो कुछ जिया

है, वह सब मुझमेंसे बिजलीकी लहरकी तरह गुज़र रहा है—उसकी पीड़ा, उसकी भटकन, उसका अवसाद और उसकी ताक़त भी !

अनुभूति सचमुच नयी है मेरे लिए। अभी तक जो घटनाएँ घटीं, जो लोग आये—ऐसा लगा कि ये कहीं न कहीं लिखनेकी सामग्री हैं, उपकरण हैं—इनमेसे तत्त्व लेकर लिखा जा सकेगा। पहली बार—बिल्कुल पहली बार—यह लग रहा है कि यह ऐसी अनुभूति है, ऐसा स्तर है, जिसमें लिखना खुद अपनी सार्थकता पाने लगता है—ऐसा ही कुछ है जो मात्र उपकरण नहीं, जो लिखनेका चरम अर्थ है !

वस्तुतः क्या लग रहा है ठीक-ठीक, अभी वह न मनके आगे खुल पा रहा है, न शब्दोंमें ! ऐसा क्यों लग रहा है यह बात तो बिल्कुल ही नहीं समझ पाता मैं !

मैंने सब बातें बता दीं मीनलको। मैंने अपने तीनों ख़तोंमें शोभनको क्या लिखा है ? बरवेने क्या-क्या कहा ? मैंने कैसा बचकाना विश्लेषण किया था मीनलका ! और देखो तो मेरा जैसा Self conscious आदमी पता नहीं क्यों उससे इतनी देर ऐसे निस्संकोच बातें करता रहा गोया वह मेरा कोई बहुत पुराना मित्र हो। लाउंजके पाससे आने-जानेवाले तमाम लोग हमें कुतूहलसे देख रहे थे।

लेकिन···

और यह 'लेकिन' महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह मेरी बातें चुपचाप सुनती रही केवल एक मुसकान उसके चेहरेपर थी और चलते समय उसने अपनी हर भाव-भंगिमासे जता दिया कि यह मैत्री भाव यदि मैं रखना ही चाहूँ तो रक्खूँ—पर इसका उसके लिए कोई न अर्थ है, न उपयोग। मेरे लिए हो तो हो !

और उससे भी दिलचस्प यह है कि मेरा वहाँ जाना ही उसने व्यर्थ सिद्ध कर दिया क्योंकि जब मैंने यह कहा कि उसे शोभन-कुन्तलके पास

अब जाना चाहिए—तो उसने बिलकुल प्रतिकार नहीं किया, उसी सहज भावसे बोली—"जाऊँगी !"

अब मैं क्या करता। अस्वीकार करती तो मैं समझाता। स्वीकार करके उसने चुप कर दिया। फिर भी मैंने पूछा—"कब ?" तो बोली—"जब गये बिना नहीं रह पाऊँगी !"

उसके बाद मेरा वश ही क्या था, सिवा इसके कि अपनेको नितान्त निरर्थक अनुभव कर चला आऊँ।

चरम सार्थकता और चरम निरर्थकताका ऐसा घुला-मिला आस्वादन क्या कभी किसीने किया होगा ?

मीनलकी डायरी

१२ अक्टूबर, प्रातः ३ बजे

आज मैं रोयी क्यों ? आह मेरी कुन्तलिया ! मेरे शोभन दा ! यह आज मुझे क्या हुआ ? तुम दोनों तो जानते हो कि तुम्हारी मिनीपर पहाड़ टूट गिरे उसे आँसू नहीं आते—क्या-क्या मुझपर नहीं बीता, पर मुझे आँसू नहीं आये—पर आज तुम दोनों कल्पना नहीं कर सकते कि मैं किस तरह रोयी हूँ। सिसक-सिसक कर, फूट-फूटकर, खुलकर रोयी हूँ और कब पलकें कड़ुआ कर मुँद गयीं मुझे याद नहीं—इस समय सुबह तीन बजे आँख खुली है और जाने क्यों बहुत दिन बाद डायरी लिखने बैठी हूँ।

मैं रोयी क्यों, सच मैं नहीं जानती—सिर्फ इतना जानती हूँ कि कबसे यह जड़, बँधा हुआ मन खुलने-खुलनेको हो रहा था पर खुल नहीं पाता था। आज सब कुछ खुला-खुला, निखरा-धुला, साफ-सुथरा क्यों लग रहा है ? लग रहा है जैसे कोई शाप हो उसकी अवधि कट गयी हो····

पर हुआ क्या ? ऐसा कुछ खास तो हुआ नहीं !

शोभन दा, तुम बताओ। यह जरूर कुछ तुम्हारा किया धरा है ? कुन्तल मेरी, तू बता ? तूने वहाँसे कुछ जादू किया है ? क्या तुम दोनों

मुझे बहुत आतुर होकर बुला रहे हो ? क्या तुम दोनोंने बहुत आशीर्वादोंसे लाद दिया है मुझे इस बेला ?

नहीं शोभन दा, तुम सच कहते थे। कुछ होता है जो इस मनमें एक बार धार लिया जाय तो मरता नहीं, जड़ नहीं होता। मैं हारी हुई हूँ इस समय तुम दोनोंके आगे, और यह हारना कितना अच्छा लग रहा है ! मैंने कितने दिनोंसे अपने मनको जड़ बना लिया था—बिलकुल पत्थर, जिसमें भावनाएँ और कल्पनाएँ तो दूर, ऐसा लगता था जिसमें समय और उम्र तक जमकर कठोर चट्टान हो चुकी है। उसमें एक बीज भी भविष्यका सजीव नहीं बचा, उसमें एक दाना भी संवेदनाका जिन्दा नहीं बचा, मैंने अतीतको जड़ कर दिया है, वर्तमानको निरर्थक, भविष्यको असम्भव !

इसीलिए न शोभन दा, मुझपरसे इतनी बड़ी-बड़ी बातें गुज़रती गयीं जैसे ग्रेनाइट शिलापरसे खूँख़ार पहाड़ी नदियाँ गुज़र जायँ····बिना उसे टससे मस किये। पर आज यह क्या हुआ है शोभन दा, कि मैं अपनेको सार्थक लगने लगी हूँ। लग रहा है जो कुछ हुआ वह तो तैयारी थी····ज़िन्दगी अब शुरू होती है। अब तक बिना किसी बातके अर्थ जाने उसमें भटकती घूमती थी और उसे ज़िन्दगी कहती थी—और अब ?

ऐसा तो कभी नहीं जाना था शोभन दा !

१२ अक्टूबर, रात ८ बजे

····इतना लिख पायी थी कि फिर नींद आ गयी और सो गयीं। कितनी गहरी नींद सोयी हूँ आज। उठी तो ९ बज गये थे। तैयार होकर इन्स्टीट्यूट गयी। बहुत सादी थी, रोज़की तरह। लेकिन पता नहीं क्यों, मिसेज़ अवस्थीने कहा—"आज 'मार्वेलस' लग रही हैं मिस मेहता !" कुछ तो नहीं था—सिर्फ़ इतना था कुन्तल, कि आज बहुत दिन बाद तेरी दी हुई ज़री किनारकी सूती साड़ी पहनी थी और तेरे दिये हुए पीले गोरोचनका टीका लगा लिया था। बुरा नहीं लगा मिसेज़ अवस्थीका कहना। रीडिंग

रूम जाते हुए एक बड़ेसे दरवाज़ेके चमकते शीशोंमें अपनी बेंदी सजी देहयष्टि अपनेको ही अच्छी लग रही थी—और बाबा रे, आज बेचारी इन्दु क्या सोचती होगी ! उसने तो मात्र शिष्टतावश मुझसे कहा अपने टिफिनमें शामिल होनेको और मैं खाती ही चली गयी। कुन्तल, तुम कितनी खुश होगी यह जानकर कि आज मैंने खूब खाया। और देखो तो ! लौटते समय सड़कपर गुनगुना रही थी।

अभी शाम भर अपने बोर्डिङ्ग हाउसके छज्जेपर टहलती रही। कैसी छोटी-छोटी बातें मनको खुशनुमा लग रही थीं। उधर एक पोखर है। उसके किनारेसे एक सड़क जाती है और दो तरफ़ मकानोंके पिछवाड़े। चार गायें सड़कसे उतर आयीं, और पानी पीने लगीं एक कतारमें। फिर चार और आयीं, फिर आठ-दस आयीं और लो देखते-देखते पचास-साठ गायें एक कतारमें पोखरके किनारे-किनारे फैल गयीं। उधर डूबते सूरजकी ललाई छाया जल और इधर भोली-भाली गायें पानी पीतीं और मुँह उठा-उठाकर डबर-डबर आँखोंसे एक दूसरेकी ओर देखती हुई।

कुछ नहीं था इनमें—पर बहुत भला लगा मनको—बहुत आसरा-सा बँधा, खुशी-सी हुई—क्यों ?

असलमें हुआ यह कि कल तुम्हारे दोस्त जब तक बैठे लाउंजमें बातें करते रहे तब तक तो कुछ नहीं लगा''''पर उनके जाते ही उठी तो पाया कि मेरी आँखें भरी-भरी हुई हैं और अन्दरसे अनजाने कहीं कोई चीज़ छू गयी है, छूकर मुझे अन्दरसे बदली-बदली हुई-सी कर गयी है''''

मैं एक शब्द पढ़ती थी—"अन्दरसे मुक्त होते जाना"—अब लगता है, जबतक बैठी बातें सुनती रही तबतक अन्दर ही अन्दर कुछ था जो घुलता हुआ मुझे अन्दरसे मुक्त करता जा रहा था। वह क्या था ?

क्या था इसका आभास तो हो रहा है मुझे, पर मेरे पास इतने शब्द नहीं कि उसको ठीक-ठीक बता सकूँ। फिर भी कोशिश करूँगी इस अनु-

भवको लिखनेकी····ज़रूरी है वह! बातें शुरू हुई और जब उन्होंने बताया कि वे तुम्हारे दोस्त हैं और सब जानते हैं तो पहले मैं कुछ सकुचायी—पर मैंने पाया कि वे जो कुछ बता रहे हैं कुछ इतने निर्लिप्त भावसे, कुछ ऐसे अलग-अलग भावसे, गोया वह कोई और मीनल है जिसके बारेमें उन्होंने शोभनदाको पत्र लिखे हैं; और थोड़ी देर बाद सच मुझे यह लगने लगा कि यह जो मैं उनके सामने बैठी हुई हूँ—मैं मीनल नहीं हूँ····वे बातें करते गये, करते गये और यह प्रभाव और भी गहरा होने लगा मुझपर कि वे मुझसे नहीं, अपने आपसे बातें कर रहे हैं। मैं तो एक व्याजमात्र हूँ····और थोड़ी देरमें यह लगने लगा जैसे मैं हूँ ही नहीं····केवल वे हैं और वे हैं कि खुलते जा रहे हैं परत-दर-परत और उनकी बातें हैं कि मानो अदृश्य अंगुलियाँ हैं जो उन्हींके अन्तरतममें पैठकर उनके मनको गाँठ-दर-गाँठ खोलती जा रही हैं····और फिर ऐसा लगा जैसे वे भी नहीं हैं, सिर्फ़ एक खुलाव है····निर्बन्ध, निस्सीम····

यह नहीं कि उस समय बिलकुल ऐसा ही लग रहा था। नहीं, उस समय किसी ऊपरी स्तरपर उनकी बातोंके शब्दार्थको भी ग्रहण कर रही थी, एक-आधका समझे-बे-समझे उत्तर भी दे रही थी, पर अन्दर कहीं यह सब कुछ नहीं था केवल मौन कहीं कुछ था जो उनके मनके खुलावको देख रहा था, ग्रहण कर रहा था और उसीकी लयपर खुद-ब-खुद अपनेमें खुलता जा रहा था····और जब वे चले गये, तभी मैं जान पायी कि कुछ जो मुझमें पत्थरकी तरह जमा था, पिघल गया है, कुछ जो गाँठकी तरह बँधा था, खुल गया है, कुछ जो किसी मुद्रामें जड़ काष्ठवत् होकर रुक गया था अकस्मात् गतिवान हो गया है, उसमें ज़िन्दगी आ गयी है और जैसा शोभन दा कहते हैं "वह अर्थ पाने लगा है।"

उन्होंने कुछ नहीं कहा था मुझसे, शायद जानते भी नहीं थे—केवल अपनेमें वे खुल रहे थे, मुक्त हो रहे थे और मुझमें उनके अनजाने, अपने भी अनजाने, वही प्रक्रिया जाग गयी थी।

मैं उठी तो लगा जैसे मेरे मनपर एक अपराधका दाग़ था जो पुँछ गया, एक शाप था जो कट गया, एक छाया थी जो हट गयी।

वे उठे और जाने लगे तो मुझे ऐसा लगा कि वे बाहर नहीं जा रहे हैं। वे अपनेमें ही पैठ रहे हैं, गहरे और गहरे—मैं तो मात्र प्रासंगिक थी।

मैं जो जड़ थी—मैंने अपनेको पाया कि मैं मुक्त हूँ; पर यह अब सोच पा रही हूँ—चौबीस घण्टे बाद। उस समय पता नहीं क्यों अन्दरसे बेहद भर आयी और ख़ूब फूट-फूटकर रोयी। और दिनभर खिली रही—धूपकी तरह—हल्की ख़ुशनुमा!

शोभन दा, कुन्तल मेरी, आशीर्वाद दो अपनी मिनीको कि मृत्युकी सीमापर पहुँचकर भी उसने जीवनको चुना, जड़ताकी सीमापर पहुँचकर भी उसने मुक्तिको वरा''''गर्व करना तुम दोनों कि मैं पराजित नहीं हुई—तुम्हारा अभिमान झूठा नहीं पड़ा—मैं बहुत ख़ुश हूँ, मेरे अपने दोनों!

२३ अक्तूबर

दस दिन पहले जड़तासे मुक्त हो सौ-सौ हिल्लोलोंमें बह निकलनेवाली उच्छल नदिया मीनल अब थिरा गयी है, शान्त हो आयी है—विश्वास करो शोभन दा—

मैं जानती हूँ शोभन दा, कि तुम अविश्वास नहीं करते, पर कहीं-न-कहीं मनमें चिन्तित रहते हो''''जो कुछ हो चुका है उसके बाद यह स्वाभाविक भी है—पर अब तुम्हीं देखो तो कि तुम्हारी मीनलका मन पका हुआ, थिर न हो गया होता तो कलवाली बातको यों सह जाती!

तुम दोनोंको वहाँ बैठे-बैठे क्या मालूम कि कल यहाँ क्या हुआ? रीडिंग रूममें कौन-कौन-सी पत्रिकाएँ मँगायी जायँ इसे चुननेका भार मुझे सौंपा गया। मैं उलट-पलटकर नमूनेकी तमाम पत्रिकाएँ देख रही थी। एक पत्रिका थी Our land, निर्माण योजनाओंपर एक अर्द्धसरकारी पत्रिका। उसमें एक लेख था Land facing snows. दो-एक लाइनें पढ़

कर पता चला कि कुमायूँमें कत्यूरकी घाटीमें बहुत-सी ज़मीन सरकारने पुराने राजनीतिक कार्यकर्ताओं और पेन्शनरोंको दी है ताकि वहाँ वे नये तरीक़े से खेती करें। बीचमें एक दिन तुम्हारे लेखक मित्रने कत्यूरकी घाटी और कौसानी बैजनाथका जिक्र इतना किया था कि मैं उसे पढ़ने लगी। लेख एक ही पृष्ठका था। दूसरे पृष्ठपर एक पूरे पृष्ठकी तस्वीर छपी थी''''जानते हो उसमें क्या था? एक नये क़िस्मका फावड़ा लिये रोहित क्यारी बना रहा था और श्यामली खुरपीसे उसे ठीक कर रही थी''''पीछे एक बहुत बड़ासा शिखर था—मौन शान्त!

चित्रके पीछेवाले पृष्ठपर परिचयात्मक पंक्तियोंमें मालूम हुआ कि पुराने आतंकवादी हरीन्द्र भाई और पेन्शन तथा मेडल-प्राप्त अफसर रोहित रायको यहाँ ज़मीनें दी गयी थीं। हरीन्द्रके देहान्तके बाद भूतपूर्व श्रीमती हरीन्द्र और रोहित राय मिलकर उस बड़े भूमि भागमें केसरकी खेती करने-का प्रयोग कर रहे हैं!

मैं तुम दोनोंको क्या बताऊँ? एक बार ऐसा लगा—ऐसा लगा'''' आह मैं उसे शब्द नहीं दे सकती जैसा लगा''''फिर मैंने पता नहीं किस अतल गहराईसे तुम्हें पुकारा''''और मनको कड़ा किया। जब बाहर कुछ नहीं घटता कुन्तल मेरी—तो अन्दर कितना-कितना घटने लगता है इसका अन्दाज़ लगाना कठिन है। पर उस थोड़ी देरके ही दौरानमें जैसे मैंने एक युद्ध जीत लिया।

नहीं! मैं विचलित नहीं हुई इसके लिए तुम दोनों शाबाशी नहीं दोगे मुझे? चौबीस घण्टे पहले यह घटित हुआ, अब इस समय लगता है कि जैसे यह सुदूर अतीतकी घटना है। जैसे मैं इसमें हूँ ही नहीं। मैंने सिर्फ़ इसे किसी इतिहासकी पुस्तकमें पढ़ा है। मैं इस समय इसे बहुत सहज रूपमें ले रही हूँ। सच कुन्तल, मैं तुझे समझानेके लिए नहीं कह रही हूँ।

शोभन दा, उस समय जो मनमें उमड़ा था वह विश्वास करो कटुता नहीं थी। तुम्हारी बहनिया छोटी नहीं है। जितनी थी उतनी भी तुमने

अब रहने नहीं दिया। पर उस समय जो मनमें उमड़ा था वह यह कि मेरे सर्वप्रथम प्यारकी सारी पवित्रता, और विस्तार, और ऊँचाई अपनेमें बिल्कुल ईमानदार होते हुए भी इस तरह लक्ष्यभ्रष्ट और प्रताड़ित क्यों हुई ? फिर सोचा—अच्छा हुआ शोभन दा ! उससे मैं बड़ी ही बनी—बहुत कुछ जो पहले ग्रहण नहीं कर सकती थी उसे ग्रहण कर पाने योग्य बनी''''वस्तुत: मुझे ग्रहण क्या करना है इसे भी उसे खोकर ही जान पायी ! फिर भी उसका दर्द कभी-कभी बुरी तरह कचोट जाय, उदास कर जाय, तो क्या उसे कमजोरी कहोगे तुम ?

यह जानती हूँ आजके बाद उसका वंश भी मर गया। एक प्रकारकी बीछीके बारेमें पढ़ा था कि वह डंक मारनेके बाद मर जाती है। यह कचोट भी आज आख़िरी बार डसनेके बाद निर्जीव पड़ गयी है।

अब मैं उन्हें भी सहज रूपमें देख सकूँगी। मन नहीं विचलित होगा। तमाम ज़िन्दगीके पैटर्नमें सैकड़ों हज़ारों चेहरोंमें—एक वह भी। कुछ विशेष नहीं''''भला इसी सत्यको इस तरह टूटे, फिर टूटकर बने बिना, जड़ हुए और फिर प्रवाहित हो उठे बिना—ग्रहण कर सकती थी ?

शामको मैंने श्यामलीको एक बधाईका स्नेहपत्र लिखनेकी सोची। पैड भी उठाया। फिर सोचा तुम दोनोंकी सलाह बिना नहीं लिखूँगी। पता नहीं क्या असर हो उसका। व्यावहारिक बातोंमें अब भी वैसी ही कोरीकी-कोरी है तुम्हारी बावरिया मीनल !

इतना जरूर जानती हूँ कि उनमें वह नहीं था, जिसकी मेरे मनने कल्पना कर रखी थी''''पर जो भी है वह मुझसे विच्छिन्न होकर बिखरेगा नहीं, बनेगा ही। श्यामली उसे निभा ले जायेगी। मुझे वह सीधी-सादी साहसी लड़की पहली ही भेंटमें बहुत अच्छी लगी थी।

तुम दोनों ख़ुश हो न ! आश्वस्त रहो। कुन्तलिया ! तेरे दिये हुए गोरोचनका शुभ्र टीका ही सतत मेरी रक्षा करता है क्या ? वही आलोकित करता रहता है मुझे ?

३० अक्तूबर
रात ८ बजे

आज इतनी देर हो गयी और अभी तक बोर्डिंगकी बिजली ही नहीं ठीक हो पायी है। नौकरानी एक मोमबत्ती जलाकर कोनेवाली मेज़पर रख गयी है। इतनी धुँधली रोशनी अटपटी-सी लग रही है और मन घुट-घुट सा रहा है····और हिलती-काँपती लौमें दीवारपर मेरी हिलती-काँपती छाया पता नहीं कैसी लग रही है। भयावनी तो नहीं पर अशुभ-सी।

उफ़ इस रोशनीमें तो लिखा भी नहीं जा रहा····दीवारपर सब बुरी तरह थरथरा रहे हैं····दर्पण, मेरे बाल, मेरे होठ, कन्धे, फूलदानके फूल। सब अपनी जगहसे खिसका हुआ, उचटा हुआ-सा लग रहा है····

रात १०॥ बजे

बत्ती आ गयी! आ तो गयी थी बीस मिनट पहलेसे, पर मैं उठी नहीं—उजालेमें आँख खोले पड़ी रही जैसे प्यासी होऊँ और उजाला पी रही होऊँ। इतनी देरके अनिवार्य अँधेरेने मनको घबरा दिया। लिखनेमें दिक्कत महसूस हुई तो दीवारसे टिककर बैठ गयी और चारों ओर काँपती हुई छायाओंको शून्य दृष्टिसे देखती रही। मोमबत्तीकी धीमी पीली बीमार रोशनीमें ऐसा लगा जैसे दीवारें भी अपनी जगहसे खिसक रही हैं, उनके जोड़ खुल गये हैं और पीछे खिसक गये हैं। और धीरे-धीरे लगा जैसे दीवारें हैं ही नहीं। चारों ओर खुलाव है, फैलाव है और उनमें छायाएँ काँप रही हैं, अजीब-सा प्रेत-नृत्य कर रही हैं। मुझे अजब लगने लगा था शोभन दा—और जाने कहाँ मनमें दबी पड़ी थी उस महगावाँ बाँधके पास वाली घाटीकी शाम····जो अकस्मात् याद आ गयी और याद आ गयी उस आगमें काँपती, कूदती, नाचती, अनगढ़ चट्टानोंकी छायाएँ। तुम्हें याद है उस समय हम लोगोंको लगा था जैसे आदिम गुहामानवोंने आक्रमण करके यह घाटी हमसे छीन ली है और मुझे लगने लगा कि अपने इस

सुरक्षित बन्द कमरेमें नहीं हूँ, उसी घाटीमें हूँ और सैकड़ों आदिम गुहा-मानव मेरे चारों ओर आदिम प्रेत-नृत्य कर रहे हों। मेरे हाथ-पाँव सुन्न पड़ने लगे कुन्तल····मैं पुकारना चाहती थी पर आवाज़ नहीं निकल पा रही थी····और लो, बत्ती आ गयी।

आज इतने दिनों बाद पहली बार ऐसा लग रहा है कुन्तल, कि ऐसे क्षणोंमें मैं अकेली नहीं रहना चाहती। मैं चाहती हूँ कि तुम दोनों मेरे पास हो। मैंने कैसे-कैसे क्षण अकेले काटे और जड़ पत्थर बनकर गुज़ार ले गयी उन्हें—पर अब आना चाहती हूँ अपने घर—तुम दोनों क्यों नहीं बुला रहे हो मुझे ?

मैं जानती हूँ कुन्तल ! तुमने इतनी बार बुलाया और मैं नहीं आयी और अब ऐसा हो गया है कि मैं आना चाहती हूँ पर आनेका कोई आधार नहीं ढूँढ़ पा रही।

५ नवम्बर

चार-पाँच दिन हो गये। उस रातसे मन काफ़ी आकुल है। भावाकुल नहीं, प्रश्नाकुल ! कितनी बातें तुमसे जानना चाहती हूँ शोभन दा !

उस दिन देखा कि इस आदिम भूखी आगके धधकते ही हर चीज़से ज्यादा उसकी छाया महत्त्वपूर्ण हो जाती है। हर छायाका आकार अपनेसे कितना बड़ा लगता है ! सारा आसपास बदल जाता है।

क्या मुझमें वही जाग गयी थी ? कैसी-कैसी चीजें मुझे बड़ी लगने लगी थीं। और अब ? जिसके पीछे मैंने कुन्तलको कितना प्रताड़ित किया उस हरीन्द्रकी मृत्यु तकका अप्रत्यक्ष समाचार अब मैंने कितने सहज भावसे लिया। रोहितका एक-एक संवेदन तक मनको अब कुछ भी तो नहीं कर जाता। लेकिन तब ? हर चीज़ जो कुछ भी नहीं थी, कितनी बड़ी लगती थी····

अब क्या वह घाटीमें धधकती आदिम आग निष्कम्प दीपशिखा बन गयी है जिसके आलोकमें हर चीज़ अपने सही परिमापमें दीखेगी ? भ्रम,

छायाएँ, मिथ्या, अनर्गलसे छूट गयी मैं ? मुक्ति इसीको कहते हैं न शोभन दा ?

लेकिन मुझे यह सब सहना ही क्यों पड़ा ? क्यों पायी मैंने यह पीड़ा ?

नहीं शोभन दा ! मैं सब जानना चाहती हूँ। मैं नहीं चाहती कि अब तुम दोनों मुझे बच्चेकी तरह समझो ! मैं तनका, मनका, हर ज्वार झेल-कर, पीकर''''पत्नीत्व, मातृत्व सबको जीकर, सबमेंसे गुजरकर उन्मुक्त आकाशके नीचे चिरन्तन अकुण्ठित जिज्ञासा-सी खड़ी होकर हर बातका उत्तर जानना चाहती हूँ अब।

नहीं—मैं आकाशबेल बनकर बूढ़े दरख़्तोंपर फैलकर जीना नहीं चाहती ! मैं बिलकुल कटकर अलग—विच्छिन्न होकर—भी नहीं जीना चाहती''''मैं चाहती हूँ इस धरती, इस आकाशकी एक-एक पर्तमें मेरी जड़ें हों—मैं एक कण अँधेरेमें जीना नहीं चाहती। एक कण अधूरेपनमें नहीं।

मैं सम्पूर्णके साथ सम्पूर्णको जी सकूँगी न शोभन दा ?

अपनेमें यह कैसी अजीब प्यास पा रही हूँ—तनकी प्यास जानी है मनकी जानी है''''पर यह कैसी है ?

७ नवम्बर

"जाननेका क्या केवल एक तरीक़ा होता है ? तर्कसे, बुद्धिसे, संवे-दनोंसे, ज्ञानेन्द्रियोंसे ? नहीं मीनल दीदी—बहुत कुछ है जो उससे भी अगम्य बच जाता है। और वह जो हमारे जीवनके चारों ओर नियतिके रूपमें, अज्ञात और अगम्यके रूपमें घेरे रहता है—जिसके हाथों कभी-कभी हमें घोर पीड़ा मिलती है, निरपराध और निरर्थक पीड़ा—उस अज्ञातको सर्वशक्तिमान् प्रभु मानकर दास भावसे प्रणाम करना मैं अभी तक नहीं सीख पाया। इसीलिए कभी-कभी दोहरी पीड़ा भोगी है। लेकिन उससे भी अब कोई ऐसा विरोध भी नहीं रह गया''''क्योंकि इतना और जाना है मीनल, कि ऐसे क्षणोंमें भी कुछ उभरता चलता है जिसके

कारण उस अगम्य और अज्ञातसे भी हमारी संगति बैठती जाती है। पता नहीं कितना भोगकर, खोकर कुछ क्षण ऐसे भी मिले हैं जब लगा है कि हमारा जीवन विच्छिन्न निरर्थक चेष्टा नहीं है। उसका एक अर्थ है जो सबमें प्रतिध्वनित हो रहा है, यहाँ तक कि वह अगम्य और अज्ञात भी उसीसे गुंजरित है। ऐसे क्षणोंमें बहुत सान्त्वना मिलती है, मेरी बहन !"

ये शब्द मेरे नहीं हैं। ये तुम्हारे लेखक मित्रके हैं, [शोभन दा ! इस बार वे मेरी ओर देख भी नहीं रहे थे, पर उनका एक-एक शब्द मैं किस तरह ग्रहण कर रही थी कि वह कहीं नक़्श हो गया है। सूरज डूब रहा था और हलकी नारंगी आभा उनके माथेपर पड़ रही थी और सामने निरुद्देश्य देखती उनकी आँखें और धीरे-धीरे हिलते हुए उनके होठ—और बहुत गहरे मेरी चेतनामें एक-एक कर बैठते हुए उनके शब्द !

आज इतवार था और मैं चाहती थी किसीसे बात करना—कोई खास बातें नहीं—इधरकी, उधरकी, तमाम दुनिया भरकी ! मैं अपनेको जीवित और जाग्रत अनुभव करना चाह रही थी। उनमें एक अजीब बात है। कितने थोड़े-से परिचयमें आदमी उनपर विश्वास करने लगता है। उनके साथ टहलने निकल गयी और जाने कब मैंने अपनी डायरी अपने बैगमें डाल ली थी। उस पुलियापर बैठे-बैठे कब मैंने उन्हें अपनी डायरी दे दी, मुझे याद नहीं। बस मुझे याद इन शब्दोंकी है जो पढ़नेके बाद उन्होंने गहरी, भरी हुई आवाज़में कहे, जिन्हें मैं पूर्णतया समझ पायी यह नहीं कह सकती—पर जिन्होंने चन्दनकी-सी शीतलता मनमें भर दी !

लेकिन एक अजीब तटस्थता है उनमें। इतना सब कहकर फिर जैसे वे अपने ही शब्दोंसे अलग होकर उधर खड़े हो गये—तटस्थ दूर-दूर—और उनके शब्द जैसे पालकी तरह तनकर मुझे तैराते हुए तुम दोनोंके पास दुगुनी ममतासे खींचकर ले जाने लगे।

लौटनेमें एक और घटना घटी। तुम दोनों जानते नहीं हो कि तुम दोनोंके पास आनेको मैं कितनी व्याकुल रही हूँ इधर। पर कभी तुम्हें एक

शब्द लिखा नहीं और मेरी डायरीकी बातें तुम भला क्या जानो ? पर जब मैं तर्कसे, बुद्धिसे, किसी भी प्रकार यह निश्चय नहीं कर पायी कि अपने आप अपने ऊपर लादी हुई जड़ता कब तोड़कर तुम्हारे पास पहुँचूँ, क्या आधार ढूढ़ूँ इस अनिश्चयको तोड़नेका—तो एक बहुत मज़ेदार बात सोची—जूनमें ही बोर्डिङ्ग हाउसमें आ गयी थी न! जुलाईमें मालीने गेटके पास एक हरसिंगारका बड़ा-सा पौधा लाकर लगाया। हरसिंगार तुम्हें प्रिय है न, शोभन दा! मैंने पिछले दिनों मनमें अजीब-सा निश्चय किया। जिस दिन और जब इसमें पहला फूल आयेगा—मैं घरको चल दूँगी। जब तर्कसे, बुद्धिसे, अपने लिए कोई निर्णय न कर सकी तो एक अदृष्टके हाथ उसे सौंप दिया। चारों ओर सितम्बरमें ही हरसिंगार फूल गये। अक्टूबर में अधिकांश पौधे फूल बिखरा खामोश हो गये। लेकिन इसमें एक कलीका भी निशान नहीं। मन थोड़ा खिन्न होकर चुप हो रहा। समझ लिया कि अभी घर लौटनेकी बेला नहीं आयी है। (यह सब बुद्धिहीन, तर्कहीन बातें हैं न शोभन दा, पर मैं क्या करूँ, इसे मेरा बावलापन ही समझ लो!)

लौटकर, फाटकपर पहुँचकर, मैंने उनसे विदाका प्रणाम करना चाहा कि सड़ककी बिजलीके नीचे उस हरसिंगारकी जो डाल अहातेके बाहर झुकी हुई थी उसपर मेरी निगाह पड़ी। लो मैं तो निराश होकर उसे देखना ही छोड़ चुकी थी। और यहाँ न जाने कब उसमें एक पत्तीकी जड़के पास पहले गुच्छेका कटोरा उकस आया था। आह मेरी कुन्तलिया! उस क्षण मुझे कैसा लगा है कि मैं क्या बतलाऊँ!

उन्होंने पूछा तो मैंने सब बता दिया। उनके चेहरेपर कितना गहरा सन्तोष था। "तो तुम कल जाओगी, शोभनको मैं तार दूँ?"

"नहीं! मैं अकस्मात् पहुँचना चाहती हूँ।"

वे मुसकरा दिये। बहुत ममतासे, बहुत आशीर्वादसे!

मैंने सहसा घूमकर कहा, "लेकिन यह क्या होता है? इन तर्कहीन

बुद्धिहीन कसौटियोंपर ऐसे निर्णय लेना या उन्हें स्थगित करना कोई अक़लमन्दीकी बात है ?"

"शब्दोंका ग़लत इस्तेमाल नहीं करते—'बुद्धिहीन' 'तर्कहीन' नहीं—'बुद्धिसे परे', 'तर्कसे परे' और इनकी भी संगति शायद जीवनमें होती हो मीनल दी !"—(आह आजका उनका एक शब्द मुझे क्यों इस तरह याद हो गया है !) वे क्षण भर मेरी ओर देखते रहे, फिर मेरी पीठ थपथपाकर बोले, "देखो इसको तुम यों क्यों नहीं समझाती कि तुम्हारी ज़िन्दगी सिर्फ़ तुममें नहीं है। चतुर्दिक् उसकी जड़ें हैं। और यह सब जो चारों ओर है—तुम्हारे लिए है। तुम यह क्यों नहीं सोचती कि जहाँ तुम्हें पहुँचना है वहाँ तुम पहुँच सको उसके लिए ही सब कुछ हुआ है—यह धरती कण-कण बादलोंको, सूरजको, ओसको पीती रही—इस पौधेकी जड़ोंसे, तनोंसे, टहनियोंसे रसको, अर्थको धीरे-धीरे ऊपर उठाती रही कि एक दिन वह चुपकेसे फूटकर, खिलकर तुम्हें संकेत दे सके—तुम यह क्यों नहीं सोचती कि तुम सिर्फ़ अपने जीवनको नहीं जी रही हो, ये सब तुम्हारा ही जीवन जी रहे हैं····" फिर वे क्षण भर चुप हो गये और फिर बोले—"ऐसा जान लेनेपर मन कितना बड़ा हो आता है—अपना सारा अस्तित्व कितना गहन लगने लगता है !"

फिर अपनी आदतके मुताबिक अकस्मात् जैसे अपने शब्दोंसे उन्होंने अपनेको तोड़ लिया हो—वे मुड़े और बोले—"अच्छा मैं कल स्टेशन पहुँचाने आऊँगा तुम्हें, गाड़ी साढ़े छः बजे आती है न ?" और बिना उत्तर पाये झटकेसे प्रणाम कर चले गये।

मैं तब तो प्रणामका प्रत्युत्तर भी न दे पायी। लेकिन अब आभारी हूँ, नमित हूँ !

बहुत अच्छा लग रहा है न कुन्तल ? सिर्फ़ अच्छा ही नहीं, भरापूरा, उजला-उजला, सार्थक और सशक्त। मुझे क्या करना है, कैसे जीना है,

यह सब जैसे खुल आया है, खिल आया है''''पहुँचनेका सुख जानकर भटकनेकी पीड़ा भी उजरा आती है।

कल छुट्टीका इन्तजाम कर शामको चल दूँगी। शोभन दा, तुम चकित रह जाओगे न? लेकिन कुन्तलिया''''तू बड़ी चोर है। जाने तेरा मन कहाँ-कहाँ क्या-क्या करता रहता है कि मेरी कितनी बातें सपनेमें पहलेसे चुरा लेती है। किसने कहा था कि हरसिंगारकी बात, टीकेकी बात, तू सपनेमें देख ले? ईश्वर करे—आज रात—कल रात तू ख़ूब थककर, चूर होकर अचेत सोये ताकि तुझे सपनेमें भी यह आभास न हो कि तेरी मिनी आ रही है''''

अब बन्द हो जाइए मिस डायरी''''बाहर जाकर मुझे देखने दीजिए। हरसिंगार अब खिल आया होगा''''

समापन

[लेखककी नोटबुकसे : ८ नवम्बर]

लौटते समय पक्की सड़कसे न लौटकर बाँयी बाजूके अँधेरे मैदानसे लौटा हूँ, अकेले पगडण्डी-पगडण्डी। बहुत अच्छा लगा! मीनलको डब्बेमें बिठाकर ट्रेन चल पड़नेपर जगमग प्लैटफार्म छोड़कर कोहरे भरे मैदानमेंसे धीरे-धीरे लौटना! कैसी अजब-अजब चीजें मुझे अच्छी लगती हैं! अकारण! माथेपर कोहरेकी ठण्डी उँगलियाँ, अँधेरेमें मैदानके खोये हुए किनारे, पाँवकी आहटसे झङ्कारती हुई झिल्लियोंका चुप हो जाना और फिर बोलने लगना''''गार्डकी सीटी—और प्लैटफार्मसे छूटती ट्रेनका धीरे-धीरे हंस गतिसे तैरने लगना''''आज इसमें एक चीज़ और जुड़ी। एक झाँकता हुआ प्रदीप्त चेहरा, अन्दरके भरावसे मधुराता हुआ''''

विश्राम लेनेके पूर्व आभार व्यक्त करता हूँ तुम्हारे प्रति शोभन-कुन्तल, कि तुम्हारे सौंपे हुए विश्वासके कारण इस कथाको अन्दरसे जान सका! इसके इस अप्रतिम मोड़का साक्षी बन सका!

आभारी हूँ—क्योंकि हम सब सचमुच कहीं-न-कहीं बहुत गहरे स्तर-पर एक ही जीवन जी रहे हैं और हममेंसे हरेककी निजी मुक्ति दूसरेकी भी मुक्ति बन चलती है। अपनेमें डूबकर सिर्फ़ मैंने तुम्हें मुक्त नहीं किया मीनल—तुम्हें लिखकर, तुम्हें जानकर मैंने भी अपनेको जाना है—उस लेखनको जाना है जो हमें बाँधता नहीं, कुण्ठित नहीं करता, घोटता नहीं, विकृत नहीं बनाता''''जो हमें और हमारे द्वारा चित्रित जीवनको खोलता है, विकसाता है, उसके श्रेष्ठतमको मुक्त करता चलता है।

ग्यारह सपनोंका देश

[खण्ड २]

• सृजनकी समस्याएँ •

: १ :

राजेन्द्र यादव

कलकत्ता

११-१-५६

प्रिय······

आओ, आज कुछ साहित्यिक बातें करें—देखो न, वर्षों हो गये और हमलोग अपनी बातोंको सिर्फ़ अपने तक ही रखते चले आये····तो आज उन ढेर-से प्रश्नोंका जवाब दूँ जो 'ग्यारह सपनोंका देश' के मेरे वाले हिस्सेको पढ़कर तुमने मुझपर दागे थे ? तुम्हारा भी खयाल होगा, कि मैं उन प्रश्नोंको टाल गया। नहीं भाई, मैं तो इसी प्रतीक्षामें था कि जब सब लोग 'सपनें' देख चुकें तो अपनी बातको ज्यादा ठोस भूमिपर टिकाया जा सके।

साफ़-साफ़ कहूँ ?—'दम्भी' तो नहीं माना जाऊँगा न ? लगता है, आज बोलनेका अधिकार उस व्यक्तिको ही दिया जा रहा है जिसका मुगालता है कि 'खुले पंख, टूटे डैनें' ही सबसे सही, और परिणामत: सफल ('अच्छा' नहीं कह रहा) 'सपना' था····लेकिन रुको, इस बातसे पहले एक सवाल और सामने आता है। ग्यारह उपन्यासकार मिलकर एक उपन्यास लिखें—क्या 'उपन्यास' की दृष्टिसे यह प्रयोग सही था ? आज सहयोग और सहकारके युगमें जब सभी प्रकारके 'कॉपरेटिव' बन सकते हैं तो लेखन अपने-आपमें एक 'सहकारी-प्रक्रिया' क्यों नहीं बन सकता ? कहीं पढ़ रहा था : जैसे मशीनोंके हिस्से अलग-अलग जगहोंसे लाकर आप मोटर, रेल, इत्यादि बना डालते हैं, अमेरिकामें लेखनकी

स्थिति भी आज यही हो गयी है। 'रोमन किम' ने इसपर एक सनसनी-खेज सटायर भी लिखा था। एक काउण्टरपर जाकर आपने जासूसी, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, जैसा मन हुआ—प्लॉट ख़रीदा, दूसरी दूकानमें जाकर 'मनोवैज्ञानिक' या स्थिति-चित्रण वाले पैराग्राफ़ भरवा लिये; तीसरी दूकानमें वार्तालाप फ़िट कर दिये गये; चौथी दूकानमें विरामादि चिह्नोंसे उसे सजाया गया; पाँचवींमें उस सबको अन्तिम पालिश दे दी गयी—और अब 'तैयार-माल' (फ़िनिश्ड-प्रोडक्ट) 'साहित्यिक-एजेण्ट' के द्वारा प्रकाशकके पास आया और अगले दिन 'दस मिलियन प्रतियाँ बिकीं' की मुहरवाला 'बैस्ट-सेलर' हो गया''''बोलो, कैसा अच्छा तरीक़ा है : न प्रतिभाकी ज़रूरत, न कागज़-क़लमसे माथा फोड़नेकी तरद्दुद ! सब-कुछ 'सहयोग' से ही''''

लेकिन मैं तो इस प्रयत्नकी बात कह रहा था ! "देखें अगला इस स्थिति या इन चरित्रोंको क्या रूप देता है"—का दुर्दान्त कौतूहल ही इस प्रकारके प्रयोगकी सम्बन्ध-शृंखला होती है—कहना चाहिए, नेपथ्यमें चलती हुई थीम होती है। साफ़ बात है, एक ही कहानीको अलग-अलग व्यक्ति विकास दें—यह बात मुझे तब भी नहीं जँची थी जब 'प्रतीक' में 'बारह खम्भा' निकला था, और अब भी नहीं; जब मैं ख़ुद भी 'ग्यारह सपने' देखने वालोंमें-से एक हूँ। बिना किसी निश्चित रूप-रेखाके इस प्रकारके 'प्रयोग' में लेखक तो सामने आता है; पर उस प्रयोगकी मिट्टी ख़राब होती है। इसके पक्षमें केवल एक ही तर्क दिया जा सकता है; हमारा जीवन भी तो ठीक ऐसा ही है, उसकी कोई एक निश्चित रूप-रेखा कहाँ होती है ? उसका निर्माण भी एक ही के हाथों नहीं होता। अलग-अलग लोग आते हैं; ज़िन्दगीमें अलग-अलग पार्ट अदा करते हैं, चले जाते हैं और कभी इधर, कभी उधर ज़िन्दगी टकराती रहती है। सुनियोजित, सुगठित थीम वाली कितनोंकी ज़िन्दगी होती है ? और होती भी हो तो फ़ॉर्स्टरने उसे उपन्यासकारके लिए 'फ़्लैट' चरित्र बताया है। किसीके

प्रारम्भकी सम्भावनाएँ कुछ होती हैं और बन कुछ जाता है; कोई 'अन्त' तक पहुँच ही नहीं पाता बीचमें ही टूट जाता है ! और जब उपन्यास जिन्दगीकी सही तस्वीर है तो निश्चय ही उसका विकास और निर्माण कुछ इसी ढंगसे होना चाहिए ।

सही बात है । मगर यहाँ हम एक चीज़ भूल जाते हैं । हमारे जीवन-को चलानेवाली गत्यात्मक शक्ति 'सम्भावनाएँ' और दूसरोंके 'निर्माण करनेवाले हाथ' ही नहीं होते, और न हम हर 'सम्भावना' और हाथके हाथों समर्पित हो जानेवाले लोंदे होते हैं—हमारी अपनी 'इच्छा शक्ति' और 'विवेक' हमें कभी-कभी निहायत ही अप्रत्याशित घुमावोंपर मोड़ देते हैं—हमारे आगे हमारा एक 'विज़न-मैन' (आकांक्षित स्वप्न) चलता है और उसे पकड़नेके लिए कभी हम राहें बदलते हैं और कभी राहके साथी । हम सिर्फ़ दूसरोंसे बनते ही नहीं उन्हें बनाते-बिगाड़ते भी चलते हैं : उपन्यासकी बात करूँ तो : 'होरी' का 'विज़न-मैन' था 'गायवाला सुख सम्पन्न होरी'—और यही 'स्वप्न-छाया' उसे भगाती रही । इस प्रकारके 'प्रयोग' की सबसे बड़ी कमज़ोरी यही होती है कि उसके पात्रोंके आगे अपनेको लेकर कोई आकांक्षित स्वप्न नहीं होते—और वे निर्जीव लगते हैं ।

बिना किसी निश्चित रूप-रेखाके अलग-अलग लेखकों द्वारा एक ही कहानीको बढ़ानेमें सबसे अधिक कठिनाई स्वयं लेखकोंके सामने आती है । हर लेखक पात्रोंके नाम और स्थितियाँ तो दूसरोंकी लेनेको मज़बूर होता है लेकिन हर चीज़की परिकल्पना (कन्सैप्शन) उसकी अपनी होती है । साथ ही; चूँकि अपने प्रस्तावित भागके प्रारम्भ और अन्त उसे स्वयं करने होते हैं, इसलिए वह अपने उस भागको एक इकाईके रूपमें ही सोचनेको भी मज़बूर होता है । अर्थात् इस प्रकारके उपन्यासका हर अध्याय नये प्रारम्भ, नये अन्त और (सबसे आपत्तिजनक बात यह कि—) नये-नये क्लाइमैक्सोंवाला होता है ! यही कारण है कि 'ग्यारह सपनोंका देश'

में किन्हीं दो अध्यायोंकी 'मीनल' एक नहीं है, 'शोभन' और 'कुन्तल' एक नहीं है। लगता है 'नाम' और 'रूप' ओढ़े सैकड़ों अय्यार घुस आये हों!

'फ़ॉकनर'के 'इण्टरव्यूकार'ने प्रश्न किया: "अपनी चीज़ोंको सिनेमा या टेलीविजनके लिए तैयार करते समय आप उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धनकी आज्ञा दे देते हैं या नहीं?"

"बिल्कुल दे देता हूँ।" शब्द मुझे याद नहीं हैं लेकिन उत्तर यही था—"क्योंकि लेखनमें सारी परिकल्पना, उसमें रंग-रूप भरना, उसे अन्तिम रूप देना—सभी एक आदमीका होता है; लेकिन सिनेमा और टेलीविज़न सहयोगी प्रयत्न हैं—वहाँ एकको दूसरेके साथ मिलकर काम करना पड़ता है। इसलिए वहाँ हरेकको अपने काम और काम करनेके ढंगको भी दूसरा रखना पड़ता है, सहयोग देना पड़ता है।"

इस उत्तरने पहले मुझे चौंकाया था, लेकिन बादमें बात सही मालूम पड़ी।

और अगर सच ही पूछा जाय तो लेखन भी एक 'सहयोगी-प्रयास' हो, यह बात ही मेरी समझमें नहीं आती—चाहे वह एक रूपरेखापर हो या बिना रूपरेखाके। 'सहयोग'से 'डैम' बँध सकते हैं, कम्पनियाँ चल सकती हैं; कोश बन सकते हैं—लेकिन जहाँ एक दृष्टि, एक संवेदना-धरातल और एक ही कोण सबसे महत्त्वपूर्ण हो, वहाँ 'सहयोगी' बाधा ही देता है।

यही कारण है कि 'ग्यारह सपनोंका देश'में मुझे अपने अगले-पिछले हर लेखकसे शिकायत है—कि सभीने स्वयं चरित्रोंको तो समझा ही नहीं, उनके आपसी सम्बन्धोंको भी नहीं समझा—इसलिए किसीको भी नहीं निभाया। बदलेमें यही शिकायत उन्हें मुझसे भी हो सकती है।

आओ, सबसे पहले स्वयं-चरित्रोंको लें। प्रारम्भकर्ताकी हैसियतसे श्री धर्मवीर भारती सबसे अधिक निरापद स्थितिमें थे कि जो चरित्र, जो

कहानी जिस परिस्थिति और जिस रूपमें चाहें शुरू कर दें। उन्हें न किसी पहले लेखकके नाम लेने थे न परिस्थिति। और आदतके अनुसार उन्होंने 'राष्ट्रीय चेतनाके निर्माण'की भूमिका चपकाकर रोमांटिक वातावरणमें कुछ रोमांटिक लोगोंको ला छोड़ा—जो सभी बड़े 'प्यारे-प्यारे' लेकिन 'अजब-अजब'से थे। उन्होंने कुन्तल और शोभनके पारस्परिक सम्बन्धोंको छोड़कर किसीके भी आपसी सम्बन्ध 'कमिट' नहीं किये, रोहितको छोड़कर किसीका शेष समाजसे सम्बन्ध या हैसियत भी नहीं बतायी। यहाँ तक कि जीपके चलने तक उन्होंने यह नहीं बताया कि उन लोगोंके आपसी सम्बन्ध किस रूपमें चलेंगे। इस प्रकार कथा-सम्भावनाकी दृष्टिसे पहला अध्याय कुछ रूमानी लोगोंके नामोंका परिचय मात्र था—भूमिका भी नहीं थी। (इस प्रकारकी सहयोगी कहानियोंमें अगलेके लिए कठिनसे-कठिन अन्त छोड़ देना भी एक मनोवैज्ञानिक मनोविनोद होता है!)

रैल्फ़ फ़ॉक्सने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है: किसी चरित्रका उपयोग चाहे जितना करें, लेकिन "बिना उसे सम्पूर्ण रूपमें जाने उसे सजीव चरित्र नहीं बना सकते।" 'रेणु'के चरित्र चाहे जितनी थोड़ी देरके लिए आयें और चाहे जितने नगण्य लगें लेकिन संख्यामें बहुत होते हुए भी उन सबको आप अलग-अलग पहचानते हैं। वे 'कल्पनाकी उपज' होते हुए भी 'मुर्दा' या निराकार (एब्स्ट्रैक्ट) नहीं लगते। इसका कारण है अपने हर चरित्रके आपसी सम्बन्ध, सामाजिक हैसियत, पुराने संस्कार और नयी परिस्थितियोंका परिवेश—सभी कुछ उसके सामने साफ़ रहता है, इसलिए उनके मनोविज्ञानको वह और पाठक समान विश्वाससे जानते हैं।

तो 'पात्र-परिचय'के बाद सबसे पहले जरूरत थी कि अगला लेखक तो कम-से-कम अपने हर चरित्रके बारेमें अपनी धारणा और दृष्टि साफ़ कर लेता—अर्थात् उनके अपने-अपने अतीतोंकी एक रूपरेखा उसके सामने होती, उनके पारस्परिक सम्बन्ध नयी घटनाओंमें बनते-बिगड़ते और विकसित होते—उनके अपने-अपने भविष्यके नक्शे सामने आते—वर्तमानको

हाड़-मांस दिया जाता । श्री उदयशंकर भट्टके समय वह सब कुछ नहीं हुआ और आ टपका हरीन्द्र । इधर सम्बन्धोंका यह हाल था कि मीनल रोहित, गुप्ता और हरीन्द्रके बीच हवामुर्ग़की तरह घूमती थी । बहरहाल, 'पात्र-परिचय'के बाद ही बात स्पष्ट होने लगी थी कि औपन्यासिक कथा-सम्भावनाकी दृष्टिसे सबसे अधिक सबल-सजीव चरित्र होने जा रही है मीनल । श्री उदयशंकर भट्टने हरीन्द्रको लाकर सारी कहानीको मीनलके आस-पास समेट दिया था । केवल चाय पीनेमें ही बहस कराके सारी कहानी समाप्त करते हुए भी रांगेय-राघवने स्थितिको और तनाव दिया और मीनलके घर छोड़नेपर अध्याय अगलेको दे दिया गया ।

और इतनी देरमें पहली बार उस तनावभरी स्थितिको पकड़कर अमृतलाल नागरने शोभन-परिवारके सारे सम्बन्धोंको वास्तविक उपन्यासकारकी दृष्टिसे स्पष्ट किया । वहीं गुप्ता, रोहित, कुन्तल, शोभन, मीनल सभीको पाठकने अलग-अलग नामोंसे ही नहीं, अलग-अलग मनोविज्ञानोंसे परिचालित हाड़-मांसके व्यक्तियोंके रूपमें देखा । यहीं भाई-भाभीके साथ रहनेवाली मीनल आजकी पढ़ी-लिखी अविवाहिता बड़ी उम्रकी कुमारी लड़कीकी समस्याओंसे घिरी एक समस्या-नारी बनकर आयी—एक ऐसी समस्या-नारी जो एक विशेष संक्रान्तिकालीन समाजकी 'प्रोडक्ट' और उसके सामने प्रश्नचिह्न-सी खड़ी इकाई थी । मैंने कम-से-कम मीनलको इसी रूपमें पाया ।

श्री अमृतलाल नागरने पात्रोंको जिस मानसिक और परिस्थितिगत द्वन्द्व और 'क्रिटिकल पॉइण्ट'पर छोड़ा था—श्री इलाचन्द्र जोशी उससे बिल्कुल क़तरा गये । वे हरीन्द्रको तो पहाड़ोंमें घुमा लाये मगर कहानी वहीं-की-वहीं रुकी रही । साथ ही इससे दूसरा नुकसान यह हुआ कि बीचमें (व्यर्थ ही) काफ़ी समय बीत जानेका एक आभास (इल्यूज़न) लगने लगा—जब कि अगला लेखक कहानीको पुराने संकट-बिन्दुसे उठानेके लिए मजबूर था । इस ग़लत 'आभास'का नतीजा हुआ कि समयका

ज्ञान गड़बड़ा गया, और आगे जाकर श्री मुद्राराक्षसने इस लौटे हुए हरीन्द्रको मरते हुए रोहितसे मिला दिया। जोशीजीके हिसाब से जितनी घटनाएँ पहाड़पर हरीन्द्रके साथ हुई—उनके लिए कम-से-कम तीन-चार महीनेका समय तो चाहिए ही, और लगभग इतना ही समय मनमें रखकर मैंने मीनलको मिसेज़ वर्माके यहाँ रक्खा। इधर डाकू चेतसिंहके पीछे रोहित और घर छोड़कर मीनल एक ही समय निकले थे। अब जब तक यह न माना जाय कि रोहित तीन महीने चेतसिंह के पीछे-पीछे (आखिर कौन-सा युग था वह?) भागता फिरा—यह संगति ही गलत है। इस दृष्टिसे श्रीलक्ष्मीचन्द्र जैनका मीनल और श्यामली की भेंट कराना ज़्यादा संगत है।

ख़ैर तो मैं मीनलकी बात कह रहा था। द्वितीय युद्धसे पहले और युद्धके दौरानमें अपने मध्यवर्गीय समाजमें हमें विशेष प्रकारकी अविवाहिता कुण्ठाग्रस्त नारीके दर्शन होते हैं, और उसे अपने किसी उपन्यासकी हीरोइन बनानेकी इच्छा मेरी बहुत दिनोंसे है। शिक्षा, सामाजिक जागृति, राष्ट्रीय आन्दोलनोंमें पली हुई यह लड़की, आर्थिक दबाव, महँगाई और सामाजिक रूढ़ियोंके शिकंजोंमें पिसती है। कहीं उपयुक्त दहेज, शिक्षा-दीक्षा लायक सुविधाएँ न होनेपर उसे लम्बी उम्र तक विवाहकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है और कहीं वह स्वयं सामाजिक रूढ़ियोंपर बलि होनेसे इनकार कर देती है और अपने पैरोंपर खड़ी होनेकी कोशिश करती है। मनका साथी प्राप्त करनेकी या तो उसे (प्रत्यक्ष-परोक्ष) आज्ञा नहीं मिलती या वह साथी ही नहीं मिलता। फलतः उसके जीवनके सबसे 'सुनहले दिन' या तो उस अनिश्चित अवधिकी प्रतीक्षामें बीतते जाते हैं जब सारी परिस्थितियाँ चामत्कारिक ढंगसे अनुकूल हो जायेंगी—या उपयुक्त साथीके परीक्षणमें। पहली स्थितिमें वह अपनेको 'फ़्रस्ट्रेटेड' पाती है, दूसरीमें 'फ्लर्ट'। और दिन-रात घोटती है उसे प्राप्त न हो पाये सपनोंकी लाशोंसे फूटती दुर्गन्ध! ऊपरी रूपमें वह कहीं ऑफ़िसमें काम करती है, कहीं किसी स्कूलकी टीचर

है। आगे चलकर शेष परिवारसे भी उसके सम्बन्ध इतने 'नॉर्मल' नहीं रह जाते, क्योंकि वह आर्थिक रूपसे 'आश्रिता' नहीं है।

पूरे इतिहासके परिप्रेक्ष्यमें मीनल मेरे लिए यही लड़की बनकर आयी, और उन स्थितियोंमें दूसरी कुछ बन भी नहीं सकती थी। आर्थिक रूपसे स्वावलम्बी होना उसे साहस देता है कि वह स्थिति आनेपर अलग भी रह ले। मैं चाहता तो उसे (जैसा अन्तमें भारतीने किया) लौटा भी सकता था शोभन और कुन्तलके पास—और उस समय उसका लौटना उतना दयनीय नहीं होता जैसा अन्तमें हुआ। चाहते तो मिसेज़ वर्माका घर छुड़वाकर लक्ष्मीचन्द्र जी भी बम्बई ले जानेके स्थानपर उसे घर ही लौटा देते। तब तक तो उसकी उत्तेजना भी शान्त हो चुकी थी—लेकिन उसका लौटना कहीं भी उसके आत्म-सम्मानके अनुरूप नहीं है—हर जगह उसकी पराजय ही है। क्योंकि वस्तुतः वह समस्याका हल है ही नहीं। लाख भावुक और 'पूजामयी' होकर भी वह आखिर कब तक अपने भाई-भाभीके यहाँ रहेगी?—वह भी उनके 'प्यारकी दया' पर? और भी आगे जाकर उसका भविष्य इसके सिवा क्या है कि वह उनके बच्चोंको खिलाये और जिन्दगीके दिन गुज़ार दे?

इस कुण्ठित नारीका क्या हो, इस समस्याका हल तो हम सभीको मिलकर खोजना है, लेकिन वह नारी है क्या इसे समझनेका प्रयत्न मैंने ज़रूर 'खुले पंख : टूटे डैने' में किया था। उसकी सारी मानसिक और सामाजिक स्थितिकी विडम्बनाको उघाड़कर रखनेके लिए ही मुझे विपिनको लाना पड़ा। मुझे लगा इस प्रकारकी लड़कीकी सामाजिक और मानसिक स्थितिको मेरे बाद केवल दो लेखकोंने समझा और सहानुभूतिपूर्वक लिया : सामाजिक स्थितिको श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन और मानसिक स्थितिको श्री कृष्णा सोबतीने—अर्थात् वर्किंग गर्ल या विषम परिस्थितियोंमें 'अकेलापन' महसूस करती अपने आपसे मजबूर, असहाय नारी।

आजकी स्थितिमें यह लड़की या तो अपनेसे आयुमें छोटे विपिनको

अपना 'स्नेह' देकर अपने नारीत्व-मातृत्वको सन्तुष्ट कर सकती है या किसी अवकाश-प्राप्त 'पाववाला' की कृपापात्री होकर (कभी-कभी उसकी 'गृह-लक्ष्मी' भी) क्योंकि उपयुक्त जोड़े (मैच) की आशा वह छोड़ चुकती है या उसका समय बीत चुका होता है।

लेकिन लक्ष्मीचन्द्रजीके यथार्थवादी ज्ञानने मीनलको इतनी छूट तो दे दी कि वह बम्बईके होटलमें हरजसका चुम्बन पाकर भी कुछ न बोले, पर पाववाला और मीनलको आमने-सामने रखकर वे (कोई हर्ज नहीं था यदि चन्दोला भी बीचमें आ जाते) परिस्थितिको साहसपूर्वक स्वीकार कर लें—यह उनके आदर्शवादी आग्रहको स्वीकार नहीं हुआ। जिस स्थितिको बादमें प्रभाकर माचवेने बड़े ही अकलात्मक और भौंड़े ढंगसे रक्खा है—उसे यदि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी पहले ले आते और उन दिनोंकी डायरी सामने आती तो सचमुच मीनलके माध्यमसे हम अपने युगकी उस समस्या-नारीके अन्तसमें झाँकनेका सुअवसर पा सकते थे।

एक मानसिक स्थितिका सुन्दर और कलात्मक चित्रण देनेके अलावा श्री कृष्णा सोबतीने भी कहानीके संकट-बिन्दुको नहीं छुआ है—लेकिन मीनलके जिस बीमार मनकी झाँकी कृष्णाजीने दी है, वह कोई पुरुष लेखक कर सकता था इसमें सन्देह है। आगेवालेसे उम्मीद थी कि वह टूटी हुई मीनलके बिखरे हुए व्यक्तित्वको एक केन्द्रपर समेट देता और वह समस्या नारी अपने सम्पूर्ण रूपमें हमारे सामने आ खड़ी होती।

लेकिन इस सबकी परिणति होनी थी—'आदिम अग्नि, उगता सूरज और दीपशिखा' की कवितामें! रखिए अपनी समस्याएँ, रखिए विभिन्न परिस्थितियोंमें घूमने भटकनेवाले मनकी ऊँची-नीची स्थितियाँ—मानसिक द्वन्द्व और युगका बीमार मन! 'नीला-नीला-सा कोहरा', 'बहकी-बहकी चाँदनी', 'महके-महके फूल', 'उलझी-उलझी अलकें', 'प्यारी-प्यारी कुन्तलिया', 'बेहद भोले-भाले शोभन दा' और 'खोई-खोई-सी मीनलका भरा-भरा मनुआ'। मीनल घर लौट आयी, जो कुछ जैसा होना था वैसा

हुआ, संसार रसातलको जा रहा था, दुनिया बहुत बिगड़-भटक गयी थी, लोग लड़ते और अलग हो जाते थे !—लेखक साहबका अवतार हुआ, बिछुड़े हुए मिले, बिगड़े हुए बने, रोहित हरजस खेती करने लगे—ख़ूब फ़सल हुई और संसार सुखसे रहने लगा। जैसा भगवानने कुन्तल, शोभन, मीनलके साथ किया—वैसा तुम सबके साथ करें। बोलो, सियावर रामचन्द्रकी जै !

अच्छा बताओ, कैसी रही ?

तुम्हारा····

: २ :

मुद्राराक्षस

एक आदमी ग्यारह रातोंको सपनोंमें एक कहानी देखे यह बात समझमें आती है पर ग्यारह आदमी ग्यारह सपनोंमें एक कहानी देखें यह बात सचमुच अचम्भेकी लगती है। लेकिन बक़ौल तर्क-झक्कियोंके, जो हुआ है वह न होना कैसे हो सकता है; लिहाजा यह मानकर चलना मजबूरी ही है कि ग्यारह सपने अलग-अलग 'या निशा सर्वभूतानां' के जागनेवालोंने देखे जिनमें एक कहानी ही पूरी हुई।

पहला अध्याय लिखते हुए धर्मवीर भारतीने संकेत किया था 'नव निर्माण' की समस्याका। नव निर्माणकी समस्या अपनी तहमें सामाजिक दृष्टिसे संकट कालकी स्थितिका संकेत देती है। जैसा कि भारतीने चाहा था भरसक यह कोशिश की जाती रही है कि विविध लेखक अपने अध्यायों में उपलब्ध चरित्रों और परिस्थितियोंको इस ढंगसे पेश करें कि उक्त समस्यापर उनका अपना दृष्टिकोण स्पष्ट हो सके। इस दृष्टिसे यह उपन्यास जटिल हो उठा है। जटिलताका एक और कारण यह भी है कि कथा पूर्व-निश्चित नहीं थी।

जहाँतक मुझे याद पड़ता है 'ग्यारह सपनोंका देश' में ऐसा बहुत-कुछ है जो इसे अपनी तरहका अकेला प्रयोग बना सके, क्योंकि बंगलामें जो प्रयोग अरसा पहले हुआ था वह मूलतः एक कथाको अनेक हाथोंसे पूरा करानेका था जब कि 'ग्यारह सपनोंका देश' में कुछ परिस्थितियों, मनः स्थितियों और चरित्रोंको विविध स्थितियोंमें रखकर दस लेखकोंने उनकी समीक्षा करनेकी कोशिश की है। 'ज्ञानोदय' के इस उपन्यासमें कथाका

महत्त्व कम है कथाकारका महत्त्व अधिक है क्योंकि मूलतः उसे यह कर्त्तव्य ही निभाना था कि कुछ उपलब्ध चरित्र-सूत्र कितने आयामोंमें देखा और आँका जा सकता है। इसीलिए हर लेखक कथाको अपनी उद्दिष्ट आवश्यकतानुसार मोड़नेको स्वतन्त्र था। मैं इसे सामान्य पाठक-वर्गकी अपेक्षा 'रसज्ञ' के अधिक उपयोगकी वस्तु कहूँगा। इस दृष्टिसे राजेन्द्र यादवके इस वक्तव्यकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि इस प्रकारके प्रयोग जँचनेवाले नहीं होते—भले ही यह बात बँगलाके उपन्यासके बारेमें सच उतरे। इस योजनाका पूरा होना इस बातका प्रमाण है कि प्रयोग पूरा हुआ। इसके बाद अब इस बातकी जरूरत आती है कि इस प्रयोगके नतीजे सुथरे रूपसे सामने पेश किये जायँ और यह स्पष्ट किया जाय कि कथातत्त्वकी सम्भावनाएँ, अर्थात् कोई चरित्र विशेष किन्हीं परिस्थिति विशेषमें क्या सर्वाधिक उपयुक्त प्रतिक्रिया करेगा और कोई परिस्थिति-विशेष किसी सम्भावना-विशेषसे संयुक्त होकर क्या सर्वाधिक सहज रूप ले लेगी, इस बातका किस लेखकसे क्या अपेक्षित तथ्य उपलब्ध हुआ। इस दृष्टिसे इस उपन्यासका गर्भसूत्र 'सहयोगी उपन्यास' न होकर अधिक पारिभाषिक रूपमें 'कथा सम्भावनाओंका सहयोगी प्रयोग' होना चाहिए था।

पहले अध्यायके लेखकने पात्रोंका स्वर्ग-स्वभाव, उनकी औसत सामाजिक स्थिति तथा उनके व्यक्तियोंकी नीवें पहलेसे ही खड़ी कर दी थीं इसलिए हर बार उसी खाक़ेपर रद्दे चुनते गये और कुल ग्यारह कहानियाँ एक ही हाथके खिंचे खाक़ेपर उतरीं लेकिन इसीलिए इन प्रयोगोंकी विशिष्टता और भी बढ़ गयी। जिस तरह प्राणि-शास्त्री अथवा मनोवैज्ञानिक अपने प्रयोगोंके लिए बहुतसे प्राणी समान स्थितिमें रखकर जाँचते हैं उसी प्रकार यहाँ भी तथाकथित "कण्ट्रोल्ड एन्वारन्मेण्ट" अनजाने ही विविध लेखकोंकी सृजन प्रक्रियाके वैविध्य परीक्षणके लिए प्रस्तुत हो गया। यों एक लेखकने ही ग्यारहों कहानियाँ लिखकर भी सिर्फ़ एक ही ऐसी कहानी लिखी है जो ग्यारहमेंसे किसीमें भी वर्तमान न होकर, ग्यारहोंसे तटस्थ

एक 'स्टैण्डर्ड' कहानी है जिसके आधारपर सृजनका वैविध्य समर्थित होता गया।

उकताहट लानेवाले इस ऊपरके खण्डके बाद अब वस्तुके परीक्षण और 'ज्ञानोदय' के द्वारा पेश किये गये प्रश्नोंके जवाब देनेका अवसर आ जाता है। अच्छा होता अगर पाठकोंके लिए वे प्रश्न भी इन निबन्धोंके साथ ही प्रकाशित कर दिये जाते।

इस उपन्यासके पहले छहों अध्यायोंतक लेखक और पाठक वर्गमें पर्याप्त चर्चा छिड़ चुकी थी। अज्ञेय द्वारा प्रतीकमें शुरू किये गये 'बारह खम्भा' का भी ज़िक्र किया जाता था; साथ ही उसकी कुछ गम्भीर और कुछ हास्यास्पद कठिनाइयोंके संस्मरणोंके साथ उसकी असफलताका तज़किरा भी यों कर दिया जाता था जैसे ऐसी योजनाका असफल होना अनिवार्य हो। अगर मैं भूलता नहीं हूँ तो बीचमें एक बार अज्ञेयजी खुद किसी सिलसिलेमें कलकत्ता आये तो यह चुटकुला सुना गये कि 'बारह खम्भा' के एक लेखकने सारे पात्रोंको मोटरमें बैठाकर एक्सीडेण्टमें एक साथ सभीको मार डालनेकी धमकी दी थी, ताकि उपन्यास आगे न बढ़ पाये।

इसके थोड़े ही दिनों बाद राजेन्द्र यादवने छठा अध्याय लिखा और मालूम हुआ कि पात्रोंकी असामयिक हत्याओंका श्रीगणेश हो गया। राजेन्द्र यादवने रोहितकी मृत्यु सहसा एक खबरके रूपमें सम्पन्न करा दी और मीनलको मर्मान्तिक पीड़ा पानेकी स्थितिमें ला छोड़ा। बुरा न होता अगर 'विपिन भैया' के प्रेमसे आहत मीनलसे मैं आत्महत्या करा देता; कुन्तलको इतनी ग्लानि हो सकती थी कि वह छतसे छलाँग लगा जाती, गुप्ता साहब फ़िलासफ़र शोभनके ऊपर अभियोग लगा देते कि उन्होंने असन्तोषवश पत्नीकी हत्या कर दी; साधुमुद्रावाले शोभन दा बेचारे आदर्शवादके मारे फाँसीका फ़न्दा ख़रीदकर गलेमें डाल लेते; पागल हरेन्द्र टेररिस्टको किसी तरह इस दुर्घटनाका पता चलता और वह एक बार फिर हाथमें पिस्तौल

लेकर गुप्ताकी हत्या करके बदला लेता और फ़रार हो जाता। कहानी बड़ी रोचकताके साथ मेरे अध्यायमें "सर्व वै पूर्ण स्वाहा" हो जाती।

मगर मुझे ऐसा लगा कि छठे अध्यायसे यह उपन्यास अपनी प्रयोगात्मक विशिष्टता छोड़कर बँगलाके उपन्यासकी 'कथापूर्ति यज्ञ' परम्परापर जा रहा है वरना मीनलकी एक प्रतिक्रिया-विशेष (प्रतिक्रिया भी नहीं उसके चरित्रका एक हिस्सा-विशेष) मात्र स्पष्ट करनेके लिए रोहित रायकी आकस्मिक मृत्यु अनावश्यक थी। इस मृत्युसे राजेन्द्र यादवने एक बात यह सिद्ध की थी कि मीनल कभी रोहितको समर्पित हो चुकी थी और दूसरी शायद यह कि 'सद्यः वियुक्ता प्रेमिका' विपिन भैयाको भी अभिसारका अवसर दे देगी। जहाँ तक मुझे याद है ठीक इसी प्रकारकी घटना 'चरित्रहीन' में निभाई गयी है पर बिना सतीशकी हत्या कराये।

इसीकी प्रतिक्रियापर मैंने अध्यायका शीर्षक ही दिया—'ग़लत सपनोंके रथ'। इस अध्यायमें इसीलिए किसी प्रकार गुँजाइश निकालकर रोहितको दुबारा जीवित घोषित किया। इस स्थितिके निर्वाहके लिए मुझे अनावश्यक रूपसे चेतसिंहके दलसे रोहितके संघर्षकी कल्पना करनी पड़ी।

हाँ, राजेन्द्र यादवने अपने निबन्धमें मेरे अध्यायकी एक ख़ामीकी तरफ़ इशारा किया है कि चेतसिंह और रोहितकी भागदौड़का समय भ्रमवश तीन-चार महीने तक हो गया। राजेन्द्र यादवके ख़यालसे चेतसिंहका पीछा करनेमें पुलिसको चार महीनेका समय लगना समीचीन नहीं। लेकिन यह आक्षेप निरर्थक हो जाता है यों कि अध्याय लिखते हुए समयका यह घोटाला मेरे सामने था और इसे निबाहनेके लिए ही चेतसिंहको महगावाँसे भगाते हुए तराई तक मुझे ले जाना पड़ा। पिछले दिनों डाकू मानसिंहको पकड़नेमें चार महीने नहीं, अगर मैं भूल नहीं करता तो, चार वर्षसे ऊपर लगे थे। इसके विपरीत समयका वह घोटाला, जो राजेन्द्र यादवके ख़यालसे इलाचन्द्र जोशीसे शुरू हुआ, वस्तुतः ख़ुद राजेन्द्र यादवके अध्यायसे शुरू

हुआ क्योंकि जोशीजीने हरीन्द्रको 'पहाड़पर घुमाकर' भी परिस्थितियोंको ऋजु ही रखा। पहाड़ोंपर हरीन्द्रके घूमनेका काल सहज कल्पनीय था जब कि राजेन्द्र यादवने फिर कहानी चौथे अध्यायसे शुरू की। उनके अपने अध्यायमें कई स्थल ऐसे थे जो समयके बारेमें गड़बड़ी फैला सकते थे। नागरजी जब अध्याय लिख रहे थे तो रूसका पहला स्पूतनिक छूटा था जिसका ज़िक्र उन्होंने किया और राजेन्द्र यादवके अध्यायके समय रूसका दूसरा स्पूतनिक उड़ चुका था जिसकी खबर मीनल पढ़नेसे छोड़ देती है। समय बीतनेका यह एक प्रमाण था। रोहितने जब घर छोड़ा था तो पहला स्पूतनिक आसमानपर था। मीनलको मिसेज़ वर्माके यहाँ रहते कुछ दिन हो गये तब दूसरा स्पूतनिक 'लायका' को लेकर उड़ा। इसके भी कुछ दिन बीते तब रोहितके मरनेकी खबर मिली। शोक बीता और इतना समय भी बीत गया कि वह लोगोंको भूलने लगी। इसके बाद विपिनका काण्ड हुआ। जिस ढंगसे 'फ्लैश बैक' की पद्धतिसे इस अध्यायका बहुत-कुछ लिखा गया है वह समयकी गड़बड़ी पैदा करनेके लिए पर्याप्त है। इस प्रासंगिक बातको छोड़िए।

मैं बात कह रहा था उपन्यासकी प्रयोगात्मक विशिष्टताकी। अमृतलाल नागरने अपने पात्रोंके परीक्षणके लिए ज़रूरी समझा था गुप्ता और कुन्तलका प्रणय लेकिन राजेन्द्र यादवने कथा निर्वाहके लिए विपिन और मीनलका प्रेम करा दिया। अब इस कथाकी अगली सम्भावनाएँ तब तक खुलनेकी नही थीं जब तक प्रेम व्यापारके ये दो 'न्यूक्लियस' न टूटते। अगले अध्यायमें मैंने सिर्फ़ इनका विघटन करा कर ही इन दो स्थितियोंसे संयुक्त पात्रोंका अन्तर्विश्लेषण किया।

मेरे अध्यायकी सबसे बड़ी असफलता, जिसका अन्त तक मुझे खेद रहा, थी हरेन्द्र और रोहितका मिला देना। लेकिन यह मजबूरी थी क्योंकि जिस गलत रथपर अब उपन्यास चढ़ चला था उसकी गति परीक्षण और प्रयोगकी न होकर कथापूर्तिकी रह जाती। इस उपन्यासकी अपनी विशि-

हताके निर्वाहके लिए ज़रूरी यही था कि पात्र जहाँ तक होता बिखरते नहीं, पर नागरजीने रोहितको महगात्राँ भेज दिया और जोशीजीने हरीन्द्रको पर्वतोंपर। इत्तफ़ाकसे यही दो चरित्र ऐसे थे जो उपन्यासके लिए सबसे अधिक डाइनेमिक साबित होते थे। अपने अध्यायके बाद मैं ऐसा सोचता था कि मीनल शायद फिर लौटा ली जाय लेकिन सम्भवतः यह अन्याय होता। यहाँ लक्ष्मीचन्द्र जैनने मीनलके साथ राजेन्द्र यादवकी अपेक्षा ज्यादा न्याय किया कि उसे प्रौढ़ यथार्थवादी भूमिकापर उतार दिया। नागरजीके अध्यायसे मीनलका जो सेण्टीमेण्टल और हठी स्वभाव व्यक्त हुआ था (हठी क्यों निर्द्वन्द्व) वह लक्ष्मीचन्द्र जैन ही निभा सके। राजेन्द्र यादवने उसे दुविधा, संकल्प शिथिलता, आत्माभियोग, मानसिक अपराध और हीनताकी भावना आदिसे पीड़ित दिखाकर कथाको आवश्यकतानुसार ढालनेकी कोशिश की। मीनल जैसे चरित्रके लिए विपिनकी घटना बहुत छोटी और सतही थी। उसके चरित्रकी अदम्यता और उसका अनिवार्य समर्पणप्रिय भावुक मन ये दोनों ऐसे थे जिसके साथ न्याय या तो पाव-बालाकी भेंट कर सकती थी और या फिर माचवेका पहला-पहला वाक्य—"और मीनल गर्भवती हो गयी।" दरअसल यही स्वयं एक पूरा अध्याय था! माचवेका प्रयोग इतने वाक्यपर ही पूरा हो जाता है। मैं इसे सफल अध्याय मानता हूँ।

इतने कुल उपन्यासमें सर्वाधिक सटीक जो चरित्र उभरा है वह कुन्तल का। गो कि प्रायः हर लेखकका केन्द्र मीनल रही। वह कभी नदीके द्वीप की रेखा समझी गयी, कभी चरित्रहीनकी सावित्री और कभी जैनेन्द्रकी मृणाल बुआ और इस तरह आजके लेखकोंकी रोमानी दृष्टिको प्रमाणित करती रही। फिर भी सभीकी क़लम कुन्तल जैसे मांसल यथार्थ चरित्रमें ही अधिक सफल हुई।

राजेन्द्र यादवने एक बात कही है 'विज़न-मैन' की। उनका कथन है कि "ऐसे प्रयोगोंकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यही होती है कि उसके पात्रोंके

आगे कोई आकांक्षित स्वप्न नहीं होते और वे निर्जीव लगते हैं।" यॉर विण्टर्सने एक बड़ी रोचक किताब लिखी है "एनॉटमी अॅव् नानसेन्स।" इसमें उसने राजेन्द्र यादव द्वारा दुहरायी इसी आकांक्षित स्वप्नोंकी बात लेकर इलियटकी आलोचना करते हुए यथार्थके सूत्रोंके खो जानेकी सम्भावना दी है। शायद इसी आकांक्षित स्वप्नका निर्वाह राजेन्द्र यादवने करनेकी कोशिश की और परिणामत: विण्टर्स द्वारा संकेतित खतरा सामने आ गया और स्थूल रोमाण्टिसिज्म ही हाथ लगा। सौभाग्यवश इस तरहकी घटना और किसीके हाथों नहीं हुई।

प्रारम्भमें मैं उदयशंकर भट्टके अध्यायसे इसलिए असन्तुष्ट था कि उसने अनावश्यक रूपसे हरीन्द्रको ला खड़ा किया, पर उपन्यास समाप्त होतेतक इस भ्रमका निर्वाह हो गया क्योंकि तमाम पात्रोंके बीच मीनल जैसे सम्भावना सघन चरित्रको उभार देनेका सबसे महत्त्वपूर्ण काम सिर्फ़ हरीन्द्र ही कर सका।

इस उपन्यासकी सारी दार्शनिक और समाज-शास्त्रीय सम्भावनाएँ पहले गुप्ता और रोहित बटोरते लगते हैं पर बादमें वे माध्यम भर रह जाते हैं; वास्तविक तुला मीनल ही रह जाती है और कुछ अंशोंमें शोभन। राजेन्द्र यादवने मीनलको एक वर्गकी प्रतिनिधि माना है जिसमें बड़ी उम्रकी अविवाहिता पढ़ी-लिखी लड़कियाँ हैं पर मीनल व्यक्तित्व न होकर एक समस्या है, एक समाज-मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि है। इसी विशिष्टताको न समझ पानेकी शिकायत धर्मवीर भारतीने अपने अगले अध्यायमें की है।

उपन्यासका सबसे 'ऐब्सर्ड' पात्र है शोभन। वस्तुत: हर लेखकने हाँड़ीमें नाक-मुँह बनाकर ही इस पात्रका निर्वाह कर दिया और इस तरह एक काल्पनिक सत्ता अपरीक्षित ही रह गयी। आनन्दकुमार स्वामीने आजके संक्रान्ति कालकी एक स्थितिका बयान करते हुए अपनी पुस्तक 'डाँस अॅव् शिव' में Too little love and much of snobism का ज़िक्र किया है। शोभन ठीक यही है। कुल उपन्यासमें शोभन ही ऐसा

चरित्र है जो कभी अपनी जीवन-प्रक्रियाके अणुओंका विस्फोट नहीं करता। वह हाशियेकी तरह है। उसकी संख्या सिर्फ़ शून्य है।

ज्ञानोदयके ख़तमें यह भी है कि इस अध्यायमें मेरी रचना-प्रक्रिया क्या रही यह स्पष्ट करूँ तथा यह मेरी अन्य रचनाओंसे कैसे भिन्न है यह बताऊँ भी। शायद यह अध्याय मेरी पहली रचना है जिसमें एक साथ अपनी अभ्यास-सिद्ध दो टेकनीकोंका सम्मिश्रण किया है। मीनलवाला सारा हिस्सा एक केन्द्रीय प्रतीकका विकास है—धुरीपर मीनल। इसी प्रतीककी वाक्योंमें व्याख्या करनेके बाद जो विश्लिष्ट तत्त्व उपलब्ध हुए उनका प्रतिनिधि लेकर उससे संकेतित प्रतीक फिर खड़ा किया। इसके सन्दर्भमें भी मीनलकी विशिष्टताकी व्याख्याके वाक्य देकर उनमेंसे प्रतिनिधि वक्तव्यपर फिर प्रतीक खड़ा किया। 'एनालिटिकल सिम्बलिज्म' की इस टेकनीकको मैं पहले 'सुनो कैरा सुनो', 'यौन उच्छृङ्खलता', 'एक ग़लत साधुके कन्फ़ेशन्स' तथा 'लेडी मैक्बेथ दुबारा हत्या न कर सकी' आदि रचनाओंमें प्रयुक्त कर चुका था। इससे व्यक्तिके ज़ाहिरा व्यक्तित्वकी अपेक्षा उसके आन्तरिक व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति अधिक प्रौढ़तासे हो पाती है क्योंकि ये विश्लेषणात्मक प्रतीक व्यक्तिके क्रिस्टलोंको आकलित करते हैं।

डाकुओंसे मुठभेड़वाले दृश्योंमें वर्णन प्रधान है। वर्णनको भावात्मक स्पर्श देनेके लिए दानवकी रौंद जैसे इकहरे प्रतीक दिये हैं पर शेष टेकनीक स्केचके अभ्यासका ही परिणाम है। इस नज़रसे दूसरे अंशको विशेष महत्त्वका नहीं मानता। पहला मीनल और कुन्तलवाला खण्ड ही मेरा चाहा हुआ प्रभाव ला सका।

संक्षेपतः इतने वक्तव्यके बाद अब मैं आज्ञा चाहूँगा।

: ३ :

डा० रांगेय राघव

सपने और वे भी ग्यारह ! ग्यारह कोणोंसे ! वैयक्तिक रूपमें बिखरी मानव चेतनाकी, मूल समष्टिसे एक ही विकासकी अनुभूति ! लोग इसे प्रयोग कहते हैं—मैं कहता हूँ इसे प्रतीति। यह जो मानवकी चेतना है यह बहुत भिन्न होकर भी अपनी रागात्मक एकताके कारण वस्तुतः एक ही है। इसीलिए दक्षिण अमेरिकासे भारत और भारतसे ऑस्ट्रेलिया तक हम सब मानव वस्तुतः एक ही हैं। भेद है हमारे व्यक्तित्वोंका। यह व्यक्तित्व न केवल हमपर बाह्यरूपेण समाजके पड़ते प्रभावके कारण बनता है, वरन् यह हमारे उन भेदोंकी भी अभिव्यक्ति हैं जिनके द्वारा हम अपने लघु मस्तिष्कमें विराट् संसारका प्रतिबिम्ब ग्रहण करते हैं।

विज्ञानके नये चरणने मनुष्यकी आँखकी बनावटकी परीक्षा की है। वैज्ञानिकोंका मत है कि असलमें हमें जो यह अनेक रंग दिखायी देते हैं, वे हैं नहीं। हमारा मस्तिष्क, आँखोंकी बनावट यानी उसके कैमरेसे, जो छाया हमारे भीतर ले लेता है, उसे जिस रूपमें हमारा वह मस्तिष्क ग्रहण करता है, उसकी अनुभूति हमें रंगोंके रूपमें दिखायी देती है। इसी आधार-पर वैज्ञानिकोंने अन्य प्रयोग भी किये हैं, जिनके अनुसार सम्भवतः कुत्ता रंग नहीं देखता। उसे समस्त सृष्टि सफ़ेद-काली दिखायी देती है और सम्भवतः इसी तरह तितली हमसे कहीं अधिक रंग देख पाती है। तो यह जो मानव-मानवमें भी हमारी दृष्टिका भेद है, यह साहित्य और कलामें अपनी एक विशेषता रखता है।

यहाँ मैं कह दूँ कि हम सबने जिस योजनाको स्वीकार किया, वह एक

बहुत बड़े भ्रातृत्वका लक्षण थी। परन्तु जिस तरह 'बारह-खम्भा'के प्रयत्नको टुटपूँजिये और विकृत हीनताग्रस्त अभावने डस लिया, उसीकी प्रतिक्रिया अब हो रही है। प्रत्येक लेखक एक-दूसरेको दोष लगा सकता है। श्री राजेन्द्र यादवने जिस गुरुतासे अन्योंपर लांछन लगाये, श्री मुद्राराक्षसने उनकी लघुताको उभार कर उत्तर दिया। यह मेरी रायमें ठीक नहीं है। हम लिखते समय, एक योजनाको स्वीकार करते समय भाई-भाई थे। फिर यश मिलनेका समय आनेपर हमें उस सौहार्दको खण्ड-खण्ड करनेकी क्या आवश्यकता है। एक ही समयमें साहित्यमें कई महारथी हो सकते हैं, अतः यह भी कैसा डर है कि अपनेको महारथी जबरन प्रमाणित करानेकी चेष्टा की जाये। मैं मुद्राराक्षसकी बात मानता हूँ कि प्रयोग सफल रहा। कुछ लोगोंने 'बारह खम्भा'का प्रयोग ठीक नहीं बताया क्योंकि जो आगे हुआ वह उनकी मान्यताके अनुकूल नहीं हुआ। आज भी हममेंसे प्रत्येक यही कह सकता है। यहाँ इस भेदको पहले देखना चाहिए।

जब मान्यता और दृष्टिकोण एक होते हैं, तब दो व्यक्तियोंसे अधिक भी एक ही 'एप्रोच' और 'अभिव्यक्ति' रख सकते हैं। प्राचीन कालके महाभारत तथा पुराण ग्रंथ किसी एक 'व्यास'के बनाये नहीं हैं। उन्हें कितनों ही ने घटाया-बढ़ाया है। फिर भी हम आज उन्हें उनकी शैली या कथ्यके आधारपर अलग-अलग बाँट नहीं सकते। पूर्ववर्ती और परवर्ती अंश केवल कुछ परवर्ती ऐतिहासिक घटनाओंके मिल जानेसे छाँटे जाते हैं। किन्तु जब दो लेखकोंके दृष्टिकोण, मान्यता, अपनी-अपनी 'एप्रोच' रखती हैं, तब भेद आना आवश्यक है।

कौन अच्छा लेखक है, कौन नहीं, यह प्रमाणित करनेका क्षेत्र यह उपन्यास नहीं था। इसमें यह देखा गया था कि मानव अनुभूतिके कितने पहलू हैं और कल्पनाका 'उद्देश्य' किस-किस तरह व्यक्ति विशेषमें अपने भिन्न रूपोंमें प्रकट होता है। कई लेखक जब कार्यके प्रारम्भमें उसे स्वीकार कर लेते हैं तब वे प्रतिश्रुत होते हैं। मैं तो कहता हूँ कि अब इस अनेक

हाथोंकी रचनाको पुस्तकाकार ग्रहण करके आना चाहिए, और इसके परिशिष्टके रूपमें सब लेखकोंके अपने-अपने दृष्टिकोणको भी संकलित करना चाहिए।

मैं यहाँ बताता हूँ कि मैंने क्या पाया, और क्या किया, और मुझे क्या आशा थी। इससे आगे उपन्यास वैसा ही चला या नहीं, चलता तो सफल होता, या न चलनेके कारण गिर गया, यह सब प्रश्न मुझे नहीं छूने चाहिए, क्योंकि उसका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि मैं चलाता तो क्या-क्या नहीं करता। मैं जो दूसरोंकी आलोचना करूँगा वह कथाके 'उद्देश्य'के प्रश्नको लेकर।

मैं इन्हीं कुछ बातोंको स्पष्ट करूँगा। इससे पहले मैं यह कह दूँ कि जो लोग शुरू करते हैं और बादमें नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उनका उद्देश्य किसी 'स्टंट'से अपनेको प्रगट करना होता है, और फिर उससे अपनेको अलग करके अधिक महत्त्व लूट लेनेका और भी सस्ता स्टंट।

तो, मैंने जब इस योजनाको स्वीकार किया, तब इसी विचारसे कि हम सब सहयात्री हैं और अब हम सब गायेंगे। हम उपवनमें बैठे कई कोकिल हैं, वसन्तका हर पहलू हमारे रागोंमें खुलेगा। मैंने यह दृष्टिकोण नहीं लिया था कि यहाँ महत्ताकी भी परख होगी।

मेरे समय तक दो ही अंश लिखे गये थे। भारतीने आदिम अग्निको जलाया था। उदयशंकर भट्टने हरीन्द्रमें उसी अग्निकी सामाजिक प्रक्रियाको प्रकट किया था।

तब मैंने देखा कि मेरे सामने कुछ लोग थे—शोभन, गुप्ता, मीनल, कुन्तल, हरीन्द्र और रोहित।

पात्रोंमें शोभन एक बुझी मोमबत्ती था, गुप्ता युगकी विलास मदिर तृष्णा, मीनल एक जीवन्त दाह, कुन्तल एक राखमें दबी चिनगारी, हरीन्द्र था एक ऐसा शमीवृक्ष जो अपनी अग्निसे जल चुका था और फिर भी बुझा नहीं था और था रोहित जो धूमिल था, वह आग जो अभी धुँआ थी।

घटनाके रूपमें एक छोटी-सी यात्रामें एक आतंकवादीका मिलन और कुछ विक्षोभ तथा कुछ सभ्यताके आवरणकी कृत्रिमतामें भी जीवित मानवीयता, यही सब तो मुझे मिले थे। सौभाग्यसे इस उपन्यासका प्रारम्भ सैक्सकी घुटनसे नहीं उठा था, जैसा 'बारह खम्भा'का उठा था। हम एक ऊँचे स्तर-पर थे। मुझे, अपनी बात कहूँ, कोई सशक्त पात्र नहीं मिला था। वाता-वरण बुरा नहीं था, संवाद भी लचर नहीं थे, केवल प्राण नहीं मिले थे परन्तु उतनी शीघ्र शायद प्राण ले आना ठीक भी न होता। प्राणके बीजको मैंने वहाँ धरतीके भीतर कुलबुलाते देखा। और तब मैंने आदिम अग्निको देखा, जो इस उपन्यासका एक मूल स्वर था। वह मुझे गुहामें नहीं मिली। मैंने उसका विज्ञानके विकासमें अवलोकन किया और वह मुझे 'स्टोव' में मिली। मेरे पात्रोंने उसे नहीं पहचाना, मैंने पहचाना। तब मैंने उस अग्नि को अपने पात्रोंमें बिखेर दिया। मैंने सैक्सके 'तथाकथित' यथार्थकी वर्णना करके अपनी यौन भूख नहीं मिटायी, न उसकी आवश्यकता ही अनु-भव की। रागात्मक साधारणीकरणके लिए मुझे व्यक्ति वैचित्र्यकी कभी भी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि अपनी सीमाका लघुत्व मुझे न प्रतीकों की आड़में ले जाना चाहता है, न मुझे कुत्साको सुख मानकर रस लेनेमें आनन्द मिलता है। मैं यौन जीवनपर भी बहुत लिख चुका हूँ, किन्तु क्योंकि मैं जीवनके सर्वांगीण सत्यको मार्क्स और फ्रायडमें ही नहीं बाँट लेता, मैं दिमाग़ी ग़ुलामी पसन्द नहीं करता कि अपने लिए पैग़म्बर ढूँढूँ; और मैं मार्क्स और फ्रायडको केवल अर्थ और काम मानता हूँ, अतः मैंने उनके दृष्टिकोणोंमें-से सदैव 'श्रेय' को लेकर अपना रास्ता स्वयं बनाया है। अतः एक अप्राकृतिक यौन परिस्थिति मेरे सामने विकृति और घुटन बन कर ही आती है, वह मुझे मानवके उदात्त व्यक्तित्वका विकास बनकर प्रभावित नहीं करती। बिहारीकी नायिका जब पतिकी याद करके बालक का मुख चूमती है, तब 'इडीपस कम्प्लैक्स' खोजा जाता है। इडीपससे तो असलमें भूल हुई थी, हमारे युगमें उसे कमाल माना जाता है, गोया

सारी आधुनिकता और विद्रोह इसी एक काममें रह गया है। प्रेमके पहलू जिन्दगीके बहुतसे पहलुओंके ऊपर नहीं, उनके अन्तर्गत हैं। मैंने जीवनकी गरिमाको जगाया। मेरे लिए जब घटना प्रधान बनती है तब मैं घटनाको अधिक लेता हूँ। 'बारह खम्भा' में मेरे सामने यही समस्या आयी थी। एक उन्नीस सालकी औरत थी, एक ४० से ऊपरका पुरुष। फ़िज़ूल घुट रहे थे—प्रतीकवाद, व्यक्तित्वके विकासवादके नामपर। मैंने उनकी शादी करा दी। जो घुटनमें मज़ा ले रहे थे उनकी 'कला' समाप्त हो गयी। इस उपन्यासमें मेरे सामने यह समस्या नहीं थी। तब भारतीने मूलभूत वृत्तिको हमारे युगके साथ उभारा था। उदयशंकर भट्टने उसका सामाजिक पहलू सामने रखा था। मैंने मूलभूत वृत्तिको न केवल युगके साथ उभारा, वरन् सामाजिक पहलूमें उसका विभिन्न व्यक्तित्वोंमें प्रकटीकरण करके हिन्दी साहित्यको एक नयी चीज दी। वह था रोहित।

रोहित इतना ज़बरदस्त पात्र था जैसे कोई दानव। किसीके हाथमें ही नहीं समाया।

इलाचन्द्र जोशीने उसे गाली दी। अमृतलाल नागरने गाली दी। किसीने जानसे मार दिया। किसीने फिर जिला दिया। लेकिन किसीने भी उसके व्यक्तित्वका गौरव नहीं पकड़ा। यह ज़रूरी नहीं कि आगे रोहितके बारेमें जैसा मैं चाहता था, वैसा ही वे लेखक भी करते। हाँ, अगर मैं ही कथाको आगे बढ़ाता तो रोहितको दानव ही नहीं रहने देता, उसे मानवत्व तक ले आता। वह सम्पूर्ण युगकी सत्ताधारिणी अहम्मन्यता, विज्ञानके विराट चरणोंसे उत्पन्न व्यक्तित्वका डाँवाडोलपन, सब कुछ लिये था। यह सब मेरी कल्पना थी। मुझे इस सहयोगी उपन्याससे पता चला कि मैं अपने सहयोगियोंसे कितना अलग हूँ, और वे प्रायः एक-दूसरेके कितने पास हैं। मेरी दृष्टिमें स्त्रीमें एक स्वाभिमान था, उसमें दुखीके प्रति ममत्व था और जीवनकी विषम परिस्थितियोंमें भी उसमें करुणा थी—जैसे मीनल।

आगे बिचारीको एक छोटे-से लड़केसे प्यार माँगना पड़ा; फिर आगे वह गर्भवती हुई, जाने क्या-क्या हुआ ? गोया मीनलके उस हिस्सेको छुए बिना 'यथार्थवाद' पर नहीं उतरा जा सकता था, जीवनके विराट संघर्षमें उसकी ठौर न थी ! 'यथार्थवाद' मैंने इसलिए कहा है कि इसी विवाद-मालामें एक लेखकने लिखा है कि गुप्ता और कुन्तलका शारीरिक सम्बन्ध कराना 'यथार्थ' की भूमिपर उतरना था। शुरूआतमें हम लोग इस 'यथार्थ' को उद्देश्य बनाकर नहीं चले थे, जीवनके व्यापक यथार्थको लेकर चले थे पर शीघ्र ही 'यथार्थ' आ गया। फिर क्या था ! फिर तो 'व्यक्तित्वके प्रतीक' निकल आये।

मैं यह नहीं कहता, फिर दुहरा दूँ, कि सेक्स मेरे लिए वर्जित है। मेरे लिए वासना भी अपना स्थान रखती है, किन्तु सन्दर्भमें। परन्तु 'सपनोंका देश'—इसका अर्थ क्या है ? सपना क्या है ? वह जो चेतनसे छनकर उप-चेतनमें उतरता है वह सपना बनकर दिखता है। यह तो वह सपना है जिसपर हमारा काबू नहीं, और रातको या दिनको नींदमें दिखता है। याज्ञ-वल्क्य कहता था कि वह द्रष्टा आत्मा है जो स्वप्न देखता है, परन्तु यह विवादग्रस्त है। मैंने अपने 'सपने' को इस प्रकारकी दृष्टिसे नहीं देखा था क्योंकि मैं जाग रहा था। इस दृष्टिमें तो चेतन एक कृत्रिमतासे उपचेतनको ढँकता है, उपचेतन बर्बर है, जो उभरना चाहता है, वही अतृप्त लालसाएँ स्वप्न हैं। मैंने तो नीदमें नहीं लिखा। मेरे लिए 'सपने' का मतलब था—वह अवस्था जिसमें हम ऊँचे उठें। और यदि गर्वकी बात न समझी जाय तो इस सारे उपन्यासमें दो बातोंने ही सारा मोड़ दिया और उन्हें उनके अनु-रूप नहीं लिया गया, हमारे दृष्टिकोणोंमें इतना भेद था कि उन्हें नये रूप दे दिये गये। दो बातें थीं—मीनलका घर छोड़ना, और रोहितका युगकी विषमतामें एक विक्षोभका प्रगट करना।

मेरे बारेमें एक लेखकने कहा है कि मैंने बातोंमें सारा समय गँवा दिया, बस मीनलसे घर छुड़वा दिया। भाई मेरे, इसमें आप नाराज़ क्यों

होते हैं ? मैंने ऐसा कौन-सा गुनाह कर दिया ! मैंने तो घर छुड़ा दिया, पर आपने उसे एक बच्चेके इश्कमें डालकर भी क्या फिर बसा दिया ? आपने वह कौशल क्यों नहीं पाया ? आप बसा नहीं सकते थे। मैंने मीनल को एक उदात्त नारी बनाया था, यथार्थमें एक जीवन्त नारी, आपलोगोंने उसके ऊपर हमला किया, उसे नीचे गिरा दिया।

मेरा रोहित क्या साधारण था ? समाजकी विषमतामें कैसी छटपटाहट थी उसमें ? बहुत पढ़ा था, सोचा था उसने, आधुनिकताने उसे घोंट दिया था, आर्थिक चक्कर थे, अहंकी प्यास थी, सुधारकों और राजनीतिज्ञोंके ढोंगसे वह घबरा गया था। वह निचले स्तरपर भी उतरता था, दर्शनकी उड़ान भी भरता था। भला भी करना चाहता था, पर अपने 'स्वार्थ' भी उसे कचोटते थे। वह त्यागका गर्व भी नहीं सह सकता था, और तभी उसे हरीन्द्रसे घृणा थी। क्या वह पात्र फिर कहीं दिखा ? यदि वह आगे बढ़ता तो आजके युगके लिए एक सन्देश होता।

और मीनल ? एक प्रदीप्त नारी थी। उसमें कितना पवित्र ममत्व था, कितना स्वाभिमान था ! वह कहाँ मिली फिर ? कहीं नहीं।

मैं कह दूँ कि यद्यपि भारती और भट्टके दृष्टिकोण काफ़ी दूर थे, मैं उन्हें एकसूत्रतामें लानेमें पूर्ण सफल हो गया, क्योंकि भारतीके पात्रोंका भट्टने निर्वाह नहीं किया, अपनी ओरसे नया पात्र जोड़ा, परन्तु मैंने विना पात्र जोड़े, बिना वाह्य परिस्थिति बदले व्यक्तियोंको ही नहीं उभारा, मैंने जो मोड़ दिया, वह अन्त तक बना रहा। परन्तु यह जो कुछ हुआ वह आगे मेरी कल्पनाके अनुकूल नहीं चला।

मेरी मीनल कुलटा नहीं थी। वह मानवके प्रति उदात्त रूपसे जाग्रत थी, उसकी कमरके नीचे हमला करके क्या मिला ? सेक्स ! सेक्स ! घोर घुटन ! और वह भी बड़ी आडम्बरोक्तियोंके साथ ! मेरे दोस्तो ! जीवन तुम्हारी मनगढ़न्त घुटन नहीं है। तुम्हारी टुटपूँजिया असमर्थता कुशवाहा-कान्तीय है। उसे पहचानो। समाज और व्यक्तिका जो सामंजस्य अपेक्ष-

णीय था, वह क्यों नहीं आया ? क्या हिन्दीमें 'यथार्थ' सेक्स है ? क्या उसको विकृतियोंके बिना पात्र 'हवाई' रहते हैं ? 'ग्यारह सपनोंके देश'ने साहित्य, समाज, व्यक्ति और संस्कृतिको क्या दिया ? मूलभूत वृत्तिको सेक्स खा गया। भट्टके सामाजिक दृष्टिकोणको सेक्स खा गया, मेरे पात्रोंके स्वाभिमान और उनके ओज और सत्यको सेक्स खा गया। यह सपना एक रंगीन कल्पना नहीं बना, जिसमें हम सुख लेते, यह तो दुःस्वप्नोंका देश बन गया।

अपने लिखनेसे पहले मैंने भारती और भट्टमें कमजोरी यही पायी कि वे एक-दूसरेसे बहुत दूर थे। उनमें अन्तर्विरोध नहीं था।

क्या सचमुच आजके जीवनमें इतनी अधिक विकृति हम देखते हैं ? क्या हम उस विकृतिको ही अपने दैनिक जीवनमें पाते हैं ? वह है अवश्य, परन्तु तब ही वह आगे आये, जब जीवनके उजले पक्ष भी सामने आयें। हमें भले ही अपने पात्रोंसे 'सहानुभूति' न हो, किन्तु हम तटस्थ और परोक्ष-सांकेतिक रहकर उनको गिरानेके लिए अभिव्यंजनामें कुरूप प्रचार या व्यंग्यको क्यों लें ?

मैंने आगेके लिए छोड़े थे 'बारह खम्भा'में एक सामाजिक पति-पत्नी—और नाव डूब गयी ! मैंने छोड़े थे यहाँ एक स्वस्थ नारी और एक आत्माको टटोलता पुरुष। पर वे कहाँ निभाये गये ?

मीनल तो स्त्री थी। उससे सम्भोग-सुखकी विकृत मानसिक कुण्ठा भरी पिपासा शान्त हो सकती थी, सो शान्त कर ली गयी। दुर्भाग्यसे रोहित पुरुष था। वह तो निभा ही नहीं। बिचारेको मार ही डाला गया, क्योंकि उसे छूनेका मतलब था अपने आपसे बोलना। ग़लती मेरी थी कि मैंने रोहितको इतना विद्वान बना दिया था। उतना पढ़ा-लिखा पात्र उसी उठानके साथ निभाना भी सचमुच कठिन था। आसान था कल्पनाका सम्भोग। आनन-फानन 'यथार्थवादी' कराते ही चले गये ! फिर भी 'प्रतीक' हैं, 'आधुनिक' हैं, और 'नये आयाम' हैं।

और सारा उपन्यास पढ़कर मैं पूछता हूँ कि क्या हम लिखनेसे पहले ही आपसमें बहस करके कुछ और लिखते ? नहीं। वह अन्तिम प्रयास होता। जिसको जो रुचा, भाया, जिसकी जो दृष्टि है, उसने वही लिखा। यह तो इसमें आशा ही थी। उपन्यास मेरी दृष्टिसे नहीं बढ़ा, तो कोई बात नहीं। औरोंने अपने दृष्टिकोणसे बढ़ाया। मेरी नज़रसे वह सब सेक्स हीका प्रकारान्तरसे प्रकटीकरण था। पर उनकी नज़रमें वह 'व्यक्तिकी प्रभाओं'का 'फानूसी' प्रदर्शन हुआ। औचित्य मुझमें ही क्यों हो ? यह तो पाठक जानें। हाँ, विचार-विनिमय दृष्टियोंको स्पष्ट नहीं रख पाता। और पाठक देख सकता है कि अच्छाई-बुराईका सवाल तो दूर, अलग-अलग लेखकका समाजके प्रति दृष्टिकोण क्या है, उसके अपने ही व्यक्तित्वकी कचोट क्या है। असलमें जो इस उपन्यासका उद्देश्य था कि समस्या अपने स्वस्थ रूपमें सुलझायी जायेगी, वह तो नहीं हुआ। हुआ यह कि लेखक तटस्थ मर्यादाको नहीं रख सके, मेरे बाद वे स्वयं पात्र बन गये और उनमें स्रष्टा और सृष्टिका सन्तुलन नहीं रहा। वे भी दोषी क्यों कहलायें! हालाँकि रामायणमें विवाहके बाद कथा शुरू होती है। आजके लेखक विवाह होते ही कहते हैं—'कहनेको कुछ न रहा....'। रामायणका नाम सुन उन्हें हँसी आती है।

अब एक प्रश्न आया। मेरी जो रचना थी क्या वह मेरे अन्य साहित्य से असमान रही ? मैं कहूँगा, नहीं। मैंने जिस उद्देश्यको लिया है, वही यहाँ भी है। मैं न प्रगतिवादियोंके कुत्सित शास्त्रका कभी दास हुआ, न मैंने प्रयोगवादियोंके चित्रकाव्यत्वको अपना लक्ष्य बनाया। और साथ ही मैंने पुरातन रूढ़िवादको भी, निर्जीव सामंजस्यमें नहीं बाँधा। मैंने व्यक्तिके बाह्य मात्रको ही सभी कुछ नहीं माना, न उसके 'भीतर' देखते समय उसे 'कीड़ेका शिकार करती छिपकली' बनाया। मेरी यही भूमि यहाँ भी है। मैं यह नहीं कहता कि वह और सबसे श्रेष्ठ है। यह तो पाठक बतायें। परन्तु वह औरोंसे स्पष्ट ही अलग है। अलग भी ऐसी कि दूसरे

उसे नहीं निबाह सकते। वे मेरे रोहितको मार सकते हैं, पर वे उसे जिलाये बिना नहीं रह सकते। चाहे वे उसकी बात न समझ पायें, पर विवश हैं। वे उसकी बात तो पकड़ ही नहीं सकते। और मेरी मीनलका अपने 'यथार्थ'में चाहे जितना दमन कर सकते हैं किन्तु वे उस स्त्रीकी आँखें नहीं ढँक सकते और उसके दिमाग़की ऊँचाईको भी नहीं छू सकते, तभी तो वह आगे वैसी नहीं रह पाती।

जो हुआ अच्छा हुआ। पिटारीका साँप तो निकल आया। यह नहीं कि रोहितको समझनेकी चेष्टा नहीं की गयी। यह नहीं कि उसकी बातको पकड़नेका प्रयत्न नहीं हुआ! इलाचन्द्र जोशीने किया, अमृतलाल नागरने किया। मगर आगको पकड़नेपर जैसे उसे छोड़कर आदमी हाथ झटक लेता है वैसा ही हुआ रोहितके साथ। बस मुसीबत हो गयी कि "घर छोड़ गयी मीनल।" किस स्वाभिमानको लेकर उठी थी आर्थिक रूपसे स्वतन्त्र नारी! जिसके सामने समाज, देश और मानवताके मूल प्रश्न थे। वह उस संकुचित परिवारमें नहीं रह सकी, जहाँ व्यक्तित्वके दायरे इतने घिरे हुए थे। वह एक विद्रोही थी। नये परिवारके लिए—नये ढंगके परिवारके लिए उठनेवाला विद्रोह, जो इतना स्वार्थग्रस्त और कृत्रिम न हो।

अब लेखकोंमें खलबली मच गयी कि अब क्या हो। कोई स्वस्थ दृष्टिसे नहीं सोच पाया कि इस नारीका क्या हो अब? उन्होंने कहा कि इसके जीवनकी सार्थकता यहाँतक तो हो ही गयी। बस हो गया सब। अब तो केवल कामपक्ष रह गया है।

मेरी बात केवल उपन्यास पढ़कर ही नहीं उठी है। तब तो मैं सिर्फ़ इस परेशानीमें था कि ऐसा हो क्यों रहा है। लेकिन इधर जो दो लेखकों के लेख निकले हैं, उनसे बिल्कुल ही उस मनोवृत्ति, उस विवशता, उस घुटनके दायरेमें छटपटानेका भी प्रामाणिक विवरण मिलता है।

इन लोगोंने जब पहलेका लिखा हिस्सा पाया तब इनकी सहज गति कुण्ठित हुई। उसमें था कुछ और, और यह चाहते थे कुछ और। अब

सुनिए 'फिनिश्ड प्रोडक्ट' की बात। एक-आध अंग्रेजीका टुकड़ा डाले बिना विद्वत्ता प्रमाणित नहीं होती न ? सो मैं भी उद्धृत किये देता हूँ। सो 'विज़न मैन' पैदा हुआ। कौन ? पहले नागरका 'विज़न' जिसमें शोभनके परिवारके सम्बन्ध 'वास्तविक उपन्यासकारकी दृष्टिसे स्पष्ट' किये गये। यानी उन्हें हाड़-मांसका बनाया गया। उसके लिए 'सेक्स'की ज़रूरत थी। मीनलके सामने 'प्रश्न चिह्न-सी खड़ी इकाई थी।' मीनलके सामने थी या न थी, लेखकके सामने तो थी ही। बहुत दिनसे वे एक मध्यवर्गीय ऐसी स्त्री को हीरोइन बनानेकी तलाशमें थे जो 'अविवाहिता कुण्ठाग्रस्त' हो। उन्हें अविवाहिता मिली तो काम बन गया। कुण्ठाकी कल्पना करते क्या देर लगती है! यह नारी अपनी उम्र लायक पति तो नहीं पाती, पर लेखक उसका अन्तर्जातीय विवाह भी नहीं करा सकता, उससे ऐसा करानेमें रस कहाँ है—'विज़न' कहाँ है ? कला नहीं है। अतः 'फ्रस्ट्रेटेड' और 'फ्लर्ट'के दो रूपोंमें, जैसे रीतिकालके रतिवर्णनमें आधार भगवान श्रीकृष्ण तथा राधिका होती थीं, यहाँ मातृत्वकी भूखका आधार ले लिया गया। लेखकने मीनलमें किसी स्वस्थ मोड़की आकांक्षा ही न की। वह स्वयं 'एब्नॉर्मल' हो गया, खेल गया। और स्वयं भी खिलौना बन गया। और यह तो तब है जब सारे 'इतिहासके परिप्रेक्ष्य'ने उसे यह सेक्सी निष्कर्ष दिये। औरतका क्या !!

लक्ष्मीचन्द्र जैनको इतना गिरना पसन्द न था। उनकी अपनी मर्यादा थी। पर वह उस पात्रीको कहाँतक सँभालते ! कृष्णा सोबतीने, नारी हैं न, उसे बाहर निकालनेकी चेष्टा की। पर ऐसी स्त्रीको वे अपनी जातिका प्रतिनिधि तो नहीं बना सकती थीं ! अतः उन्होंने भी मुसीबत मोल नहीं ली। अन्तमें मीनल घर लौटी, पर यह वह लौटना न था जिसकी मैंने कल्पना की थी। यह तो वही बात हुई कि पुरुषके आश्रयके बिना स्त्री घरके बाहर गयी, बिना ब्याहके माँ बनकर लौट आयी ! नारीके अन्तर्मनमें जो 'विज़न मैन' जागा वह निस्सन्देह इस भूखे सेक्सके कारण नहीं चल

सका। उसने मातृत्व और युगकुण्ठाकी बैसाखियाँ भी लगायीं, परन्तु अन्त हुआ उसका—सियावर रामचन्द्रकी जै! हाँ, एक मज़ेदार बात और है कि उन्हें प्रभाकर माचवेका लेखन यों पसन्द न आया क्योंकि वह 'अकलात्मक' था, 'भौंडा' था। यह क्या कह दिया माचवेने कि—'मीनल गर्भवती हो गयी!' लाहौलबिलाक़ूवत! सारा 'विज़न' ही ख़तम हो गया। वे तो नारीकी समस्याका बहुत बड़ा हल बनाकर विपिनको लाये थे!

माचवेने ग़ज़ब कर दिया! 'बारह खम्भा'में माचवेने अल्ताफ़से ऐसा ही कुछ काम करा दिया था, जिसका फल देखा उन्होंने 'ग्यारह सपनोंके देश' में। एक ही 'क्रिया' का फल भी उन्होंने कितने दिन बाद देखा! सो मीनल गर्भवती हो गयी!

अब मुद्राराक्षसजी कहते हैं कि यह वाक्य पढ़ते ही उन्हें लगा कि सफलता मिल गयी!

वे अपने 'उकताहट भरे खण्ड' के बाद जहाँसे 'दिलचस्प खण्ड' प्रारम्भ करते हैं, कहते हैं कि "राजेन्द्र यादवने पात्रोंकी असामयिक हत्याओंका श्रीगणेश प्रारम्भ कर दिया।" भाई! ऐसा क्यों कहते हैं? हत्या क्या शरीरकी ही होती है? नागर पहले ही कुन्तलकी हत्या कर चुके थे। राजेन्द्र यादव तो 'सृजन' के पथपर थे! 'युग' की समस्या 'सुलझा' रहे थे! एक 'अनुचित प्रणय' के बिना जब 'वास्तविक उपन्यास' अधूरा था, तब 'कथा निर्वाह' के लिए थोड़े ही यादवने मीनल-विपिन काण्ड कराया? वह तो 'फिनिश्ड प्रोडक्ट' का मामला था! माचवेने उस 'प्रोडक्ट' को सामने रखा। मनुस्मृतिमें ठीक लिखा ही है कि नारीका और हो भी क्या? रेखा, सावित्री, मृणाल—और हों तो वे भी—नखशिख वर्णन—नायिका भेदके प्रकारान्तर! परन्तु रेखा, सावित्री, मृणालमें कुछ और भी था! वह भी देखा?

मेरी मीनलमें व्यक्तित्व था। वह औरोंके लिए 'समस्या' बन गया।

'एनालिटिकल सिम्बॉलिज्म' का यत्न तो हुआ, पर हुआ वह 'बॉय-लॉजिकल डिफ़ीटिज्म !'

मेरा सपना ऐसा नहीं था, पर मुझे आगे इतने दुःस्वप्नकी भी आशा नहीं थी। हो सकता है कि यह दुःस्वप्न न हो ! पर मुझे तो लगता है। पाठक बतायें कि उन्हें इस उपन्याससे क्या मिला ?

मैंने शोभनको जगाया था। एक व्यक्ति जो अपनी पत्नी, अपने परिवारके प्रति मन-ही-मनमें स्वार्थसे बँधा है। बहनकी सच्ची बात नहीं पचा सकता। पुरुष है वह, जो जानता है कि आर्थिक मजबूरीके बिना स्त्रीको झुकाया नहीं जा सकता। मीनल स्वतन्त्र है। वह क्या करे ? बड़ा गम्भीर है वह, पर दायरेके भीतर ?

यह सहयोगी प्रयोग तो सफल हुआ, पर उपन्यास नहीं। हिन्दीके लेखकोंने क्या प्रमाणित किया ? मध्यवर्गकी स्त्रीके दो रूप हैं। एकमें वह व्यभिचारिणी है, दूसरेमें वह "काम पिपासासे भूखी" है। यह 'विजन मैन', यह 'एनालिटिकल सिम्बलिज्म' यह सब कहाँ केन्द्रित हुए ? मीनलके गर्भमें। 'विज़न मैन' महोदय तो यह पसन्द ही नहीं करते कि नारी गर्भवती हो। वे तो चाहते थे कि 'नायिका' की मातृत्वकी भूख बनी रहे। यह क्या हुआ कि मीनल घर लौट गयी ! पराजित हो गयी तो भी क्यों लौटी ? उसे तो 'विजन' को चलाते रहना चाहिए थे !

क्या हम ऐसे समाजमें रहते हैं जहाँ मानवीय मूल्य बिलकुल समाप्त हो गये हैं ? क्या मध्यवर्गकी स्त्री सचमुच ऐसी है ? क्या शोभन गोदानके मेहतासे अच्छा नहीं बन सकता था ? क्या रोहित जीवनका अच्छा रूप नहीं ला सकता था ? क्या कुन्तल एक अच्छी स्त्री नहीं बन सकती थी ? क्या मीनल नारीकी कुण्ठाओं, सामाजिक अवरोधोंमेंसे निकल कर पढ़ी-लिखी स्त्रियोंके लिए मार्ग नहीं दिखा सकती थी ? पाठक न्याय देंगे। नारी के लिए क्या कोई स्वस्थ तरीका नहीं है कि वह क्या करे ? क्या उसका विवाह केवल कामपक्षकी पूर्त्ति है ? मीनल पहले तो काम-पिपासित नहीं

थी। क्या इतने दिन बिना शादीके रहनेवाली औरत और कुछ कर ही नहीं सकती ? इस देशमें क्या स्त्रीका एक ही 'यथार्थ' रह गया है ? बोलो भारतकी नारियो ! रामचन्द्रजीके इन धार्मिक भक्तोंसे पूछो तो सही ! वह आदिम अग्नि जो अब इतनी विराट अभिव्यक्ति पा रही है, क्या सेक्स उसका अन्त है 'स्पुतनिक' उड़ानेसे ही क्या आधुनिकता आ जाती है ?

अन्तमें यही कहूँ कि हमारा सहयात्रित्व हर हालतमें इस प्रयोगसे सफल हुआ है। और यह प्रमाणित होता है कि हम सब उस समाजके प्रति उत्तरदायी हैं, जो हमारे स्वप्नोंको संस्कृतिका स्वप्न समझता है। क्या इस उत्तरदायित्वका निर्वाह हो पाया है ?

मैंने दिखाया था कि आर्थिक रूपसे स्वतन्त्र नारी ही मानवीय मूल्योंके लिए खड़ी हो सकती है। मैंने बताया था कि विवाहका परिवारीय स्वार्थ आज सत्यको रोक भी लेता है, मैंने बताया था कि पद और गौरवको लेकर व्यक्ति आज समाजकी विषमताओंमें नये मानदण्डोंके लिए भटक रहा है। मैं इन्हींका विकास चाहता था कि यह सपने समाजके काम आयें,पर वे कहाँ गये ? पाठक स्वयं देख लें। मैंने मीनलसे—आर्थिक रूपसे स्वतन्त्र नारीसे घर छुड़ाया था कि वह 'कुछ करे।' जो उससे 'कराया' गया, वह आप देखिए। मैंने सरकारी नौकर रोहितको 'मनुष्यत्वकी ओर' बढ़ाया था, विचारेको ईसामसीहकी तरह मारकर भी जिलाया गया, मगर इसमें लाभ क्या हुआ ? मैंने कहानी जहाँ छोड़ी वहाँसे आगे नहीं बढ़ी। मेरे बाद सम्भोग और हत्या, घुटन और प्रत्यावर्त्तन ! अन्तमें मीनल जहाँकी तहाँ लौटा दी गयी, रोहित जहाँके तहाँ रहे ! मेरा हरीन्द्र चला गया क्योंकि भट्टने मुझे ऐसा हरीन्द्र दिया था जो दयापर नहीं पलना चाहता था। शायद भट्ट उसे फिर लोक जीवनमें ले जाते, यदि उन्हें मौक़ा दिया जाता। पर जोशीजी उसे शान्तिके लिए ले गये पहाड़, जहाँ शान्तिका रास्ता एक ही था, एक प्रणय लीलाको देखकर घुटते रहना !

शुरूके तीन सपने थे, बाक़ी दुःस्वप्न। केवल लक्ष्मीचन्द्र जैन और

कृष्णा सोबतीने फिर यत्न किया कि इसे सपना बना दें, पर वे इसमें सफल नहीं हो सके। मुद्राराक्षस यह तो समझ गये कि सपना ग़लत हो रहा है, कोशिश भी की कि रोहित जी उठे, परन्तु निर्वाह नहीं कर सके। अन्तमें मीनलको उसी घरमें भेज दिया गया, जहाँके तहाँ। सपनेका अन्त हो गया। गेरे आगे उपन्यास ही समाप्त हो गया, क्योंकि उसमें कुछ भी 'स्वस्थ' नहीं रहा।

: ४ :

डॉ० प्रभाकर माचवे

आग्रह है कि चूँकि 'ग्यारह सपनोंके देशमें' वाली टीममें एक 'एक्स्ट्रा'—शायद एक प्रस्तावित व्यक्तिने एक अध्याय नहीं लिखा, अतः मुझे ऐन वक़्तपर पकड़ा गया, हिन्दीके एक क्षिप्र (क्षिप्रातटपर बारह बरस भाड़ झोंकनेसे इसका सम्बन्ध नहीं है) परन्तु शीघ्र-फलदाता लेखकके नाते पत्र मिला और सब पूर्व अध्याय (शायद सात या आठ) मैं पढ़ गया, जल्दी-जल्दीमें मैंने एक अध्याय लिख भी दिया—का काम मैंने किया है, तो अब, क़ैफ़ियत भी पेश करूँ कि मैंने मोनलको ऐसे क्यों बनाया, वैसे क्यों नहीं, और हरीन्द्र और अन्य चरित्रोंके साथ क्यों न्याय या अन्याय होने दिया, इत्यादि-इत्यादि। मेरा उत्तर कुछ हल्के-फुल्के ढंगपर यों है :

लेखनकर्म हर सृष्टिकी भाँति एकान्त, एकाग्र, एकात्म कर्म है! परन्तु यहाँ एक-पर-एक—ग्यारह लेखक जुटकर नया 'बारह खम्भा' रचने जा रहे थे। 'प्रतीक'में जब यह प्रयोग किया गया था—१४, फीरोज़शाह रोडवाली पहली प्लैनिंग-सभामें मैं था। चन्द्रगुप्तजीने पहले लिखनेके लिए 'हाँ' कहा था—बादमें उन्होंने नहीं लिखा, 'अज्ञेय'ने दो अध्याय लिखे—फिर भी 'बारह खम्भा' पूरा नहीं हुआ, नहीं हुआ। उस सिरीजमें भी मैंने एक अध्याय लिखा था।

इससे पहले भी ऐसे एकत्रित लेखनके प्रयोग अन्य भारतीय भाषाओंमें हो चुके हैं। हिन्दीमें तीन व्यक्तियोंके मिलकर लिखे हुए उपन्यास तो थे, पर 'ग्यारह सपनोंके देशमें' दस लेखक (प्रथम-अन्तिम एक ही व्यक्तिके लिखे हुए अध्याय हैं) एक जगह आये—यह हिन्दीके हक़में अपने-आपमें अभि-

नन्दनीय वस्तु है। हिन्दी या किसी भारतीय भाषामें लेखक तभी एकत्र आते हैं, जब भोज, चायपार्टी या सामूहिक दक्षिणा-प्राप्ति (कवि-सम्मेलन या रेडियो समारोहादि) होती है। अन्यथा भला दो समकालीन और समवयस्क लेखक (जो एक गुटके न हों) एकत्र कैसे और क्यों और किस लिए आ सकते हैं ? और अगर किसी योगायोगसे, प्रसंगोपात्त एकत्र आ भी गये—या एक ग्रन्थमें एक साथ छप भी गये, तो फिर वे एक 'वादी' में बँध गये (वादी मराठीमें बैलके नाकमें डालने वाली नकेल ('न' नहीं) को भी कहते हैं।) जैसे तार सप्तक (और मेरा विश्वास है कि अगले दो सप्तकोंके भी) के कवि एक गुट, विश्वास, वाद, मत या सम्प्रदायके नहीं, वैसे ही 'ग्यारह सपनोंके देश'मेंके लेखकोंमें भी वैविध्य बहुत अधिक है। उदयशंकरजी भट्ट अब सत्तरा रहे हैं; इलाचन्द्रजी भी षष्ठ्यब्दिपूर्ति के निकट ही हैं; रांगेय राघव और मैं (दोनों अहिन्दी-भाषी लेखक) हम-उम्रसे हैं, धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादवादि हमसे वयमें कम हैं, 'मुद्रा-राक्षस' शायद सबसे छोटे''''। आयुका साहित्य-चिन्ता और साहित्य-सृजन-शक्ति और साहित्य-विषयक 'प्रतिमानों'के निर्णयमें बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है''''मेरी शिकायत यह है कि यद्यपि कलकत्तेके ही तीन लेखक इस 'दशक'में आ गये—उन्हें शायद 'प्लैनिंग'का मौक़ा भी मिला हो—फिर भी "सपनों अपुनों न भयो !"

मेरी दृष्टिमें सबसे कलात्मक अंश कृष्णा सोबतीका लिखा हुआ है—उनकी तूली सौम्य और सूक्ष्म है, उनके वर्णन हलके और सधे हुए। जापानी चित्रोंका-सा मार्दव उनके यहाँ है।

उसके बाद धर्मवीर भारतीने अपना कार्य पूरा किया है—उनके आरम्भिक अंशके कुछ स्थल और अन्तिम अंशमें पत्रादि अपने-आपमें स्वयम् पूर्ण, सुन्दर साहित्यिक कृतियाँ हैं। अमृतलाल नागरका अंश भी जमा हुआ था।

अन्य सभी अंश कमोबेश असफल हैं। इलाचन्द्र जोशी और उदयशंकर

भट्ट तो मूल कथासे दूर जाकर नये पात्र, वातावरण, नये विषयोंकी सृष्टिमें रस लेते नज़र आते हैं। रांगेय राघवने अनावश्यक फ़लसफा छाँटा है। राजेन्द्र यादवके पास कथा कहनेकी आकर्षक शक्ति है, वह पाठकको अपने साथ ले जा सकती है; परन्तु उनकी औपन्यासिक स्त्री-रचनाके भीतर कोई 'कुलटा' छिपी है, एक विकृत यौन-ग्रन्थिके प्रकृतिवादी आग्रहसे ग्रस्त— मुझे उनके अंशसे शिकायत है। वे चाहते तो कथाको, और दूसरी सशक्त धारा दे सकते थे! उन्होंने कथाको सनसनीखेज बनाया—सस्ता कर दिया।

हमारे मित्र 'मुद्रा-राक्षस'के नामका प्रथमपदाक्षर सही है। उनके लेखन-में एक 'मुद्रा' (पोज़)—चमत्कृत करनेकी प्रबल इच्छा विद्यमान रहती है—भाषा, वाक्यगठन, कथोपकथन सबमें—हर किशोर लेखकमें ऐसा थोड़ा-बहुत आस्करवाइल्डपन, अभिव्यंजनावादी महत्त्वाकांक्षा होती ही है। परन्तु वह प्रसुप्त होनी चाहिए। लक्ष्मीचन्द्रजीने तो पात्रोंको एकदम 'कठ-पुतलियाँ' बना डाला।

····और ऐसे समय मेरी परीक्षाकी बारी आयी। बम्बईमें लाकर उन्होंने नायिकाको छोड़ दिया। उस समुद्रमें जहाँ भँवर नहीं है, उस लोकालयमें जहाँ एकान्त नहीं है, उस महासृष्टिमें जहाँ 'सृष्टि' यान्त्रिक है!

नारीके प्रति हिन्दी उपन्यास-लेखकके इस 'देवि-माँ-सहचरि-प्राण!' वाले छायावादी, 'अर्द्धेक स्वप्न, तुमि अर्द्धेक कल्पना!' (रवीन्द्र) जैसी प्रवृत्तिसे बहुत झल्लाहट होती है। कुछ शरद बाबूकी कृपा; कुछ हिन्दी भाषी प्रदेशमें नारी-शिक्षाकी कमी—नारीके प्रति स्वस्थ, समान भावसे विचार कम हुआ है। या तो वह एकदम अतिमानवी है या एकदम सहानु-भूतिकी वस्तु। मैं इस उपन्यासमें उसे यथार्थकी भूमिपर उतारना चाहता था। पहले ही वाक्यमें मैंने पाठकोंका स्वप्न-भंग किया और कहा कि समस्याको सीधे मुँह पकड़ो—वह यह है कि एक स्त्री है, निराधार है—

गर्भवती है !—उसके दुःखकी कारण-सरणिका अन्वेषण व्यर्थ है; मुख्य प्रश्न उसके दुःखको दूर करनेका है।

पहले इच्छा हुई कि मीनलकी भेंट में एक-एक करके सर्वश्री धर्मवीर भारती, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, उदयशंकर भट्ट, इलाचन्द्र जोशी, राजेन्द्र यादव, मुद्राराक्षस, लक्ष्मीचन्द्रजी जैनसे करा दूँ और उनकी इण्टर-व्यू लिख डालूँ। मैं जानता था कि ऐसा साहस मैं करता भी तो एक तो यह सब लेखक बुरा मान जाते, 'ज्ञानोदय' उस अध्यायको छापता भी नहीं—अतः मैंने एक 'टाइप' प्रतिनिधि हिन्दी गीतकार, कहानीकार, सिनेजगत्से पिटे-पिटाये प्राणीकी ऊहा की। शायद इस व्यंगचित्रसे भी कई लोग नाराज हों, कई बार अनावश्यक रूपसे कहानी-उपन्यासके चरित्रोंमें 'मुकुरता' अनायास निर्मित हो जाती है ! लेखकका दोष नहीं, काँचके पीछे लगे पारेका दोष है !

फिर दूसरी चीज़ मैंने जो सोची वह यह थी कि मीनलकी समस्या अवैध गर्भधारणको—या बृहत्तर परिपार्श्वमें पापके प्रश्न ('प्राब्लेम आफ सिन') को उन सब पात्रोंके सामने एक-एक कर रखूँ और उनके द्वारा जितने सम्भव हल थे—असहानुभूति, उपेक्षा, समस्याको टालना, उसके जड़वादी हल, उसके आदर्शवादी हलको सामने रखूँ। खेद है कि मेरे अध्यायके बाद उपन्यासके सूत्र ऐसी भद्र महिलाके हाथमें चले गये जिन्होंने मेरे उठाये प्रश्नोंको नज़र-अन्दाज़ कर दिया; या कहूँ कि समस्याके अन्तर्वर्त्ती रूपपर बल दिया ! मेरी मीनलकी समस्या 'जस-की-तस' रही।

कहा जा सकता है कि उपन्यासका मुख्य विषय यह नहीं था। आख़िर 'सपनोंका देश' था ! हलके-हलके रंगोंमें कुहरिल रोमैण्टिक वातावरण ही बना रहता तो क्या बिगड़ता ? सब पात्र एक-दूसरेसे प्रेम करते, एक-दूसरेके प्रति आसक्त होते, धीरे-धीरे एक दूसरेसे दूर हो जाते ! कोई ऐसा क्षण ही नहीं आता, जिसे अस्तित्ववादी परिभाषामें 'एंगाजे' कहते हैं। मैं वह क्षण

लाना चाहता था—स्थानाभाव था; मैंने उसे पोस्टर-शैलीमें, बहुत 'शॉकिंग' ढंगसे प्रस्तुत किया—इच्छा मेरी यह थी कि उपन्यासके पात्र जिस मुख्य समस्याके आस-पास सतही ढंगसे पहलेके अध्यायोंमें मण्डरा रहे थे—उससे सीधे टकराते! वह समस्या मुँह बाये सामने आ जाती—खड़ी हुई, सुरसा-सी। क्या यह सब पात्र स्त्रीके शक्ति तत्त्वके साथ खिलौनेकी तरह पेश आना चाहते हैं? आद्यासे अधिक नारीके आदिमाता रूपका उन्हें भान नहीं है? वही बीज मैंने उपस्थित किया था। सम्भव था कि यदि मेरे बादका अध्याय और कोई लिखता—उपन्यासकी रेखाएँ और ही दिशामें मुड़ जातीं!

अन्तर्कथा और विचार-वस्तुका पक्ष छोड़ भी दें तो उपन्यासकी जो हालत मेरे अध्यायके पहले हो गयी थी, वह पूरे 'जिग-सॉ' पज़लवाली यान्त्रिक दशा थी। पात्र थे कि उनमेंके प्राण-तत्त्व जैसे निचुड़ गये थे—लेखक उन्हें मनमानी दिशामें ले जा रहे थे। पात्रोंके विकासका, उनके स्वतन्त्र बढ़ने-उगने-फ़लने-फूलनेका अपना तर्क होता है—न मुद्रा-राक्षस उसे जानते दिखे, न लक्ष्मीचन्द्र जैन!

स्वातन्त्र्य 'सृष्टि' की दूसरी शर्त है। जैसे एकान्त, एकाग्रता, एकात्मता (जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है) पहली।

इस प्रयोगसे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचे कि खेती चाहे सहकारी या सांघिक ढंगसे साझेकी हो जाय; आँगनकी बाग़वानी (किचन-गार्डनिंग) के ढंगपर साहित्य-रचना या कला-सृष्टि असम्भव है।

दो तरहकी चिन्ता-धाराएँ विश्वमें हैं: एक चाहती है, एकान्तिक 'कन्फार्मेटी', 'हाँजीहाँजीपन', अन्ध श्रद्धा, मेरा-दल-ही-सब-से-सही, 'मामेकं शरणं व्रज' 'तुमसे-मैं-अधिक-पवित्र हूँ'! दूसरी चाहती है—प्रत्येक मानव-चिन्मय-कणकी सम्पूर्ण मुक्ति, एकसे दूसरेकी विशिष्टताका समादर, चाहे फिर वह 'लघु मानव' ही क्यों न हो! प्रथम विचारधारा मानवको साधन मानती है; ऊपरसे तो वह प्रयोगवाद, अतियथार्थवाद, अर्द्धचेतनवादकी

विरोधिनी है—परन्तु वह बदलेमें जो चीज प्रतिष्ठित करना चाहती है वह एक भिन्न प्रकारकी अन्ध-नियतिवादी विचारधारा है; चाहे 'नियति' का स्थान 'ऐतिहासिक निश्चयवाद' ले ले या 'आर्थिक अनिवार्यता'। दूसरी विचारधारा सब प्रकारके सांघिक, संघबद्ध, संघात्मक, सांघातिक चिन्तन की विरोधिनी है। वैसे संघबद्ध लेखनमें समस्याके तल तक जाना—नैतिक जिम्मेदारी लेना असम्भव है—सब एक दूसरेपर अपनी अनैतिकता टालते-लादते चले जाते हैं—वहाँ आक्रमण भी मुक्तिदान लगने लगता है!

दूसरीके हिसाबसे मीनल, हरीन्द्र, रोहित, कुन्तल सबका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। उन्हें 'अनुशासित करने' की कोई आवश्यकता नहीं। मुझे लगता है कि कृष्णा सोबती या अमृतलाल नागर जैसे सब लेखक पात्रोंके प्रति सहानुभूति उँड़ेलते, अपने आपको पात्रोंपर प्रक्षेपित न करते तो यह उपन्यास और सफल होता!

इस वक्तव्यसे स्पष्ट है कि मैं अपने अंशसे सन्तुष्ट नहीं हूँ। उपन्यासकी असफलतामें मैं भी 'सह'-भागी हूँ!

: ५ :

—डॉ० धर्मवीर भारती

नहीं जानता कि समापन अध्याय लिखनेके बाद अब कहनेको क्या शेष रहा। मेरे ख़्यालमें तो जो सचमुच सफल कथाकृति होती है वह अपनी पूरी-पूरी बात, सर्वश्रेष्ठ ढङ्गसे रसग्राही पाठक तक पहुँचा देती है। उसके बाद लेखकके अपने लम्बे-चौड़े बयानके लिए कोई गुंजाइश नहीं। इसीलिए जो बात कहानीके माध्यमसे बहुत मर्मस्पर्शी ढङ्गसे कही जा चुकी है उसीको दोहराना, या उसीकी व्याख्या करना, मुझे निहायत ग़ैरज़रूरी लगता है। हाँ, अच्छा लगता है उन दिनोंको याद करना जब यह समापन अध्याय लिखा गया था।

जहाँ तक मुझे याद है लगभग यही दिन थे। हवामें ठण्डक आ चुकी थी, सुबहके वक़्त लान ओससे भीगे रहने लगे थे, धूप अच्छी लगने लगी थी। वही दिन अब फिर हैं और जब इस उपन्यासकी बात उठी ही है तो किसी भी रूखे-सूखे बहस-मुबाहसेमें पड़ना बिना बातकी कोफ़्त लगता है। अच्छा यह लगता है कि अगर फ़ुरसत हो तो हल्की धूप-छाँवमें आराम-कुर्सी डाल कर बैठ जाया जाय और माथेपर, बरौनियोंपर धूपकी मन्द सुहावन आँचका एहसास करते हुए चुपचाप मीनल, रोहित, कुन्तल, शोभन, श्यामली, हरीन्द्रके बारेमें जो स्मृति-चित्र उभरें उन्हें अपने आप उभरने दिया जाय—बिना किसी भी तरह अपने व्यक्तित्वको उनपर आरोपित किये—बिना किसी भी तरह उनके स्वतन्त्र विकासमें अपनेको बाधक बनाये!

वैसे आपको एक बात बताऊँ! देखनेमें यह काम बहुत आसान लगता

हैं—पर असलमें उतना आसान है नहीं ! अपने पात्रोंके व्यक्तित्व और चरित्रको अपने आप उभरने देना और उसके सामने खुद अपनेको बिलकुल पारदर्शी बना लेना, कहीं भी अपने पात्रोंके नैसर्गिक व्यक्तित्वके विकासमें अपनी निजी धारणाओं, पूर्वग्रहों, इच्छाओं, कल्पनाओं, कुण्ठाओं, सिद्धान्तों या मतवादोंको क़तई आड़े न आने देना, उनके लिए अपने निजी व्यक्तित्वको बिलकुल पीछे फेंक देना—यह शायद कथा-सृजनकी प्रक्रियामें सबसे जटिल, सबसे दुस्साध्य काम होता है। कथाकारके लिए यह पथ बिलकुल 'क्षुरस्य धारा' समझिए। पर हाँ, अगर वह इनका निर्वाह कर ले गया तो उसके पात्र जी उठेंगे, फिर वे अपना सङ्कट झेल ले जायेंगे, अपनी बात कह ले जायेंगे, फिर उनका पक्ष लेकर कथाकार खुद बोले या उनकी आड़से कथाकार बेला-कुबेला बोल-कुबोल बोलता रहे, इन दोनोंकी कोई ज़रूरत नहीं पड़ती।

मैं यह नहीं कहता कि इस उपन्यासके लेखक समूहमें यह केवल मेरा रुख़ रहा है। नहीं, न केवल इस उपन्यासके लेखकोंका—वरन् समस्त कथा-साहित्यके अधिकांश लेखकोंका यही ढङ्ग रहा है जो उनके द्वारा उठाये पात्रोंको सप्राण बनाता रहा है, जो उनके द्वारा कही गयी कहानीको मर्मस्पर्शी बनाता रहा है। लेकिन बाहर भी, और इस उपन्यासमें भी कुछ कथाकारोंका एक पृथक् ढङ्ग भी देखनेमें आता है। वह ढङ्ग अच्छा है या बुरा, यह तो नहीं जानता, पर पृथक् ज़रूर है। वे कथाकार केवल कोरे कथाकार नहीं होते, उनमें एक व्यावहारिक बुद्धि नामकी चीज़ भी होती है। मसलन उनका नज़रिया यह रहता है कि अगर एक पात्र मिला ही है और उसका कुछ और उपयोग भी हो ही सकता है तो लगे हाथ वह उपयोग भी क्यों न कर लिया जाय। प्रतिभाकी उनमें कमी नहीं। और नतीजा यह कि फिर पात्रोंके बड़े-बड़े मौलिक उपयोग ढूँढ़ निकाले जाते हैं। उनको पात्र मिले—रोहित, मीनल, शोभन, हरीन्द्र—कि उन्होंने बाजी बिछा दी—खाने गिने और मोहरोंकी तरह उन्हें सजा दिया। और फिर

इसको ढाई घर चला, उसको दो घर, इसे बायें खिसकाया, उसे दायें धकेला, और इसको यों मारा और उसको यों धमकाया और फिर यह शह और वह लीजिए मात ! एक अच्छी खासी शाम भी कट गयी और वास्तविकतामें न सही तो कल्पनामें सही—एक दुश्मन भी खेत रहा। कुछको यह मारकाट पसन्द नहीं। उनके लिए पात्रोंका दूसरा उपयोग है। उन्हें शोभन, रोहित कोई पात्र हाथ लगा कि उन्होंने हथौड़ी उठायी और पात्रको खूँटीकी तरह गाड़ दिया। उसके बाद अपनी धारणाएँ, विचार, राजनीति, शास्त्र-ज्ञानके सारे लबादे (जिनके बोझसे उनका मन ऊब चुका है) उतारे, आरामसे खूँटीवत् पात्रपर टाँग दिये और चैनकी साँस ली। कुछ हैं जिन्हें यह सब भी सन्तोष नहीं देता। इन बारीकियोंमें खाहमखाह वक़्त गँवानेसे फ़ायदा ? वे सीधे-सीधे पात्रको उठाते हैं—जैसे गुहाचित्रोंका योद्धा शिकारी अनगढ़ पत्थरके ढोंकेको उठाता है—और उसे बेझिझक जिससे वे नाखुश हैं उसके सिरपर दे मारते हैं। अब चाहे वह कोई सिद्धान्त हो, या कोई वर्ग हो या कोई समकालीन लेखक हो (जैसे नवम अध्यायमें बेचारे इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर या उदयशंकर भट्टका अकारण अप्रासंगिक उल्लेख !)—एक पत्थरमें सब चकनाचूर !

मैं यह पहले कह चुका हूँ कि इस उपन्यासमें भी कम ही स्थल ऐसे हैं जहाँ पात्रोंका या कथा-स्थितियोंका ऐसा व्यावहारिक उपयोग हुआ है—पर जहाँ-जहाँ हुआ है वहाँ अक्सर पाठकोंको नीरसता, अतिशय बौद्धिकता, अस्वाभाविकता या कथाके बिखरावकी शिकायत हुई है। वैसे कम-से-कम मुझे, बतौर एक पाठकके, ऐसे स्थलोंमें भी रस मिला है, खास तौरसे तब, जब शब्दजालके पारसे इसकी झलक मिलने लगी कि लेखक पात्रों और परिस्थितियोंको अपने किस व्यावहारिक उपयोगमें लाना चाह रहा है।

इसीलिए इन स्थलोंको भी मैंने अपनी बात कहने या कथाके सूत्रको फिरसे उठानेमें भी विशेष बाधास्वरूप नहीं पाया। न कुछ अन्य लेखकोंकी भाँति मुझे इसीका गिला है कि दूसरे लेखकोंने कथाको उस तरह क्यों नहीं

बढ़ाया जैसा मैंने संकेत दिया था, या किसी विशेष पात्र या स्थितिके प्रति उसका 'एप्रोच' वही क्यों नहीं रहा जो मैंने अपने अध्यायमें रक्खा था। ज़ाहिर है कि यह उपन्यास एक सम्मिलित प्रयास था और जब इसमें आप अपने अतिरिक्त दूसरोंको सम्मिलित मानते हैं तो उन्हें भी अपना 'एप्रोच', अपनी दृष्टि, अपना परिप्रेक्ष्य रखनेकी पूरी छूट देते हैं। फिर इसमें गिला और शिकवेकी गुंजाइश कहाँ?

इस बातको ज़रा और बारीकीसे अगर समझनेकी कोशिश करें तो कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षोंपर प्रकाश पड़ेगा। अन्य उपन्यासोंके सृजन और 'ग्यारह सपनोंके देश' के सृजनकी समस्याएँ थोड़ी पृथक् थीं। अन्य उपन्यास किसी एक लेखककी सर्वथा निजी सृजन-प्रक्रियाकी एकान्त परिणति होते हैं। पर यह उपन्यास एक सम्मिलित प्रयास था। स्पष्ट है कि इसका अपना एक दूसरा अनुशासन भी था (उसका निर्वाह हुआ या नहीं यह और बात है!) तथा इसमें एक लेखकके सृजनका धरातल, विस्तार और दिशा, शेष सभी लेखकोंके सृजन, धरातल, विस्तार और दिशाको प्रभावित करती चलती है, और स्वयम् शेष सबोंसे प्रभावित होती चलती है। इसीलिए इस प्रकारके सृजनकी वैयक्तिक सृजनसे पृथक् कुछ अपनी समस्याएँ होती हैं और उन्हें ध्यानमें रखना बहुत ही आवश्यक था। पर वे समस्याएँ थीं क्या?

बात साफ़ ढंगसे सामने आ सके, इसके लिए एक बुनियादी सवालसे शुरू करें: जब एक व्यक्ति ज़्यादा गठा हुआ ज़्यादा सूत्रबद्ध उपन्यास लिख सकता है तो आखिर यह सम्मिलित सहयोगी कथा-सृजनकी योजना क्यों? इसका अभिप्राय क्या? यह भानमतीका कुनबा जोड़ा ही क्यों जाय? क्या केवल पत्रिकामें एक सनसनीखेज स्तम्भ बढ़ानेके लिए? या साहित्यिक पत्रकारिताकी एक बौद्धिक क्रीड़ा मात्र? या इसके पीछे कोई गम्भीर साहित्यिक उद्देश्य भी हो सकता है जो कलाके सृजनात्मक धरातलका कोई महत्त्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित कर सकता है?

मैं नहीं जानता कि इस योजनामें सम्मिलित होते समय लेखकोंने इस

दिशामें सोचा था या नहीं ? उन्होंने अपनेसे, या आयोजकोंसे इस योजनाका लक्ष्य पूछने और उसकी सार्थकता जाँचनेकी कोशिश की थी या नहीं ? मुझे तो बहुत आश्चर्य हुआ जब इसमें जो सम्मिलित थे—ऐसे एकाध दूर-दर्शी लेखकोंने यह भी घोषित किया कि वे पहलेसे जानते थे कि ऐसी योजनाएँ महज खामखयाली हैं। आखिर 'प्रतीक' इस दिशामें असफल हो ही चुका था आदि-आदि ! मैं नहीं जानता कि ऐसी घोषणा करनेवाले जब पहले ऐसी योजनाओंकी निष्प्रयोजनता जानते थे तब वे इसमें सम्मिलित क्यों हुए ? क्या बिना विचारे ही पहले सम्मिलित हो गये और बादमें उन्हें याद आया कि ऐसी योजनाएँ निष्प्रयोजन और अवश्य असफल होनेवाली होती हैं ? क्या हर विवेकशील धैर्यवान् व्यक्तिका रास्ता यह नहीं है कि किसी भी योजनामें शामिल होते समय खूब अच्छी तरह उस योजनाको और अपनेको भी जाँच परख ले और उसमें कोई सार्थक प्रयोजन उसे दीखे तभी उसमें शामिल हो, अन्यथा उसे कोई विवश तो नहीं कर सकता !

वास्तवमें ऐसी योजनामें जबतक लेखक योजनाके प्रयोजन और उसकी उपयोगिता, तथा दूसरी ओर उसकी मर्यादाओं और सीमाओंको अच्छी तरह समझकर शामिल नहीं होता तबतक उसके योगका वास्तविक लाभ कथाकृतिको नहीं मिल पाता, और कभी-कभी उसकी प्रतिभा ऐसी भी दिशाओंमें उन्मुख होने लगती है जो दिशाएँ इस प्रकारके सम्मिलित सह-योगी लेखनके लक्ष्य और मर्यादाओंसे मेल नहीं खातीं। तो आखिर इस सम्मिलित कथा-लेखन योजनाका उद्देश्य था क्या ? साहित्यके इतिहासका कोई भी कुशल अध्येता यह जानता है कि किसी भी एक कालका कथा-साहित्य अपनी प्रवृत्तियों, धाराओं, स्कूलों, शैलियों और वादोंकी विविधताके बावजूद समकालीन यथार्थके प्रति एक ऐसी जागरूकताका परिचय देता है जो इन सबोंमें समान रूपसे उपलब्ध होती है। यही नहीं वरन् अक्सर ऊपरसे नितान्त विरोधी दीख पड़नेवाली ये प्रवृत्तियाँ, वाद और शैलियाँ एक विराट् सन्दर्भमें एक दूसरेकी पूरक भी सिद्ध होती हैं।

इस प्रकारके सम्मिलित उपन्यासका मूल उद्देश्य यही होता है कि समकालीन कई पीढ़ी, कई विचारधारा, कई शैलीके लेखकोंको एक सहयोगी कथा-सृजनमें सम्मिलित कर समकालीन लेखनका एक ऐसा Cross Section प्रस्तुत कर सके—जिसमें शैली, एप्रोच, परिप्रेक्ष्यका वैविध्य भी पाठकको ज्ञात हो सके—और उनकी पारस्परिक पूरकताका तथा समकालीन वास्तविकताके प्रति उनकी समान जागरूकताका भी आभास मिल सके। ज़ाहिर है कि किसी एक व्यक्तिके द्वारा लिखे गये किसी भी अच्छेसे अच्छे उपन्यासमें यह बात उपलब्ध नहीं हो सकती। पर यह भी स्पष्ट है कि एक व्यक्तिके लिखे उपन्यासमें जितनी एकसूत्रता मिलती है उतनी इस प्रकारके सहयोगी सम्मिलित प्रयासमें नहीं आ सकती। फिर भी जितनी एकसूत्रता आ सकती है उसके लिए ऐसी योजनाओंके हर लेखकको एक स्वतः आरोपित अनुशासन स्वीकार करके ही चलना पड़ता है। जितनी स्पष्टतासे लेखकके सामने योजनाका यह लक्ष्य रहता है उतनी ही गम्भीरतासे वह इस अनुशासनका निर्वाह कर सकता है।

यों 'ज्ञानोदय'के सम्पादकोंने अपनी मूल योजनामें एक और बात रखी थी जिसका निर्वाह हो पाता तो यह एकसूत्रता अपने आप भी बनी रहती। जहाँतक मुझे स्मरण है कि उन्होंने यह योजना बनायी थी कि जो पहला अध्याय लिखेगा वह अन्तिम भी लिखेगा, जो दूसरा लिखेगा वही दसवाँ भी लिखेगा, जो तीसरा लिखेगा वही नवाँ भी लिखेगा, जो चौथा लिखेगा वही आठवाँ लिखेगा, जो पाँचवाँ लिखेगा वही सातवाँ लिखेगा। केन्द्रीय अध्याय यानी छठवाँ अध्याय शायद मूल योजनाके अनुसार जैनेन्द्रको लिखना था और वह एक प्रकारसे कथानकका नाटकीय मोड़ होता। इस योजनाके अनुसार एकके अलावा सभी लेखकोंको दो अध्याय लिखने पड़ते—एक पूर्वार्द्धमें दूसरा उत्तरार्द्धमें। इससे अपने-आप एकसूत्रता ज्यादा बनी रहती और कथा भी अधिक अनुशासित रहती।

यह ठीक है कि इस पहली योजनाका निर्वाह नहीं हो पाया। फिर

भी यह प्रयोग पूरा हुआ और सफल भी हुआ। जो अभाव रह गये—वे आगेकी दिशाओंका निर्देशन कर सकेंगे। ऐसे सम्मिलित प्रयासोंका लक्ष्य, अभिप्राय, सम्भावनाएँ और सीमाएँ भी इस प्रयोगसे स्पष्ट हो सकीं, यह अपनेमें स्वयम् एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। पिछले प्रयासोंकी अपेक्षा इस प्रयासमें कुल मिलाकर अधिकांश लेखकोंने कथाके प्रति अपने दायित्वका कहीं ज्यादा निर्वाह भी किया। यह भी एक बहुत शुभ लक्षण है।

मैंने प्रथम और अन्तिम दोनों अध्याय लिखनेकी स्वीकृति तब दी थी जब योजनाका पहलावाला रूप था। जब उसका रूप बदल गया तब कई बार मैंने चाहा कि अन्तिम अध्यायके लिखनेसे मुझे बरी किया जाय। पर यह नहीं हो सका।

लेकिन यह असमंजस तभी तक था जब तक मैं कथाके बिखरे सूत्र फिर समेटनेमें नहीं लगा। एक बार, जब सभी अध्यायोंको एक साथ पढ़ा तो लगा कि अभी मीनल, कुन्तल, शोभन सभीको कुछ-न-कुछ कहना शेष है—बल्कि बहुत कुछ कहना शेष है। उन सबका श्रेष्ठतम तो लगता है अनकहा चला जा रहा है। यह बात मनमें आते ही उत्साह लौट आया और मैं लिखने बैठ गया। यही दिन थे—हवामें ठण्डक थी और धूप अच्छी लगने लगी थी।

और लिखकर खत्म किया वह अध्याय, तो लगा कि जिस भाव-भूमि पर पहुँचा हूँ वहाँ भी ऐसा ही खुशनुमा धूप है—सुनहरी उजराई हुई—ऐसी जिसमें हम सबका श्रेष्ठतम अंश, बाधित नहीं होता, पंख खोलकर धूपमें उड़ जाना चाहता है।

समापन-अध्यायका लिखना और मीनलकी कथाको ऐसी भावभूमिपर ले आना मनको बहुत अच्छा लगा, मनको बहुत मधुराई, बहुत पावनता दे गया। मेरे लिए यही उपलब्धि काफ़ी है।